प्रेमचन्द : घर में

लेखिका

शिवरानी देवी प्रेमचन्द

प्रकाशक

सरस्वती प्रेस बनारस

दो शब्द

पाठकों के सामने इस पुस्तक को रखते हुए मुझे वही सुख अनुभव हो रहा है जो एक आदमी को अपना कर्तव्य पूरा करने से होता है। इस पुस्तक को लिखने का उद्देश्य उस महान् आत्मा की कीर्ति फैलाना नही है, जैसा कि अधिकाश जीवनियो का होता है। इस पुस्तक में आपको घरेलू संस्मरण मिलेंगे पर इन संस्मरणो का साहित्यिक मूल्य भी इस दृष्टि से है कि इनसे उस महान् साहित्यिक के व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। मानवता की दृष्टि से भी वह व्यक्ति कितना महान्, किनना विशाल था, यही बताना इस पुस्तक का उद्देश्य है। और यह बताने का अधिकार जितना मुझे है उतना और किसी को नहीं, क्योंकि उन्हीं के शब्दों में हम दोनो 'एक ही नाव के यात्री' थे और हमने साथ-साथ ही ज़िन्दगी के सब तूफानो को झेला था, दुःख में और सुख में मै हमेशा उनके साथ, उनके बगल में थी। आदमी की पहचान तकलीफ के भँवर में पड़कर ही होती है और चूँकि हम दोनों साथ-साथ उन तकलीफो से लड़े, साथ-साथ रोये और हँसे, इसी लिए मुझे उनकी विशालता का थोड़ा-सा अन्दाज़ लगाने का मौक़ा मिला।

उनके प्रति और उनके असंख्य प्रेमियो के प्रति यह मेरी बेवफाई होती अगर मै उनकी मानवता का थोड़ा-सा परिचय न देती। मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक साहित्यिक आलोचको को भी प्रेमचंद-साहित्य समझने में मदद पहुँचायेगी क्योंकि उनकी आदमियत की छाप उनकी एक-एक पंक्ति और एक-एक शब्द पर है।

पुस्तक के लिखने मे मैने केवल एक बात का अधिक से अधिक ध्यान रखा है और वह है ईमानदारी, सचाई। घटनाएँ जैसे-जैसे याद आती गयी हैं, मैं उन्हे लिखती गयी हूँ। उन्हे सजाने का मुझे न तो अवकाश था और न साहस। इसलिए हो सकता है कही-कही पहले की घटनाएँ बाद में और

बाद की घटनाएँ पहले आ गयी हो। यह भी हो सकता है कि अनजाने ही मे मैने किसी घटना का जिक्र दो बार कर दिया हो। ऐसी भूलो को पाठक क्षमा करेगे।

साहित्यिकता के भूखे पाठको को, सम्भव है इस पुस्तक से कुछ निराशा हो क्योंकि साहित्यिकता मेरे अन्दर ही नही है। पर मेरी ईमानदारी उनके दिल के अन्दर घर करेगी, यह मैं जानती हूँ; क्योंकि मैने किसी बात को बढ़ाकर कहने की कोशिश नही की है गोकि तीस साल से ऊपर तक जिन्दगी के हर दुःख और सुख मे उनकी साथी होने के नाते मै जानती हूँ कि अगर उनके गुणो का बखान करने मे मै तिल का ताड भी बनाती, तो भी उनके चरित्र की विशालता का पूरा परिचय न मिल पाता। पर मैने तो सभी बाते, बगैर अपनी तरफ से कुछ भी मिलाये, ज्यों की त्यों कह दी हैं।

—लेखिका

समर्पण

स्वामी,

तुम्हारी ही चीज़ तुम्हारे चरणों में चढ़ाती हूँ।

इस तुच्छ सेवा को अपनाना।

तुम्हारी दासी या रानी

शिवरानी

प्रेमचन्द : घर में

प्रेमचन्द

शिवरानी देवी

शिवरानी देवी, चि० विनोदकुमार और प्रबोधकुमार
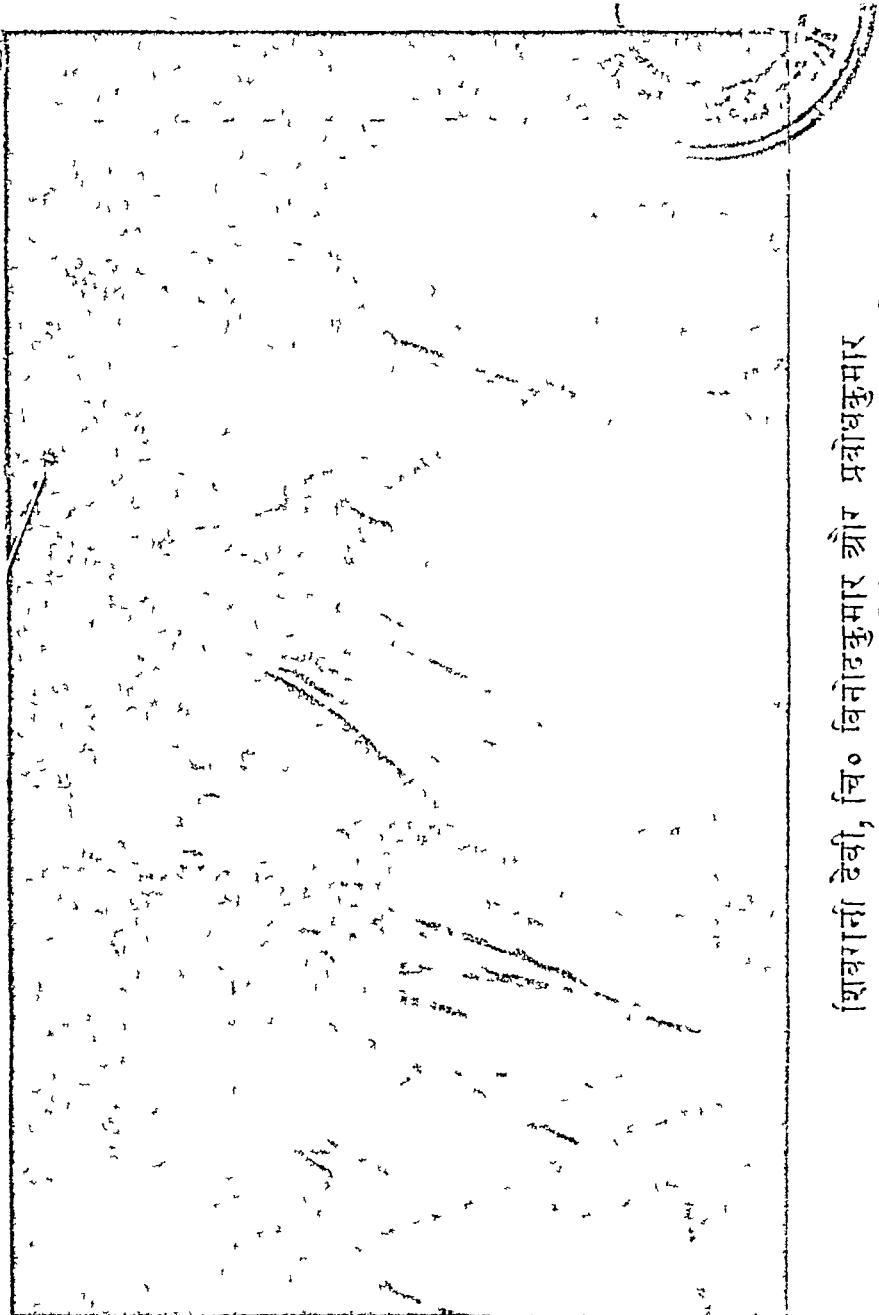
लडकी—कमला देवी और उसके बच्चे
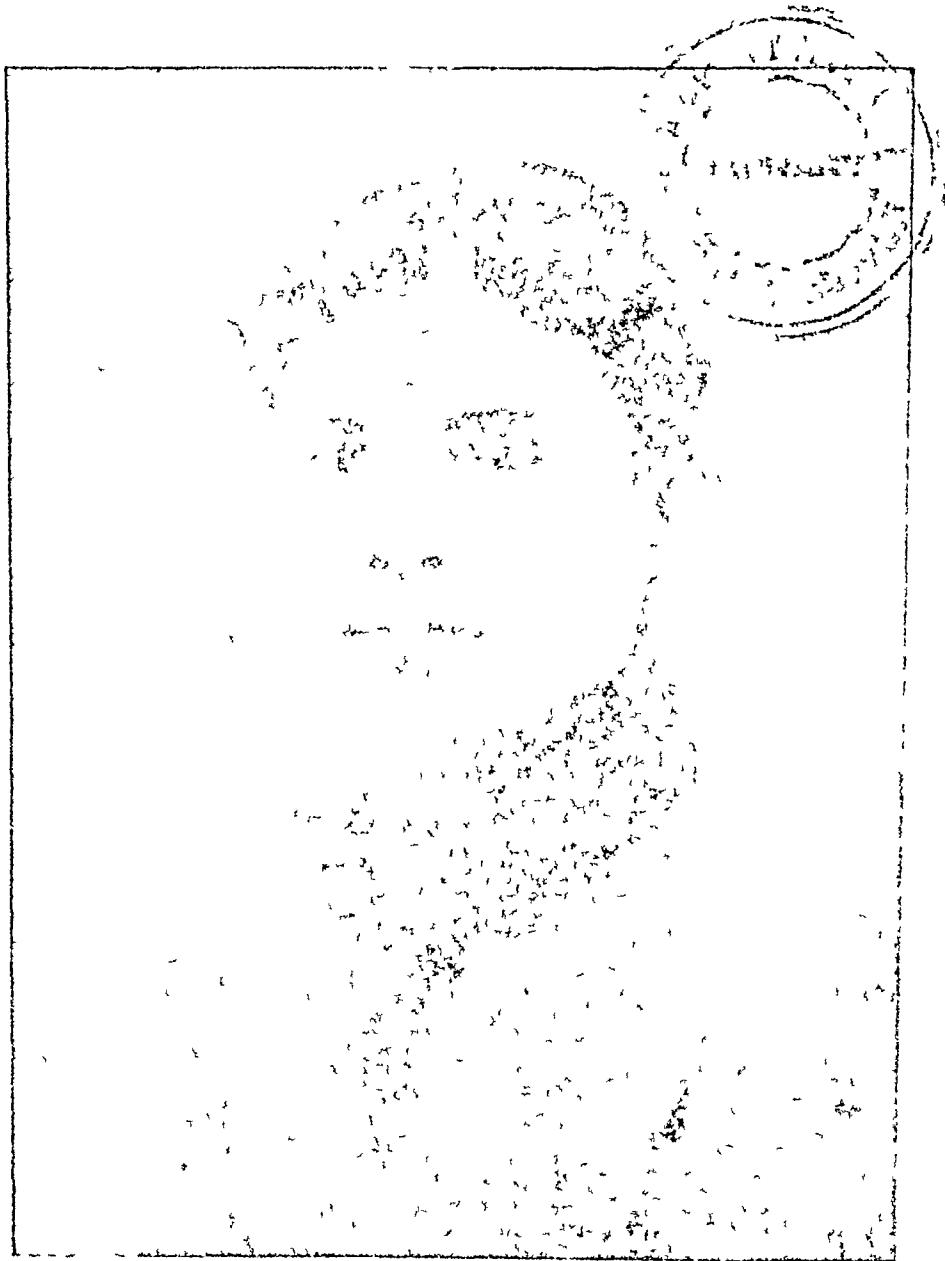
लड़का—श्रीपतराय

लड़का—अमृतराय

वह घर जहाँ प्रेमचन्द का जन्म हुआ

प्रेमचन्द का बनाया हुआ अपना घर

बचपन

आपका जन्म बनारस से चार मील दूर लमही गाँव मे सावन बदी १०, संवत् १९३७ (३१ जुलाई सन् १८८० ई०,) शनिवार को हुआ था। पिता का नाम अजायबराय था। माता का नाम आनन्दी देवी। आप कायस्थ दूसरे श्रीवास्तव थे। आपके तीन बहने थी। उनमे दो तो मर गई, तीसरी बहुत दिनो जीवित रही। उस बहन से आप ८ वर्ष छोटे थे। तीन लडकियो की पीठ पर होने से आप तेतर कहलाते थे। माता हमेशा की मरीज़ थीं। आपके दो नाम और थे—पिता का रखा नाम, मुंशी धनपतराय, चाचा का रखा हुआ नाम मुंशी नवाबराय। माता-पिता दोनो को संग्रहणी की बीमारी थी। पैदा होने के दो-तीन साल बाद आपको ज़िला बाँदा जाना पडा। आपकी पढाई पाँचवे वर्ष शुरू हुई। पहले मौलवी साहब से उर्दू पढते थे। उन मौलवी साहब के दरवाजे पर सब लडको के साथ पढने जाते थे। आप पढने मे बहुत तेज़ थे। लडकपन से आप बहुत दुर्बल थे। आपकी विनोदप्रियता का परिचय लडकपन ही से मिलता है। एक बार की बात है—कई लडके मिलकर नाई का खेल खेल रहे थे। आपने एक लडके की हजामत बनाते हुए बाँस की कमानी से उसका कान ही काट लिया। उस लडके की मा झल्लाई हुई उनकी माता से उलाहना देने आई। आपने जैसे ही उसकी आवाज़ सुनी, खिडकी के पास दबक गये। माँ ने दबकते हुए उन्हें देख लिया था, पकडकर चार झापड दिये।

माँ—उस लडके के कान तूने क्यो काटे ?

'मैने उसके कान नहीं काटे, बल्कि बाल बनाया है।'

'उसके कान से तो ख़ून बह रहा है और तू कह रहा है कि मैने बाल बनाये।'

'सभी तो इसी तरह खेल रहे थे।'

'अब ऐसा न खेलना।'

'अब कभी न खेलूँगा।'

एक और घटना है। चाचा ने सन बेचा। और उसके रुपए लाकर उन्होंने ताक पर रख दिये। आपने अपने चचेरे भाई से सलाह की जो उम्र में आप से बड़े थे। दोनों ने मिलकर रुपए ले लिये। आप रुपए उठा तो लाये, मगर उन्हें ख़र्च करना नहीं आता था। चचेरे भाई ने उस रुपए को भुनाकर बारह आने मौलवी साहब की फीस दी। और बाकी चार आनों मे से अमरूद, रेवड़ी वगैरह लेकर दोनों भाइयों ने खायी।

चाचा साहब ढूँढते हुए वहां पहुँचे और बोले—तुम लोग रुपया चुरा लाये हो?

आपके चचेरे भाई ने कहा—हाँ, 'एक रुपया भैया लाये हैं।

चाचा साहब गरजे—वह रुपया कहां है?

'मौलवी साहब को फीस दी।'

चाचा साहब दोनों लडकों को लेकर मौलवी साहब के पास पहुँचे और बोले—इन लड़कों ने आपको पैसे दिये हैं।

'हाँ, बारह आने दिये हैं।'

'उन्हें मुझे दीजिए।'

चाचा साहब ने उनसे फिर पूछा—चार आने कहां है?

'उसका अमरूद लिया।'

इस बात का उल्लेख करते हुए एक दिन उन्होंने अपने बचपन के बारे में ख़ुद सुनाया था—'चाचा अपने लडके को पीटते हुए घर लाये। मेरी शकल अजीब हो गई थी। मैं डरता घर आया। मां एक लडके को पिटता देखकर मुझे भी पीटने लगीं। चाची ने दौडकर मुझे छुडाया। मुझे ही क्यों छुड़ाया, अपने बच्चे को क्यों नहीं छुडाया, मै नहीं जान सका। शायद मेरी दुर्बलता-वश उन्हें दया आ गई हो।'

'अँधरा के पुल का चमरौधा जूता मैंने बहुत दिनों तक पहना है। जब तक मेरे पिताजी जीवित रहे तब तक उन्होंने मेरे लिए बारह आने से ज़्यादा

का जूता कभी नहीं खरीदा। और चार आने से ज़्यादा गज का कपड़ा कभी नहीं खरीदा। मैं सम्मिलित परिवार मे था, इसलिए मै अपने को अलग नहीं समझता था। मै अपने चचेरे भाइयों को मिलाकर पाँच भाई था। जब मुझसे कोई पूछता तो मैं यही बतलाता कि हम पाँच भाई है। मै गुल्ली-डण्डा बहुत खेलता था।

'जब मैं आठ साल का था, तभी मेरी माँ बीमार पड़ीं। छः महीने तक वे बीमार रहीं। मैं उनके सिरहाने बैठा पंखा झलता था। मेरे चचेरे भाई जो मुझसे बड़े थे, दवा के प्रबंध में रहते थे। मेरी बहन ससुराल में थीं। उनका गौना हो गया था। माँ के सिरहाने एक बोतल शक्कर से भरी रहती थी। माँ के सो जाने पर मै उसे खा लेता था। माँ के मरने के आठ-दस रोज़ पहले मेरी बहन आई। घर से मेरी दादी भी आईं। जब मेरी माँ मरने लगी तो मेरा, मेरी बहन का तथा बड़े भाई का हाथ मेरे पिता के हाथ मे देकर बोलीं—ये तीनो बच्चे तुम्हारे हैं।

'बहन, पिता तथा बड़े भाई सब रो रहे थे। पर मैं कुछ भी नहीं समझ रहा था। माँ के मरने के कुछ दिन बाद बहन अपने घर चली गईं। दादी, भैया और पिताजी रह गये। दो-तीन महीने बाद दादी भी बीमार होकर लमही चली आईं। मैं और भैया रह गये। भैया दूध में शक्कर डालकर मुझे खूब खिलाते थे; पर माँ का वह प्यार कहाँ! मै एकान्त मे बैठकर ख़ूब रोता था।

'पाँच-छः महीनों के बाद मेरे पिता भी बीमार पड़े। वे लमही आये। मै भी आया। मेरा काम—मौलवी साहब के यहाँ पढ़ना, गुल्ली-डंडा खेलना, ईख तोड़कर चूसना और मटर की फली तोड़कर खाना—चलने लगा।

'पिताजी जब बहन के यहाँ जाते तो अपने साथ मुझे अवश्य ले जाते। मैं अपनी दादी से कहानियाँ ख़ूब सुनता। दादी और भैया में झगड़ा भी हो जाता। मै दादी से अपनी तरफ़ मुँह करने को कहता, भैया अपनी तरफ। दादी मुझे अधिक मानती थीं।

'फिर मेरे पिता की वदली जीमनपुर हुई। वहाँ पिताजी के साथ में, मेरी दादी गये। भैया इन्दौर गये।

'कुछ दिनो के वाद चाची आईं। यह शादी दादी को अच्छी नहीं लगी। चाची के साथ उनके भाई विजयवहादुर भी आये। चाची आते ही मालकिन बनीं। चाची विजयवहादुर को अधिक मानती थीं, मुझे कम। पिताजी डाकखाने से जो भी चीज़ खाने के लिए लाते, चाची की इच्छा रहती कि वे उन्हें खुद खायँ। वे उनकी लाई हुई चीज़ों को पिता के सामने रखतीं तो पिताजी वोलते 'मै ये चीज़े वच्चो के लिए लाता हूँ।' जव चाची न मानतीं तो पिताजी झल्लाकर वाहर चले जाते।

'किसी तरह एक साल वीता। वहन अपने घर गई, दादी भी घर आई और मर गई।

'पिताजी ने जो मकान ले रखा था, उसका किराया डेढ़ रुपए था। निहायत गन्दा मकान था। उसी के दरवाज़े पर एक कोठरी थी, वही मुझे सोने के लिए मिली। मै विनोद के लिए वगल में एक तमाखूवाले के मकान चला जाया करता। मेरी उम्र उस समय १२ साल की थी।'

गोरखपुर . कज़ाकी

'पिताजी का तवादला गोरखपुर को हुआ। मकान यहाँ भी उसी तरह का था। इसमे भी वही दरवाज़े की कोठरी थी। गोरखपुर जव मै आया तो मेरी उमर तेरह साल की थी। मिशन हाई स्कूल मे छठे दर्जे मे मेरा नाम लिखाया गया। चाची साथ थी। दादी तो मर चुकी थी।

'मुझे पतंग उड़ाने का शौक था ; मगर पैसे पास न थे। विजयवहादुर और मै वाले मियाँ के मैदान की ओर जाते और वहां कनकैयो को देखते रहते और जहाँ कनकैया गिरी कि टूटी डोर मिल जाती, तव मै अपना शौक पूरा करता।

'कमरे में हम दोनो रात के वक्त ही रहते थे। विजयवहादुर मुझसे

उमर में कम थे। वह हमारे साथ थे। यहाँ भी तम्बाकूवाले की दूकान मुझे मिल गई। और मुझे जब छुट्टी मिलती, तमाखूवाले की दूकान पर चला जाता, क्योंकि घर पर कोई भी दिलचस्पी न थी। वहीं मुझे लिखने का भी शौक हुआ था। मै लिखता और फाडता, लिखता और फाडता। कभी-कभी मेरे पिताजी हुक्का पीते-पीते मेरी कोठरी मे भी आ जाते थे। जो कुछ मैं लिखकर रखता, वे देख लेते और पूछते, "नवाब, कुछ लिख रहे हो?" मैं शर्माकर गड जाता। मगर इस विषय में पिताजी को कोई दिलचस्पी न थी। क्योंकि एक तो उन्हें काम के मारे छुट्टी न मिलती थी, दूसरे इस विषय के वे जानकार भी न थे। मै रात को चाहे जहाँ रहूँ, उनसे इससे कोई बहस नहीं। मै बाहर रहता था, वे अन्दर। शायद पहले के लोग इसे अपनी ड्यूटी नहीं समझते थे।

'मेरे पडोस मे रामलीला होती थी, रामलीला के राम, सीता, लक्ष्मण मुझे बहुत अच्छे लगते थे। मेरे पास उस समय जो भी चीज़ रहती, मै राम के लिए लेकर दौडता। पैसे भी जो रहते, उन्हीं को दे आता। वे अगर मुझसे बात करते तो मै सातवें आस्मान पर पहुँच जाता। बडी ख़ुशी होती थी। मै भी कैसा भोंदू था। आजकल के बच्चे मुझसे ज़्यादा चालाक होते है।

'पैसो की दिक़्क़त तो मुझे हमेशा रहती थी। मुझे बारह आने महीने में फ़ीस लगती थी। उन बारह आनो मे से मै एकाध आने हर महीने खा जाता था। जिस मुहल्ले मे मै था, उसमें छोटी जात के लोग थे। वे लोग मुझसे लेकर दो-चार पैसे खा लेते थे। इसलिए फीस देने में मुझे बड़ी दिक़्क़त होती थी। घर में माँ तो थीं नहीं। चाची ही से माँगता। वे बुरी तरह झल्लातीं। पिता से कहने की हिम्मत न थी। इसलिए अपनी माताकी याद मुझे बार-बार सताती थी। सच कहता हूँ, झूठ बोलना भी एक फ़न है। सच कहने के ही कारण मै मारा जाता। जिस घर में मै था, वह एक अहीरिन का था। वह विधवा थी। इनमें और मेरी चाची में काफी हँसी-मज़ाक होता था। मैं भी सुनता। मुझे उनके हँसी- मज़ाक में मज़ा आता। मुझे तेरह साल की उम्र

मे ही उन बातों का ज्ञान हो गया था, जो कि बच्चो के लिए घातक हैं।

'पिताजी का तबादला जमनिया हुआ। मै भी साथ आया। वहां जो हरकारा था, वह मुझे बहुत प्यार करता था। वह मुझे कन्धे पर लेकर दौडता। मै उसके आने की राह देखा करता। वह बाहर से ईख, अमरूद, गाजर मेरे लिए लाता। इसी से वह मुझे बहुत प्रिय था। एक दफा पिताजी ने उसे निकाल दिया। जब वह दूसरे दिन नही आया, तब मैने चाची से पूछा—आज कज़ाकी क्यो नही आया चाची ?

'मुझे क्या मालूम, क्यों नही आया।'

'ख़ैर, मै ख़ामोश था। अन्दर से मेरा जी कुरेद रहा था। जब पिताजी रात को आये तो डरते-डरते मैने पूछा—बाबूजी, कजाकी कहाँ गया ?

'पाजी निकाल दिया गया।'

मैने डरते-डरते कहा—बाबूजी, आदमी बडा अच्छा है।

पिता—गधा था।

'मैं ख़ामोश। रात भर मुझे नीद नही आई। मै सोचता, बेचारा कितना भला आदमी है। मै बडा होने पर ऐसे आदमी को हमेशा अपने पास रखूँगा। मै सुबह उसके यहाँ दौडा गया और बुला लाया। चुपके से भडारे मे जाकर आटा, दाल, चावल निकाल लाया। उस साल मै आठवी में पढता था। चाची ने भी उसे रखने के लिए सिफ़ारिश की। और मेरे हाथ से सब सामान लेकर थोडा-थोडा देने को कहा।'

बड़े बाबू

'एक रोज़ मेरे पिता के दोस्त बडे बाबू ने मुझे बुलाया। मै गया। मेरी पीठ पर हाथ फेरकर बोले—तू दुबला क्यों हो गया है ? क्या दूध-घी तुझे नहीं मिलता ? तेरी माँ नही देती ? तुम दूध ख़ूब पिया करो। घी भी ख़ूब खाया करो।

'उनके इन शब्दो को सुन मै रो पडा। उन्होने मुझे गले से लगा लिया।

कहा—बेटा, रो मत। दूसरे रोज़ मैंने देखा कि चाची ने मेरी दाल में कच्चा घी डाल दिया।

मैने कहा—मेरी दाल मे कच्चा घी क्यो डाल दिया ?

'कच्चा नहीं पक्का है।'

मैने कहा—दाल मे घी डाला ही क्यो ?

'तुम्हीं तो घर-घर रोते हो कि मुझे कुछ नहीं मिलता!।'

'मैने किससे कहा ?'

'बडे बाबू से कहा है कि मेरी चाची मुझे घी-दूध नहीं देती। और किससे कहेगा !'

'मैने नही कहा।'

'तूने नही कहा तो वे वैसे ही शिकायत करते थे ? ख़ुद खाता नहीं, मुझे बदनाम करता है।'

'मैने कुछ नही कहा।'

'झूठा, मक्कार।'

'मुझे रोना आ गया।'

मै—जब आपको खाना नहीं था तो रोने क्यो लगे ?

वे—अब तुम मुझे कैसे खिलाती हो। स्त्री मे स्त्रीत्व ही नहीं, बल्कि मातृत्व होना चाहिए। जब तक वह भाव न हो, तब तक किसी प्यार, पालन कुछ भी सम्भव नहीं।

मै—जब यह बात थी तो आख़िर आप कैसे खाना चाहते थे ?

वे—मुझे घी शक्कर के साथ अच्छा लगता है!। वैसे नहीं। दाल मे मुझे पसन्द नहीं।

मै—अब कैसे आप खाते है ?

'इस तरह किसे ग़रज़ पडी थी कि मुझे खिलाता। इसी से मै खाता भी न था। पहले दूध खिलाना बच्चो के लिए ज़रूरी न था। न किसी और के लिए था।'

मैं—यह आप कैसे कहते है कि बच्चों को जरूरी न था। मेरे यहाँ तो सब दूध खाते थे।

'तुम ज़मींदार की लडकी हो।'

'तो फिर रहिए साहब, जैसे आप रहते थे।'

पाँच रुपये का का गुड़

'एक साल के बाद मुझे बनारस आना पडा। उम्र पन्द्रहवाँ। नवें में पढता था।

पिताजी—धनपत, तुझे कितना ख़र्चा लगेगा?

मैं—पांच रुपया दे दिया कीजिएगा।

'पिताजी ने समझा, सस्ते बला टली। और मैं बनारस जब आया तब मैंने समझा कि दो रुपए तो फीस ही के लग जायँगे। बाकी बचे तीन रुपए। एक रुपए का दूध। यह सब मिलाकर पूरा खर्चा नही बैठता। मैंने सोचा, प्राइवेट पढ़ूँ। दिन भर शहर मे रहता। सुबह चाची गुड अपने पास से दे देती थी। दिन भर बनारस मे रहता और पढता। घर से किसी तरह की इम्दाद मिलने की आशा न थी। क्योंकि गरीबी का घर था। एक कुप्पी के सामने रात को बैठकर टाट बिछाकर पढता।

'ख़ैर, जब इम्तहान करीब आया तो उसी बीच पिताजी ने पांच रुपए का गुड ख़रीदकर रखने के लिए मेरे पास भेजा था, क्योंकि मेरी शादी होनेवाली थी। मैंने गुड तो ख़रीद लिया। और हमने—यानी मैंने, मेरे चचेरे भाई तथा गाँव के कई मित्रों ने उस गुड को बारी-बारी से खाना शुरू किया। रोज ही सेर-दो सेर गुड निकलने लगा। जब मैंने देखा कि गुड की सन्दूक भी काफी ख़ाली हो चुकी है, तो मैं सोचता, अब इसे न छुऊँगा। मगर गुड खाने की ऐसी लत पड गई थी कि इस प्रतिज्ञा को निभा न पाता। एक रोज़ मैंने सन्दूक की चाभी को दरवाज़े की दराज़ में डाल दिया। सोचा कि अब न खाऊँगा। न रहेगी बाँस न बजेगी बाँसुरी। फिर भी जब मण्डली इकट्ठा हुई तो मैं गुड न

खाने की प्रतिज्ञा न रख सका। प्रतिज्ञा तोडनी ही पडी। और दराज़ में से कुंजी निकाली ही गई। और उसमे से फ़िर खाना शुरू हुआ। जब वह आधा हो गया तब मैंने उसकी चाभी कुएं मे डाल दी। जब पिताजी घर आये और चाची से गुड माँगा, तो सन्दूक का ताला तोडना पडा।

'चाची गुड देखकर बहुत झल्लाई।'

'मेरी शादी हुई। मै अपनी शादी मे बडा खुश था। मण्डप छाने के लिए बांस मैंने खुद काटा था।'

विवाह

'मेरा विवाह बस्ती ज़िले के मेहदावल तहसील मे रामापुर गाँव मे ठीक हुआ। वे भी अपने घर के ज़मीदार थे। कुछ पूरब का रीति-रिवाज ऐसा है कि जब मुझे घर मे लोगो ने बुलाया, तब सैकडों स्त्रियाँ घर में थीं। हँसी-मज़ाक का बाज़ार गर्म था। पुरुषो के नाते तो मै ही एक था। मुझे हँसी-मज़ाक अच्छा भी लगता था। सब मुझसे हँसी-मज़ाक करती थीं, मै अकेला उनसे परेशान था। खैर किसी तरह उनसे उबरा। फिर मेरी स्त्री की बिदाई का समय आया। कई रोज़ का अरसा हो गया था। ऊँटगाडी से आना पडा। जब हम ऊँटगाडी से उतरे, मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकडकर चलना शुरू किया। मै इसके लिए तैयार न था। मुझे झिझक मालूम हो रही थी। उमर मे वह मुझसे ज़्यादा थी। जब मैंने उनकी सूरत देखी तो मेरा खून सूख गया।'

मै—ठीक तो थीं। तुम भी सीधी गरीब को पाकर अपने को कुछ लगाते हो!

'नही जी, बेशर्मी मुझे पसंद न थी। जो जितनी ही दूर रहता है, उसे उतना ही देखने के लिए दिल मे कुतूहल होता है।'

मैं कहती—इसके माने तो यह हुए कि औरते हमेशा पुरुषो से तेज़ रहती है। यह तो अच्छी रही। मरे को मारे शाह मदार। बडे से दबना, छोटे को दबाना, यह तो कोई अच्छी बात नही।

'अजी, तुम्हारे साथ पहले से मेरी शादी हुई होती तो मेरा जीवन इससे आगे होता।'

मैं—जब तक इन्सान अँधेरी रात न देखे तब तक रोशनी की वकत उसे कैसे मालूम हो! तुम अपनी चाची के साथ मेरी भी मिट्टी पलीद कर देते। फिर तुम्ही ने कौन-सी मदद मेरी की। मुझे खुद इस घर मे स्थान बनाना पड़ा। अपने लिए नही, बल्कि आपके लिए भी। अगर आप मेरी बीवी होते तो मै बताती कि स्त्रियो के साथ कैसे रहना चाहिए।

'अच्छा, तुम यह समझती हो कि मै रहना नही जानता था?'

'पुरुष का काम यह है कि उसे ब्याह कर लाये तो उसका मालिक बने।'

वे हँसकर बोले—अब तो मैने आपको मालिक बना दिया।'

'मुझे मालिक बना दिया। एक की मिट्टी पलीद कर दी। जिसकी कुरेदन मुझे हमेशा होती है। जिसे मै बुरा समझती हूँ, वह हमारे ही यहाँ हो और हमारे हाथो हो। मै स्वयं तकलीफ सहने को तैयार हूँ, परन्तु स्त्री जाति की तकलीफ मै नही देख सकती। उसी का प्रायश्चित्त शायद मुझे भी करना पड़ेगा, हालाँकि मै बेगुनाह हूँ। मेरे पिता को मालूम होता तो आपके साथ मेरी शादी हर्गिज न करते।

'वह बदसूरत तो थी ही। उसके साथ-साथ जबान की भी मीठी न थी। यह इन्सान को और भी दूर कर देता है।'

मैं—आप दावे के साथ कह सकते हैं कि आपका अपना चरित्र अच्छा था?—ख़ामोश! जब आदमी ख़ुद वैसा न हो तो दूसरे से आशा करना व्यर्थ है।

'मैने उनको उनके घर पहुँचा दिया और ख़ुद अपने यहाँ रह गया। मेरी क्या ज़्यादती?'

मैं—आप पुरुष थे, आप मुझे ब्याह लाये, वे तो घर मे बैठी है। यह क्या स्त्रियो के साथ अन्याय नही है? मै भी बदसूरत होती, तो आप मुझे भी छोड़ देते। अगर मेरा बस होता तो मै सब जगह ढिढोरा पिटवाती

कि कोई भी तुम्हारे साथ शादी न करे।

'इसी लिए तो तुम्हें मालूम न हुआ। पहले क़िस्सा भी तो सुनो। पीछे गरम होना। मेरी बारात आई। मेरे पिता को मालूम हुआ कि मेरी बीवी बहुत बदसूरत है। बेहयाई की हरकत उन्होंने बाहर ही देख ली। यह मेरी शादी चाची के पिता ने ठीक की थी। पिताजी चाची से बोले—लालाजी ने मेरे लडके को कुएँ मे ढकेल दिया। अफ़सोस ! मेरा गुलाब-सा लडका और उसकी यह स्त्री ! मै तो उसकी दूसरी शादी करूँगा। चाची ने कहा—देखा जायगा।

'जब मेरी चाची जमनिया जाने लगीं तो मेरी बीवी को भी साथ लेती गईं। छः महीने भी वहाँ पिताजी न रहने पाये कि उनका तबादला लखनऊ हो गया। मै तो नवें मे पढता था। पिताजी लखनऊ जाते समय सबको मढवाँ पहुँचा गये। मै तो पहले ही से वहीं था। अब यह सब बला मेरे सिर पडी। चाची मेरी पत्नी पर शासन करती थीं। उसकी शिकायत भी चाची एकान्त मे मुझसे किया करती थीं। वह भी अपनी किस्मत को रोती थी। बीच मे मेरी आफ़त थी। अगर बीच में चाची न होती तो शायद मेरी उनकी ज़िन्दगी एक साथ बीत भी जाती।'

मै बोली—इसका मतलब यह है कि आप बिल्कुल भोदू थे।

'कह तो दिया कि सचमुच मै भोदू था। मै किसी के ऊपर शासन न कर सकता था।'

'तभी न उसका जीवन मिट्टी मे मिला दिया। खेद !'

अपने पिता के मरने के बाद का अपना जीवन खुद उन्होंने लिखा है। इसके साथ उसे भी मै यहाँ देती हूँ।

चुनारगढ़

"मै जाड़े के दिनो मे चुनारगढ से घर आया था। और मेरे साथ विजय-बहादुर भी थे जो मेरी इन माता के भाई थे। उनके पिता जीवित तो थे

मगर उन्होंने अपने लडके को भी मेरे सिर पर रख दिया। मै वहां पांच रुपए का ट्यूशन भी करता था। खाने-वाने का इन्तज़ाम विजयबहादुर ही करते थे। पैसे जो मिलते थे, वह तो पहले ही ख़र्च हो जाते थे। फिर उधार पर चलता था। मेवा अगर एक रुपए का आता तो चार-छ रोज़ ही में खतम हो जाता। फिर उधार पर चलता। रोटियां उधार पर चलती थीं। बोर्डिंग-हाउस का बनिया था, उसी से लेता था। एक वार की बात है, मै घर आया, चार-पांच दिन घर रहा। जिस रोज़ मुझे जाना था, चाची से रुपए मांगे। बोली—रुपए ख़र्च हो गये। गांव मे किससे उधार लेता? गाडी के बहुत पहले मै और विजयबहादुर चल दिये। मैने अपना गरम कोट शहर में दो रुपए मे बेचा, जो कि एक साल पहले मैने बडी मुश्किलो से बनवाया था। जाडो के दिन थे। गरम कोट था। सूती पहनकर उसे बडे जतन से रखा था। तब मै चुनारगढ विजयबहादुर के साथ पहुँचा।

इलाहाबाद

"जब मै इलाहाबाद गया तो मुझे दस रुपये मिलते थे, दस रुपये में सात रुपये घर भेजता था। पांच रुपये का ट्यूशन करके आठ रुपये मे अपना गुज़र करता था। सुबह उठकर हाथ-मुँह धोकर रोटी पकाता, रोटियाँ सेककर स्कूल जाता। उन्ही दिनो मैने कृष्णा नाम का एक छोटा-सा उपन्यास लिखा था और इण्डियन प्रेस मे छपवाया था। ये दो साल के दिन उधारखाते में बीते। सन् १९०४ मे मै पास हुआ। छुट्टियो के दिन थे, मै घर आया था। उन्हीं दिनो मुझमे और मेरी बीवी मे झगडा हो गया था और इसके साथ-साथ चाची ने काफी शिकायत भी उनकी की थी। क्रोध मे आकर मैने उनको डॉटा। वे भी झल्लाईं मुझ पर। मैने कहा—तुम अपने घर जाओ, इससे कहीं बेहतर होगा। मैंने विजयबहादुर से कहा इनको पहुँचा आओ। मेरा कहना था कि वे उन्हें पहुँचा आये। उसी के एक साल पहले मेरी चाची अपने मायके गई हुई थी। मेरी बीवी थी, मै था। घर मे मेरी चची और

चचेरी भाभी थीं। ख़ैर, उन दिनों उनके पैर में तकलीफ थी। कभी-कभी वे भूत-प्रेत की तरह आव-बाव बकती थी। एक पण्डित ओझाई का काम करते थे, वैद्य का भी काम करते थे। मेरी चाची ने कहा—उन्हें बुला लाओ। मैं उन्हें बुला लाया। पण्डितजी आये और ओझों की तरह कुछ उन्होंने अलाय-बलाय किया। मैं भी दोपहर तक बैठा-बैठा उन्हीं के साथ हवन करता रहा। पैर में मालिश करने को तेल बताया। मैंने उन्हीं से तेल बनवाया। उनके पैरों की मालिश करने के लिए नाइन ठीक की। जब वे अच्छी हुईं तो मुझसे बहन को बुलाने को कहा। मैंने यह भी किया। इस पर जब चाची घर आईं तो रुपयों का हिसाब उन्होंने पूछा। मैंने बता दिया कि रुपए इस-इस तरह खर्च हो गये। हिसाब दे दिया। उस समय चाची की निगाह में मैंने ये दो बड़ी बुराइयाँ की। तभी से उनमें और भाभी में पटती न थी। मेरी बहन को भी इन्होंने काफी तकलीफ दी। झगड़ा आये दिन हुआ करता था।

"बहन को मैंने बिदा कर दिया। वह अपने घर गई। हाँ, उनकी यह ख़्वाहिश रही कि मैं उन्हें हमेशा साथ रखूँ। मगर मैं क्या करता, मेरी परिस्थिति ही और थी। उसके बाद मैं कानपुर में तीस रुपए पर मास्टर होकर घर आया।

"दिसम्बर में मैं चचेरे भाई तथा विजयबहादुर को लेकर कानपुर आया। १०) रुपए का ट्यूशन भी कर लिया। वहीं सन् १९०५ में मेरी शादी हुई।"

शिवरानी देवी

मेरी पहली शादी ग्यारहवें साल में हुई थी। वह शादी कब हुई इसकी मुझे ख़बर नहीं। कब मैं विधवा हुई, इसकी भी मुझे खबर नहीं। विवाह के तीन-चार महीने बाद ही मैं विधवा हुई। इसलिए मुझे विधवा कहना मेरे साथ अन्याय होगा। क्योंकि जो बात मैं जानती ही नहीं वह, मेरे माथे मढ़ना ठीक नहीं।

मेरे पिता का नाम मुंशी देवीप्रसाद था। ज़िला फतेहपुर, मौज़ा सलीमपुर,

डाकखाना कनवार। मेरे पिता मुझे इस हालत में देखकर खुश न थे। वे अपने को मिटाकर मुझे सुखी देखना चाहते थे। पहले तो उन्होंने पण्डितों से सलाह ली। उसके बाद उन्होंने इश्तिहार निकलवाया। इश्तिहार आपने भी पढा। उसके बाद कई जगह लडके ते हुए। मगर मेरे पिता को लडके पसन्द न आते। उसी समय आपने उन्हें खत भेजा—मैं शादी करना चाहता हूँ। मैंने यहाँ तक पढा है और मेरी इतनी आमदनी है। मेरे पिता ने लिखा—आप फतेहपुर आइए। मैं वहाँ मिलूँगा। बाबूजी फतेहपुर गये। आप मेरे पिता को पसन्द आये। उन्होंने आपको बरच्छा और किराये के रुपए दिये। मुझे यह भी नहीं मालूम कि मेरी शादी कहाँ हो रही है। मेरी शादी में आपकी चाची वगैरह किसी की राय नहीं थी। मगर यह आपकी दिलेरी थी। आप समाज का बन्धन तोडना चाहते थे। यहाँ तक कि आप अपने घरवालों को भी खबर नही दी। मेरी शादी हुई। शादी में ही मैं घर आयी और चौदह रोज रही। मेरी तबियत लगती न थी। क्योंकि मेरी मा मर चुकी थी। एक मेरा भाई पाँच बरस का था। उसको मैं उसी तरह स्नेह करती थी, जैसे माँ अपने बच्चे को करती है। मेरे जब चौदह साल पूरे हुए थे, तब ही माँ मर चुकी थीं। मेरा भाई तब तीन वर्ष का था। उसी समय से मुझे अपनी ज़िम्मेदारियों का ज्ञान हुआ। तब से मैं आज तक अपनी ज़िम्मेदारी निभा रही हूँ। बाद को क्या होगा, इसे भविष्य जाने। मैं नहीं जानती।

फागुन में मेरी शादी हुई, चैत्र में आप सब डिप्टीइंसपेक्टर हो गये। मैं महीने भर यहाँ रहती थी तो १० महीने अपने घर। मुझे यहाँ अच्छा नहीं मालूम होता था, क्योंकि रोज़ाना झगडा होता रहता था।

कानपुर का जीवन

आप सुबह चार बजे उठते थे। हुक्का पीकर पाखाना जाते, हाथ-मुँह धोते। और जो मिल जाता, उसी का नाश्ता करते। चुस्ती के साथ बैठकर लिखते। कलम मजदूरों के फावडे की तरह तेजी से चलती थी। उसके

बाद पाखाना जाना। फिर खाना खाना। दौरे पर भी साहित्य का काम उन्होंने नहीं छोड़ा। जब मुआइना करना होता, तो उस काम को मुदर्रिसों के हाथ देते। वे कहते—'क्या करूँ, मैं जो मुआइना करता हूँ तो मुदर्रिस लोग लड़कों के सामने पर्चा छोड़ आते हैं। इस वास्ते उस काम को मैं उन्हीं पर छोड़ देता हूँ। कम से कम जिससे यह तकलीफ उन्हें न उठानी पड़े। वे बेचारे खुश भी रहते। अच्छा मुआइना हो जाने पर उनकी तरक्कियाँ भी होती हैं।

मैं बोली—तो आपको रखने की ज़रूरत गवर्नमेण्ट को क्या थी?

'अपना काम करना उसका काम है। मेरा काम करना अपना। क्या ये बड़े-बड़े अफ़सर देवता ही हैं!'

'कुछ हो, अपना सब काम अपने को करना चाहिए।'

'करता तो हूँ, कहाँ छोड़ देता हूँ। अगर मेरे काम से कुछ फायदा हो तो क्या हानि? सब दुनिया की बातें इसी तरह चलती रहती हैं।'

'आपको अपने अफसरों की सहानुभूति तो नहीं मिली। हाँ मातहतों के साथ आपने भाईचारा हमेशा किया। क्योंकि अफसरी करना आपको पसन्द न था।

'उनका कहना था कि अफ़सर बनकर इन्सान इन्सान नहीं रह जाता। ईश्वर मुझे इससे हमेशा दूर रखे। वह जिस हालत में रहते, हमेशा खुश रहते थे। उनको दुनियावी चीज़ों के पीछे रंज न था। हाँ मा का प्रेम उनमें बहुत था।' उन्हीं को उनकी आँखें हमेशा ढूँढा भी करतीं। जिसको अपनी माँ को प्यार न करते हुए वे देखते थे, उस पर उन्हें क्रोध आता था। जो लड़का अपनी माँ को प्यार न करता था, उसे वे इतना हृदयहीन समझते थे कि क्या कहा जाय।

एक दिन मैंने कहा—आपने अपनी बहन को पंद्रह साल बाद क्यों बुलाया? यही प्यार की निशानी है? हाँ, माँ के लिए आप अलबत्ता रो लीजिए। माँ को तो मैंने नहीं देखा है।

'तुमने इसका कारण नहीं समझा। तभी ऐसा कहती हो! इसका कारण

यह था कि मेरी चाची के भाई से उनका झगडा होता था। उनके घर था रहने के लिए। आप हटती तो कहाँ जाती ? अगर मै उनको अपने साथ रखता तो वे कहती, तुमने एक औरत, और एक बच्चे को भी निकाल दिया।'

'यह सब कहने की बाते हैं। अब आपकी वह ख़ुशामद नही कर रही हैं।'

'नही जी, मै अपना कर्तव्य समझता हूँ।'

मुझसे उनसे कोई आठ साल तक नही पटी। क्योंकि उनके घर मे बमचख़ बहुत था। मै बमचख़ की आदी न थी। वे चाहते थे कि मै अपने लिए खुद स्थान तैयार करूँ। उनकी बीबी के नाते मै घर की मालकिन बनकर बैठूँ। और मै चाहती थी।कि मै क्यों यह झंझट बरदाश्त करूँ, मैं भी दुनिया को देखना चाहती हूँ। क्योंकि मै अपनी सास से सुन चुकी थी कि वे कैसा बर्त्ताव मेरी सौत से कर रही थी। फिर भी यह कुछ नही बोलते थे। मुमकिन है कि यह कल मेरे काम पर मुझसे भी नाराज हो। मुझे क्या गरज पडी थी कि मैं शासन करती। मै भी अपने मायके मे आनन्द से रहती थी। एक दफे मेरे पिता का ख़त आया। उन्होने मुझे बुलाया था। उसका जवाब आपने दिया कि मै नही विदा करूँगा। यह इन्कार करना मुझे पहले ही मालूम हो गया था। मैं इस पर झल्लाई। आप कमरे मे आये। मै उठकर बाहर निकलना चाहती थी। आप बोले—कहाँ जा रही हो ?

'मै बाहर जा रही हूँ।'

'जाओगी कहाँ आख़िरकार ?'

'अच्छा मैं नही जाऊँगी। आपही यहाँ से जाइए।'

'अरे मै कहाँ चला जाऊँ ?'

'तुमको जाने का ठिकाना नही तो मै तो जा रही हूँ।'

'नही तुमको धूप में नही जाना है।'

मैंने ज़िद की।

उस पर उन्होंने मुझे दो चपत लगाये और बाहर चले गये। फिर जब वे आये तो मै गुस्से मे बैठी थी। तब बहुत आहिस्ते से बोले—इस

तरह क्यों झल्लाई हो।'

'मैं झल्लाऊँ क्यों ?'

'कैसे कहूँ कि तुम झल्लाई नहीं हो ? न किसी से बोलना, न किसी से कुछ कहना-सुनना।'

'मेरे खामोश बैठने से किसी का क्या बिगड़ता है ? सज़ा ही देने के कारण तो आपने मुझे अपने घर जाने नहीं दिया। कैदी कैसे सुखी रह सकता है ?'

'यह तुम्हारी बड़ी भूल है। मैंने तुम्हें तकलीफ देने की नीयत से नहीं, बल्कि मैं जाने देना नहीं चाहता। तुमको तकलीफ देने में मुझे कुछ मिलेगा ? मैं सच कहता हूँ, तुम घर चली जाती हो तो मुझे अच्छा नहीं मालूम होता।'

मैं बोली—तो मुझे तो यहाँ अच्छा नहीं मालूम होता।

'मैं चाहता हूँ कि तुम अपने घर में आराम से रहो। यह घर तुम्हारा क्यों न बने ?'

'मुझे क्या गरज़ पड़ी है कि दूसरे के घर में घरवाली बनूँ ?'

'सच कहता हूँ, तुम्हारा घर यही है। कैसे समझाऊँ ?'

'थप्पड मारकर समझाइए।' मैंने कहा।

'मैंने थप्पड नहीं मारे थे।'

'क्या अभी और मारने की ख्वाहिश है !' मैंने कहा।

'सच कहता हूँ, तुम्हें मैं क्या कहूँ ? घर से निकाल देती हो, कहाँ जाऊँ ?'

'तुमको क़ैद करने में मज़ा आता है।' मैंने कहा।

'सच कहता हूँ, तुम्हें क़ैद करने के लिए मैं नहीं रोक रखता। मैं चाहता हूँ कि तुम इस घर की मालकिन बनकर मुझ पर भी शासन करो।'

'मैं ऐसा बननेवाली जीव नहीं।' मैंने कहा।

'तब मैं क्या कह सकता हूँ ?

'हाँ, तो मैं भी मजबूर हूँ।' मैंने कहा।

उन्हीं दिनों मेरे खिलाफ उनकी चाची ने उनसे कई बातें कही थीं।

वे मुझसे नाराज़ थे। सोचते थे, ये मुझे मनायें, तो मै अपने दिल की बातें बतलाऊँ।

मगर मै ऐसी उद्दड थी कि मुझे इसका कोई ग़म न था। कई रोज़ के बाद ख़ुद मेरे पास आये और बोले—मुझे तुम ऐसा क्यों कहती थीं।

'मैने कुछ भी नही कहा।' मैने कहा।

'नही तुमने कहा होगा, तभी तो चाची कहती थी।'

मै—अगर आपको मेरी बातो का विश्वास हो तो यकीन रखिए, मैने नहीं कहा। अगर आपको विश्वास न हो तो मै क्या करूँ ?

उनको विश्वास हो गया कि मैने नही कहा। बोले—देखो, यह चाची की बडी खराब आदत है। इसी तरह पहले भी वह कहा करती थी। और यह इसी तरह बहुत बाते कहा करती है। गालिबन तुमसे भी मेरे ख़िलाफ कहती होगी। तभी मैं देखता हूँ, हमेशा तुम्हारे क्रोध का पारा चढा ही रहता है।

'अगर मेरा पारा चढ जाय तो क्या ? आपका पारा क्यो चढ गया, आप तो समझदार हैं।' मैने कहा।

'मै तुमसे कहता हूँ, पर्दा क्यो नही छोडती ? कोई लौण्डे की बीवी नहीं हो। मैं दस साल तक काफी पर्दा कर चुका। फिर मेरी मा-भाभी भी नही हैं। दस वर्ष के बाद चाची का लिहाज़ करने की कोई ज़रूरत नही।'

'मुझसे बेहयाई नहीं होती।' मैने कहा।

'अगर तुमसे बेहयाई नही होती तो रोज़ाना एक न एक फसाने उडा करेंगे।'

'आप भला तो जग भला। जब आप लौण्डे नही तो इस तरह की बाते सुनते ही क्यो है ? फिर सुनते है तो उस पर ध्यान क्यो देते हैं ? अगर आप ध्यान देते है, तो मै मजबूर हूँ। इन्सान अपने को तो बना ही नही पाता, दूसरे को कहाँ तक बनायेगा।' मैने कहा।

'तुम कुछ न करो। मेरे मत्थे तो सब जाता है।'

'आपकी पाली हुई बला भी तो है। पहले ही से आप ठीक रहते तो

ऐसी हालत क्यो होती।'

'मै क्या कहूँ, मेरी किस्मत ही ऐसी है।'

'हॉ साहब, जो जैसा करता है, वैसा ही भोगता है।' मैने कहा।

'सच कहता हूँ, तुम बड़ी निठुर हो। तुमको भी मेरे ऊपर दया नहीं आती।'

'अरे भाई, दया आने की कोई बात हो तो मैं सुनूँ।' मैने कहा।

'जो कहता हूँ उसे सुनो। सुनना यही है कि तुम पर्दे को छोडो।'

मै बोली—तुम्हारी जो बला है, वह अपने सिर लूँ।

'तो घर कैसे चलेगा। मेरी समझ मे नहीं आता।'

'जैसा चल रहा है, बहुत ठीक है। मै इस बला को नहीं पालना चाहती। फिर आपको तो काफ़ी प्यार करती है, मेरी बात छोडिए। मै भी जिस हालत मे हूँ, उस हालत में रह लूँगी। मै भी मस्त जीव हूँ।' मैंने कहा।

'हॉ इसी मे मस्त रहती हो कि आनन्द से जाकर बैठती हो। जिसको तुम प्यार समझती हो, वह प्यार नहीं है। अपनी मा का प्रेम निःस्वार्थ होता है। जब वही मुझे नसीब नहीं हुआ तो मै उसके पीछे कहॉ तक पडूँ।'

यह शब्द कहते-कहते उनकी ऑखे सजल हो आईं। उस रोज़ से मुझे उन पर दया आने लगी। उसी दिन से मै उनसे मिलना चाहने लगी। जब वे उठने लगे तो मुझसे बोले—सच मानो, मैने अपने को तुम्हें सौंप दिया।

तब से मै वाकई उन पर शासन करने लगी। तभी से मै उनके घर को अपना घर भी समझने लगी।

महोबा

इसके बाद आप महोबा आये। मेरे पिता ने मुझे पहले ही बुलाया था। अब मुझे भी बुलाया, उन्हें भी। इसको वे मान भी गये। जिस रोज़ मेरे जाने का समय हुआ और ताँगा दरवाज़े पर आया तो उनकी चाची झल्लाकर

बोलीं—ख़बरदार, अगर उनको भेजा ! अपने तो जा रहे हैं महोबा, उन्हें भेज दे रहे हैं अपने घर !

'उनको जाने क्यों नहीं देती ?'

'उनको घर पहुँचाओगे तो ठीक न होगा। तांगा वापस करो।'

मैं बोली—मैं रहूँगी ही नहीं यहां।

'मैं क्या करूँ, बोलो ?'

मैं—मैं यह नहीं सुनना चाहती।

आप मेरे सामने हँसते हुए बोले—उनको मना लेना कठिन है, तुम्हें नहीं। तुम एक हफ़्ता यहाँ रहो। बाद में तुम्हें महोबा ले चलूँगा। तुमको अगर पहुँचा आये, तो बुढ़िया मुझे ज़िंदा न छोड़ेगी।

ख़ैर मैं राज़ी हो गई। वे चले गये। वहाँ जाकर चार्ज लिया। वहाँ से ग्यारहवें दिन आप आये। जब वहाँ चलने के लिए तैयार हुए तो चाची बोलीं—मैं नहीं जाऊँगी। क्योंकि उनके दोनों भाई कानपुर में ही हमारे साथ थे और बड़े भाई वहीं २५) माहवार पर नौकर भी हो गये थे। उन्हीं के पास वह रहना चाहती थीं।

वे बोले—चाहे तुम जाओ या न जाओ। मैं इन्हें लेकर जाऊँगा।

चाची—हाँ, तुम उनको ले जाओ।

इसके बाद बड़े भाई ने कहा कि तुम उनके साथ जाओ। नहीं जाओगी तो हमेशा पछताओगी। नवाब पहले के नहीं है कि पीछे पड़े रहेंगे।

चाची भी राज़ी हो गईं। वह भी महोबा गईं। तीन महीने के बाद फिर उनकी चाची अपने लड़के के साथ कानपुर लौट आईं।

महोबा का जीवन था—सुबह उठना, कुछ खा-पीकर साहित्य की सेवा करना। हाँ, वहाँ मैंने उन्हें उनके साहब को प्यार करते पाया। मातहतों को वे मित्र बनाना चाहते थे। मातहतों में जो बड़ा होता था, उसकी इज़्ज़त बुज़ुर्ग की तरह करते थे। वहीं मेरे दो लड़कियाँ पैदा हुईं। कमला वहीं पैदा हुई।

मैं अकेली महोबे मे दस महीने रही। उन दिनो वे दौरा करने जाते तो डेढ दो-महीने में आते थे।

उनकी इच्छा होती थी कि मै भी दौरे पर चलूँ। मैं अकेली महोबे में रहती थी, यह उन्हें पसन्द न था। मगर यह दौरे का जीवन मुझे बिलकुल पसन्द न था। इसलिए मै महोबे मे ही रहती।

महोबे मे बेगार मे दूध, घी, बर्तन सब मिलते थे; मगर खाने का सामान वे अपने पास से मँगाते थे। दूध तो इतना मिलता था कि नौकर लोग खोवा बनाकर खाते थे। पहले तो बेगार लेने से उन्होने इन्कार किया। तब वहाँ के रईसो ने कहा कि यह नियम है। आप यह नियम हटा देंगे तो यह कभी किसी को बेगार आदि देंगे ही नहीं। तब इस पर उन्होने कहा कि मै तो नहीं खाऊँगा, मेरे नौकर खायँगे।

उन लोगो ने कहा—आप न खायँ, आपके नौकर ही सही।

वहाँ की एक प्रथा यह है कि किसी भी अफ़सर के माथे में तिलक लगाकर वह रुपया देते हैं। उनसे आप दही-अक्षत तक तो लगवा लेते थे। बस पान उठाकर मुँह में डाला, गले मिले। रुपए के लिए आप कहते थे—मुझे माफ़ कीजिए।

उसने अगर कहा कि यहाँ का नियम है, तो बड़े ही मीठे शब्दों में कहते थे—नहीं साहब, यह मेरा सिद्धान्त नही है, इसके लिए आप मुझे क्षमा करें।

चपरासी वग़ैरह को जो मिलता था, तो उसे वे मना नहीं करते थे। दौरे पर वे घोडे पर जाते थे। जाडे के दिन में खुद आप कम्बल ओढते थे, घोड़े को दुशाला ओढाते थे। मै तो उन्हें देखती थी कि वे प्राणिमात्र के प्रेम में हमेशा लगे रहते थे। सीधा तो मैंने उन्हें एक ही पाया। क्योंकि मैं ज़रूरत से ज़्यादा गुस्सेवर थी। मगर नही, मेरा भी गुस्सा वे काफ़ूर-सा उड़ा दिया करते थे। घर में वे हौवा की तरह नहीं रहते थे। शाम का वक्त वे हमेशा गपशप मे देते थे। बग़ैर काम के वे कहीं नहीं जाते थे। एक दफ़े का क़िस्सा है—कातिक का महीना था। तभी बैलगाडी रखनी थी। पास में रुपए न थे।

मुझसे बोले—बैलगाड़ी लेना है, मगर रुपए नहीं है। बैलगाड़ी ले लेता तो कम से कम २०) रुपए उसका भत्ता मिलता।

मुझे भी ख़बर नहीं थी कि मेरे सन्दूक मे रुपए है। क्योंकि जो रुपए आते थे, उन्हें मै सन्दूक के खाने में डाल देती थी। फिर उसे देखने की मुझे फिकर नही होती थी। इत्तफ़ाक से उसी समय उन्होने मुझसे रुपए मॉगे। नौकर को देना था। जब मैने सन्दूक खोलकर देखा तो उसमे मुझे ज्यादा रुपए दिखलाई पडे। मैने हाथ डालकर खाने मे से सब रुपए निकाले। नोट और रुपए मिलाकर डेढ सौ थे। मै खूब खुश होकर आई और बोली—मै आपको डेढ सौ रुपए दे सकती हूँ। तब आप हँसकर बोले—वाह, तुम्हारे सन्दूक़ मे डेढ सौ पडे है, तुम्हें ख़बर भी नही।

मै बोली—क्या मै गरीब की बहुरी की तरह उसे हमेशा देखा करती हूँ? पडे रहेंगे तो सन्दूक में रहेंगे। ख़र्च होने पर कैसे पायेगे।

तब आप बोले—चलो बेडा पार हुआ। इसमे गाडी और बैल सब आ जायँगे।

दिन भर मे दूसरे रोज़ गाडी और बैल दोनो आ गये। मुझसे बोले—एक बात तुम मेरी मान जाओ। कल चलो, चरखारी मे मेला है, देख आयें।

मैने कहा—चलिए।

हम सब मिलाकर दस आदमी चले। हम सब बैलगाडी से गये, खुद घोड़े से गये।

वहाँ जाकर खेमा लगवाया। राजा साहब के आदमियो को मालूम हुआ कि डिप्टी साहब आये है, तो रसद उनके यहाँ से आई। खैर, शाम को खाना बना। चपरासी महराज था, उसने खाना बनाया। सब लोगो के खा चुकने पर मेला देखने की ठहरी। मै और मेरी सखी तो ज़नाने भाग मे गये, आप लोग मर्दाने में गये। सरकस वहां बहुत अच्छा होता था। मगर मै तो दो-ढाई घंटे मे ही घबरा गई। मै अपनी सखी को लेकर डेरे पर चली आई। आप

लौटे कोई डेढ बजे। मै, मेरी सखी खेमे के अन्दर थीं। आप सब लोग बाहर। आकर मुझसे बोले—क्या तुमने कुछ देखा नही ? पहले ही चली आई।

'हॉ, मै चली आयी। मेरी तबियत नही लगी। गुनाह बेलज्जत, इतनी दूर आई और तमाशा भी नही देखा।'

दूसरे रोज़ हम लोग घर चले आये। फिर मै सात साल वहॉ रही। बहुत बार मेला देखने की बात आई, मगर मै जाने को राज़ी न हुई। वे खुद गये। कभी कभी घूमने की मेरी इच्छा होती तो मै कहती कि जंगल मे चलना चाहिए। आप सहर्ष तैयार हो जाते। हम दोनो जंगल के शुरुआत ही मे गाडी छोड़कर भीतर चले जाते। दिन भर वही झाडियो मे पानी पीते, फल खाते, समय व्यतीत करते। पहाडो पर चढकर पहाड की भी सैर करते। शाम तक महोबा वापस आते। जिनको मै प्यार करती, उनको वे ज़रूर प्यार करते। महोबा मे जिस मुहल्ले मे मै थी, वह कायस्थो का मुहल्ला था। वे लोग भी तीज-त्यौहार को आते थे। आप भी सबके साथ भाईचारे का व्यवहार करते थे। मै खुद कभी किसी के घर नहीं गई। मगर उनकी स्त्रियॉ हमेशा हमारे यहॉ आती रहती थीं।

महोबे मे स्त्रियॉ अपने बारात के बिदा होने के बाद रात को हर एक के घर मे बजाती-गाती जाता है, और एक हाथ मे आरती का थाल लिये रहती है, दूसरे हाथ मे बेलन लिये रहती है। जो पुरुष घर मे रहता है, बारात में नहीं जाता, उसको उसी से मारती है।

एक बार मेरे यहॉ भी वे आईं। दरवाज़े पर आप सोये थे। चपरासी आदि को उन्होने पीटा भी। मगर न मालूम क्यो आपके साथ उन लोगो ने दया की। आप डर के मारे पहले ही कमरे मे भाग आये थे।

महोबा (२)

जब मै महोबे मे थी तब उनकी चाची और उनके लडके कानपुर अपने मामू के पास पढने चले आये। मै अकेली महोबे मे रही। आप भी साथ

आप मुझसे बराबर अनुरोध करते कि तुम भी साथ-साथ दौरे पर रहो। मुझे हमेशा तुम्हारी चिन्ता लगी रहती है और तुम्हें तकलीफ भी तो होती है।

'मैं कैसे रहूँगी।'

'इसमें हर्ज क्या है! मै मुआइना करने जब जाऊँ, तब भी तुम मेरे साथ रहा करो। वहाँ मेरी रावटी लगी रहती है, तुम उसी में बैठकर आराम से पढ़ती रहना। महराज खाना पकाने के लिए साथ रहता ही है। कौन मै ही दिन भर मुआइना करता रहता हूँ। ज़्यादा से ज़्यादा घंटे भर। शाम को हम लोग पहाड़ घूमने निकल जायेंगे।'

मैं—कौन हिन्दुस्तानी अपनी बीवी को लेकर दौरे पर घूमता है। एक तमाशा-सा होगा।

'मुझे तो तमाशा-सा कुछ नहीं मालूम होता। मै चाहता हूँ तुम अपने दिमाग से पुरानी बातों को निकाल दो, परन्तु तुम पीछे पड़ गई हो।'

मैं—मुझे तो मजाक-सा मालूम होता है।

'अँग्रेज़ों को देखो। कितने आराम से वे रहते हैं।'

मैं—यह अँग्रेजों का मुल्क नहीं है। यह तो हिन्दुस्तान है।

'तभी तो परेशान होते हैं। मुझे तो बेहूदापन मालूम देता है। तुम अकेली यहाँ रहो। मैं दौरे पर परेशान रहूँ। इसमें लाभ क्या?'

'कुछ भी हो, लज्जा मालूम होती है। फिर आराम क्या रहेगा? आज यहाँ, कल वहाँ। क्या लाभ?'

'मैं तो रोज़ इसी तरह घूमता हूँ।'

'आपको तो घूमने ही के लिए सरकार वेतन देती है, भत्ता ऊपर से। मुझे क्या मिलेगा?'

'तुम्हें आराम मिलेगा और क्या?'

मैं—मैं ऐसे आराम से बाज़ आई।

'तब मैं मजबूर हूँ।'

उनकी बहन और वह

उनकी चाची और उनकी बहन मे नहीं पटती थी। पंद्रह साल तक उनकी बहन चाची के वैमनस्य के कारण मायके न आ सकीं। मैं अक्सर उनसे पूछती कि आप अपनी बहन को क्यों नहीं लाते ?

'उनको कैसे बुलाऊँ। चाची और उनमें बिलकुल नहीं पटती।'

मैं बोली—तो क्या चाची के हाथ आप बिक गये हैं ? बहन का हक़ चाची से पहले है।

'परन्तु परिस्थिति तो प्रतिकूल है। पिताजी हैं नहीं। बहन अपने घर में आराम से हैं। यहाँ आने पर इनके साथ झगडा होता है। ये अपने मायके नहीं जा सकती। इनके दोनों भाई मेरे सिर पर हैं।'

मैं बोली—इसमे आपकी ग़लती है।

'तुम्हारा यह अन्याय है।'

'अन्याय कैसा ? जिस औरत के मा-बाप दोनों मर गये हों और उसके एकलौता भाई मौजूद हो, लेकिन वह उसे बुलाये तक नहीं! वे अपने दिल में क्या सोचती होंगी ? अगर मैं मना करती तो भी आपको बुलाना चाहिए था।'

उन्होंने कहा—तुम्हें नहीं मालूम। तुम्हीं से रात-दिन झगड़ा हुआ करता है। उनके आने पर तुम्हें कौन सुख मिलेगा।

मैं बोली—इससे अच्छा था, आप शादी न करते।

'भाई, तुममे-उनमे फ़र्क भी तो है। तुम तो कुछ कह भी सकती हो, बहन तो कुछ कह भी नहीं सकतीं।'

'आपकी चाची ने आपके ही साथ कौन अच्छे सुलूक किये हैं कि उसे लेकर आप रो रहे हैं। आपकी कमाई को उनके भाई-बहन खा सकते हैं, लेकिन अपने भाई-बहन नही खा सकते।'

आप बोले—यह व्यवहार उन स्त्रियों के लिए है, जो आत्माभिमानिनी हो। मगर जिनमे वे बातें न हों, तो क्या उनके साथ मै बुरा बन जाऊँ।

मै बोली—वे सोचती क्या होंगी ?

'बहन भी परिस्थिति को समझकर रो लेती होंगी।'

मै बोली—ईश्वर-कृत दण्ड आदमी सह लेता है, पर अपने से किया हुआ कैसे भूले ?

'मा का मरना जैसे मुझे खलता है, वैसे उन्हें भी खलता होगा।'

'तो फिर रोना कौन देखता है।'

'फिर उपाय ही क्या है, बताओ ?'

मै बोली—आराम से बैठे रहिए।

'मेरे ख़याल मे वे यहाँ से आराम मे है। दो-एक बार मैंने बुलाया था। और उनकी हालत भी देखी थी।'

मै बोली—जहाँ आप-से भोंदू होंगे, वहाँ लोगो की यही हालत होगी।

'मेरे सामने वे एक बार आई थी। बाद मे तो वे मर ही गई। जब से वे मर गईं और उनकी चाची हमसे अलग रहने लगी तो उनकी तीनों लडकियों को आप बराबर अपनी बेटी की तरह प्यार करने लगे। साल मे सबको बुलाते थे। वे अपनी बहन की कमी उन लडकियों से पूरा करते। उनके बच्चो को गोद में लेकर खिलाते थे, प्यार करते थे। मै कभी-कभी कह भी देती कि आप अपनी बहन को इस तरह प्यार करते होते तो वे भी सुख महसूस करतीं।

'क्या करता, विवशता भी कोई चीज है। न मैंने अपनी मा की सेवा की, न बहन की।'

यह कहते-कहते अक्सर उनका गला भर आता।

१९०५

मेरे आने के पहले से ही आपकी साहित्य-सेवा जारी थी। आपका पहला उपन्यास 'कृष्णा' प्रयाग से प्रकाशित हो चुका था। मेरी शादी के साल ही आपका दूसरा उपन्यास 'प्रेमा' निकला, जिसका नाम आगे चलकर 'विभव' हुआ। मेरी शादी के एक वर्ष बाद आपका कहानी-संग्रह 'सोज़ेवतन' प्रकाशित हुआ। उस पर मुकदमा भी चला। हम लोग महोबा मे थे। वहाँ भी खुफिया पुलिस पहुँची। उसके बाद उनको कलक्टर की आज्ञा मिली कि आकर मुझसे मिलो।

आपको दौरे पर आर्डर मिला। रात भर बैलगाडी पर चलने के बाद आप 'कुलपहाड' पहुँचे। आप उसी दिन घर आनेवाले थे। जब दूसरे रोज़ मेरे पास पहुँचे तो मैने पूछा—कल आप कहाँ रह गये ?

आपने कहा—रहो, बताता हूँ, बडी परेशानी मे पड गया था। कल सारी रात चलता रहा।

मै बोली—अरे, बात क्या है ?

आप बोले—'सोज़ेवतन' के सिलसिले मे सरकार ने मुझे बुलाया था।

मैने पूछा—आखिर बात क्या थी ?

आप बोले—कलेक्टर ने उसी सिलसिले मे मुझे बुलाया था। मै गया तो देखा कलक्टर की मेज़ पर 'सोज़ेवतन' की कॉपी पडी थी।

मैने पूछा—क्या हुआ तब ?

आप बोले—कलेक्टर ने पूछा, यह किताब तुम्हारी लिखी है ? मैने कहा, हाँ। उसे पढकर मैने सुनाया भी ? सुनने के बाद वह बोला—अगर अंग्रेज़ी राज मे तुम न होते तो आज तुम्हारे दोनो हाथ कटवा लिये गये होते। तुम कहानियो द्वारा विद्रोह फैला रहे हो। तुम्हारे पास जितनी कॉपियाँ हो, उन्हे मेरे पास भेज दो। आइंदा फिर कभी लिखने का नाम भी न लेना।

मैंने कहा कि आप किताबें भेज दीजिएगा ?

आप बोले—वाह ! अरे यह कहो कि सस्ते छूटे, मेरा ख्याल था कि कोई बड़ी आफत आयेगी।

मैंने कहा—तो फिर लिखना भी अब बन्द ही समझूँ।

आप बोले—लिखूँगा क्यों नहीं ? उपनाम रखना पड़ेगा। खैर, इस वक्त तो बला टली। मगर मैं सोचता हूँ अभी यह और रंग लायेगा।

मैं बोली—नहीं जी, जो कुछ होना था हो गया। उस संग्रह के कारण आप पर ऐसी आफत आई। और मैंने वह अभी तक पढ़ा नहीं।

आप बोले—यह तो हमेशा की बात है। जब सरकार किसी पुस्तक को जब्त करती है तो उसके ख़रीदारों की संख्या बढ़ जाती है, महज़ यह देखने के लिए कि आख़िर उसमें है क्या ?

मैंने कहा—आपने कभी सुनाया भी नहीं। मैं उर्दू जानती नहीं।

'अच्छा अब आयेगी तो मैं तुम्हें पढ़कर सुनाऊँगा ?'

मैं बोली—जरूर सुनाना।

शादी के पहले मेरी रुचि साहित्य में बिल्कुल नहीं थी। उसके बारे में मैं कुछ जानती भी नहीं थी। मैं पढ़ी भी नहीं के बराबर थी। आज मैं जिस लायक़ हूँ, वह पति के द्वारा ही।

कानपुर से 'सोज़ेवतन' का पार्सल आया। एक कॉपी रख ली। बाक़ी मजिस्ट्रेट को वापस कर दी गई।

उन दिनों मैं अकेली महोबे में रहती थी। वे जब दौरे पर रहते तो मेरे साथ ही सारा समय काटते और अपनी रचनाएँ सुनाते। अंग्रेज़ी अख़बार पढ़ते तो उसका अनुवाद मुझे सुनाते। उनकी कहानियों को सुनते-सुनते मेरी भी रुचि साहित्य की ओर हुई। जब वे घर पर होते, तब मैं कुछ पढ़ने के लिए उनसे आग्रह करती। सुबह का समय लिखने के लिए वे नियत रखते। दौरे पर भी वे सुबह ही लिखते। बाद को मुआइना करने जाते। इसी तरह मुझे उनके साहित्यिक जीवन के साथ सहयोग करने का अवसर मिलता।

जब वे दौरे पर होते, तब मैं दिनभर किताबें पढ़ती रहती। इसी तरह साहित्य में मेरा प्रवेश हुआ।

उनके घर रहने पर मुझे पढ़ने की आवश्यकता न प्रतीत होती।

मुझे भी इच्छा होती कि मैं भी कहानी लिखूँ। हालांकि मेरा ज्ञान नाम-मात्र को भी न था, पर मैं इसी कोशिश में रहती कि किसी तरह मैं कोई कहानी लिखूँ। उनकी तरह तो क्या लिखती। मैं लिख-लिखकर फाड़ देती रही। और उन्हें दिखाती भी नहीं थी। हाँ, जब उन पर कोई आलोचना निकलती तो मुझे उसे सुनाते। हमें उनकी अच्छी आलोचना प्रिय लगती। काफी देर तक यह खुशी रहती। मुझे यह जानकर गर्व होता कि मेरे पति पर यह आलोचना निकली है। जब कभी उनकी कोई आलोचना कड़ी निकलती, तब भी वे उसे बड़े चाव से पढ़ते। मुझे तो बहुत बुरा लगता।

मैं इसी तरह कहानियाँ लिखती और फाड़कर फेंक देती। बाद में गृहस्थी में पड़कर कुछ दिनों के लिए मेरा लिखना छूट गया। हाँ, कभी कोई भाव मन में आता तो उनसे कहती, इस पर आप कोई कहानी लिख लें। वे ज़रूर उस पर कहानी लिखते।

कई वर्षों के बाद, १९१३ के लगभग, उन्होंने हिन्दी में कहानियाँ लिखना शुरू किया। किसी कहानी का अनुवाद हिन्दी में करते, किसी का उर्दू में।

मेरी पहली 'साहस' नाम की कहानी चाँद में छपी। मैंने वह कहानी उन्हें नहीं दिखाई। 'चाँद' में आपने देखा। ऊपर आकर मुझसे बोले—अच्छा, अब आप भी कहानी-लेखिका बन गईं? बोले—यह कहानी आफ़िस में मैंने देखी। आफिसवाले पढ़-पढ़कर खूब हँसते रहे। कइयों ने पर मुझ सन्देह किया।

तब से जो कुछ मैं लिखती, उन्हें दिखा देती। हाँ, यह खयाल मुझे ज़रूर रहता कि कहीं मेरी कहानी उनके अनुकरण पर न जा रही हो। क्योंकि मैं लोकापवाद को डरती थी।

एक बार गोरखपुर में डा० एनीबेसेंट की लिखी हुई एक किताब आप लाये

मैंने वह किताब पढ़ने के लिए माँगी। आप बोले—तुम्हारी समझ मे नहीं आयेगी। मै बोली—क्यो नही आयेगी? मुझे दीजिए तो सही। उसे मै छ महीने तक पढती रही। रामायण की तरह उसका पाठ करती रही। उसके एक-एक शब्द को मुझे ध्यान मे चढा लेना था। क्योंकि उन्होंने कहा था कि यह तुम्हारी समझ मे नही आयेगी। मै उस किताब को खतम कर चुकी तो उनके हाथ मे देते हुए बोली—अच्छा, आप इसके बारे में मुझसे पूछिए। मै इसे पूरा पढ गई। आप हँसते हुए बोले—अच्छा!

मै बोली—आपको बहुत काम रहते भी तो है। फिर बेकार आदमी जिस किसी चीज के पीछे पडेगा, वही पूरा कर देगा।

मेरी कहानियों का अनुवाद जब अन्य भाषाओ मे होता तो आपको बडी प्रसन्नता होती। हाँ, उस समय हम दोनो को बहुत बुरा लगता, जब दोनो से कहानियाँ मांगी जाती। या जब कभी रात को प्लाट ढूँढने के कारण मुझे नीद न आती, तब वे कहते—तुमने क्या अपने लिए एक बला मोल ले ली। आराम से रहती थी, अब फिजूल की एक झंझट खरीद ली। मैं कहती—आपने नही बला मोल ले ली! मै तो कभी-कभी लिखती हूँ, आपने तो अपना पेशा बना रखा है।

आप बोलते—तो उसकी नकल तुम क्यों करने लगी?

मै कहती—हमारी इच्छा! मै भी मजबूर हूँ। आदमी अपने भावो को कहाँ रखे?

किस्मत का खेल कभी नही जाना जा सकता। बात यह है कि वे होते तो आज और बात होती। लिखना-पढना तो उनका काम ही था। मै यह लिख नही रही हूँ, बल्कि शान्ति पाने का एक बहाना ढूँढ रखा है। बीसो वर्ष की पुरानी बातें याद करके मेरा दिल बैठ जाता है। मेरे वश मे है ही क्या? हाँ, पहली बातो को सोचकर मुझे नशा-सा हो जाता है। उस नशे से कोई उत्साह नहीं मिलता है, बल्कि एक तडपन ही पैदा होती है। अब बीती बातों को याद करके मन बहला लेती हूँ।

१९१३ के लगभग

कानपुर का "प्रताप" निकला था गणेशशंकर के हाथो। उन्होने लेख मांगा था। आपने लेख लिखकर उन्हें भेज दिया। कानपुर मे आपका कोई काम था। बस्ती से वहाँ गये। 'प्रताप' आफ़िस भी चले गये। वहाँ जाकर देखा कि विद्यार्थीजी ज्यादा से ज्यादा काम अपने हाथो कर रहे है। वहाँ से लौटकर मुझसे बोले—विद्यार्थीजी बडे मेहनती है। कार्यालय का बहुत काम अपने ही हाथो करते है।

आप बोले—नही जी ! दाल-रोटी तो चाहिए। और ज्यादा से हमसे क्या मतलब ?

मै बोली—खुद के लिए तो कोई ज़रूरत नही है सही, पर और वलाएँ भी तो है। उनका क्या होगा ? अभी आधी तनख़्वाह पर छ महीने की छुट्टी ली थी। मुश्किल से ख़र्च चल पाता था। मैं अपने घर थी। आप कानपुर थे, खाली छोटक और चाची थी, तब भी नहीं पूरा पडता था। आपका ही कहना है कि अपने हाथ से दूध जमाकर मट्ठा बनाता था। एक आदमी रखने की गुंजाइश न थी। विद्यार्थीजी का क्या, वे आप जैसे नही हैं। उनके सिर पर कोई बोझा नही। उनके बाप जिन्दा है, वडे भाई है। बहुत मुमकिन है कि विद्यार्थीजी उनसे सहायता भी पाते हो। यहा सबका बोझ तुम्हारे सिर पर है। उनकी और तुम्हारी कुछ भी बराबरी नही। आप चुपके से अपना काम करते जाइए।

आपको जैसे चिन्ता-सी हो गई। मानो कोई भूली बात याद आ गई हो।

उनको साहित्य-सेवा की चिन्ता हमेशा रहती। बनारस दवा लाने वे गाँव से रोज़ जाते। ठीक बारह बजे कडी धूप मे लौटकर घर आते।

'उस पर कोई आपके ऊपर रहम नही करता था, न कोई दवा ही लाकर दे देता। मूँग की दाल में लाल मिर्च की बघार पडती थी। आप भूल गये इस बात को ? सबके खिलाने का जिम्मा आप पर ही होगा।'

आप बोले—जाने भी दो, जी।

मैं बोली—और क्या !

आप बोले—ख़ैर देखा जायगा। मेरी यह इच्छा कभी न कभी ज़रूर पूरी होगी।

मै बोली—इन लोगो को तो पहले किनारे करो।

इन सब बातो को सोचकर उनके बारे मे मेरे मन मे तरह-तरह के कुतूहल पैदा होते हैं।

जुलाई के आरंभ मे बीमार होने पर भी आप बस्ती स्कूल मे चले आये।

उनकी प्रवृत्ति देखकर यही लगता था, जैसे वे काम करने के लिए ही पैदा हुए है।

कभी-कभी उन पर मुझे गुस्सा भी आता था। घर के सारे आदमी उन्हें परेशान करते, पर वे ज़रा भी ध्यान न देते। सारी तकलीफों को वे ख़ुशी से बर्दाश्त कर लेते। अब मेरी समझ मे यह बात आती है कि वे कितने महान् थे। वे बुरों के साथ भी भलाई का व्यवहार करते। यह हिन्दुस्तान की ख़ासी विशेषता है कि किसी के जीवन-काल मे मनुष्य उसे ठीक-ठीक नहीं पहचान पाता। हाथ से खो जाने पर ही मनुष्य को उसकी कीमत का पता लगता है। अगर मै पहले उन्हें समझ गयी होती तो मेरी यह दशा न होती। मै पहले इन बातों की आलोचना न करती। जैसे-जैसे इन सब बातों को समझती हूँ, वैसे-वैसे कलेजे पर छुरियां सी चल जाती है। वही मै हूँ। सब बातें उस तरह से है। समय वही है। हाथ मलना ही ख़ाली बाक़ी रह गया है।

बस्ती, १९१४

एक दिन की घटना है कि दरवाज़े पर उनके पहले साले बैठे थे। आप उन्ही से बाते कर रहे थे। वे अपनी बहन के बारे मे आपसे बाते कर रहे थे। वे दु.खी भी थे। इत्तिफाक से मेरी दो साल की लडकी कमला बकवों दरवाज़े पर चली गई। मै उसे देखने के लिए दरवाज़े के तरफ गई। मैने देखा लडकी उनके साले साहब की गोद मे थी। वे बड़े प्यार से उसे चुमकार रहे थे। इसी बीच वे रंजीदा स्वर मे बोले—अगर हमारा सम्बन्ध भाईचारे का भी होता तो क्या मेरी बहन इसे प्यार न करती। इस पर आप ख़ामोश थे। वे बहुत-सी बाते अपनी बहन के विषय मे कहते रहे। मै बडे ध्यान से उनकी बाते आड में सुनती रहीं। मेरे भी बदन का ख़ून गरम हो रहा था उस समय। उसके बाद वे चले गये। आप लड़की को लेकर अन्दर आये। वही पहला दिन था, जब मुझे मालूम हुआ कि वे अभी जिन्दा हैं। मुझे तो धोखा दिया जाता रहा कि वे मर गई हैं।

मैने कहा—कौन साहब थे ?

आप बोले—एक महाशय थे।

मै बोली—मुझे आपसे ऐसी उम्मीद न थी कि आप झूठ बोलेंगे ।

आप बोले—जिसको इंसान समझे कि जीवित है, वही जीवित है, जिसे समझे मर गया, वह मर गया ।'

मै—मै इसे मानने को तैयार नही हूँ। आप कृपा करके उन्हें ले आइए।

'मै तो लेने नही जाऊँगा।'

मै—क्यो नही जाइएगा ? शादी हुई थी, तमाशा नही था।

'मैने नही शादी की थी। मेरे बाप ने शादी की थी।'

मै—बाप ने तो जो अपनी शादी की थी, उसे आप गले बांधे फिर रहे हैं। बाप की शादी की जिम्मेदारी तो आपके सिर है, अपनी नही ? यह जिम्मेदारी का तुक नही है ।

'चाहे हो या न हो। मै लाऊँगा नही।'

मै—क्या बात है ? एक आदमी का जीवन मिट्टी मे मिलाने का आपको क्या हक है ?

उन्होंने कहा—हक़ वग़ैरह की कोई बात नहीं।

मै—भला आप क्या कहते हैं। क्या यही हिन्दू-सस्कार के मानी है।

'आज न मालूम वह कम्बख़्त कहाँ आ गया कि उसे देखकर दुनिया भर की बातें तुम सुनाने लगी ।'

मै कुछ नरम पडी। सोचा कि क्रोध से काम नही चलेगा। प्यार से बोली—आप उनको लिवा लाइए। उनकी जिम्मेदारी मेरे सिर रहेगी।

'तुमसे झगडा होगा ।'

मै—जैसे मै घर-गृहस्थी के बारे मे कुछ सलाह आपसे नही लेती, वैसे ही उनके बारे मे मै आपसे कुछ न कहूँगी। मै चाहती हूँ कि उन्हें ख़ुश रखूँ। हम दोनो बडे आराम से रहेंगे।

'तुम लोग तो आराम से रहोगी, सज़ा मुझे भुगताओगी।'

मैं—ईश्वर कसम। आपसे सच कहती हूँ, जो इस विषय मे आपसे कुछ मैं कहूँ।

'भाई, तुम अपनी इच्छा के अनुसार जो करना चाहो करो। मै कुछ न बोलूँगा।'

मै खामोश हो गई।

मैने उन्हें 'प्रिय बहन' करके खत लिखा। उन्हे बुलाया था। उसके चौथे रोज उसका जवाब आया कि जब वे खुद लेने आयेंगे तो मै चलूँगी। मै तुमको देखना तो चाहती हूँ, पर उन्हें भेजिए लिवा लाने को।

मैने उन्हें वह खत उठाकर दे दिया। उन्होने कहा—नहीं आईं तो मै क्या करूँ ?

फिर उन्हें मै बराबर खत लिखा करती थी। उनका खत कैथी में लिखा रहता था। उसे मै उन्हें दे दिया करती थी।

यहीं बस्ती में, १९१४ में, प्राइवेट एफ० ए० भी उन्होंने पास किया।

जब वे प्राइवेट पढ रहे थे तो उनके सिरहाने सलाई, लालटेन, किताब रखी रहती थी। कभी-कभी मै चारपाई पर से ही उन्हें आवाज़ दे दिया करती थी कि उठिए, समय हो गया है। ५ बजे तक आप पढते रहते थे। ५ बजे उठकर पाखाने जाते, हाथ-मुँह धोते और तत्काल जो कुछ मिलता, नाश्ता कर लेते। यही उनके रोज के काम थे। इसके बाद छ: बजते-बजते फिर अपने कमरे मे लेख, कहानियां लिखते थे। फिर नौ तक वे साहित्य-सेवा में लगे रहते थे। बाद में पाखाने जाना, नहाना, खाना होता। फिर कपडा पहनकर स्कूल जाते। बस्ती मे, स्कूल जाते हुए तो एक्के से जाते थे, पर लौटते थे पैदल। रोज़ाना दो आना मुझसे किराये के लिए लेते थे। लौटते हुए तरकारी वग़ैरह खुद उधर ही से लेते आते। साढे तीन बजे घर पर पहुँचते, कभी चार भी बज जाता था। गृहस्थी का काम मेरे करने पर भी कुछ-न-कुछ रह ही जाता। चार बजे आते ही कुछ नाश्ता करते। उसके बाद पांच तक गप-शप करते रहते। फिर छः बजे से लेकर आठ तक कुछ-न-कुछ साहित्य की सेवा करते।

बीमार तो वे महोबा ही से थे। इतना सब होते हुए भी वे सेकेण्ड पास हुए थे। किसी काम से हार मानना तो उन्होंने सीखा ही न था। घर में बेटी को बड़ी देर तक खिलाते रहते। उसके बाद पास-पड़ोस में किसी से मिलने-जुलने जाते तो बेटी को गोद में उठाते जाते। बच्चों का प्यार उनमें बहुत था। लौटती बार शाम के समय वे कुछ थक जाते थे। मैं चाहती—पैर वग़ैरह दबा दूँ, पर उन्हें यह सब बहुत नागवार मालूम होता था।

कभी-कभी मैं जिद करके दबा देती, तो वे विवश हो दबवा लेते थे। स्त्रियों से काम करवाना उन्हें पसंद न था। हुक्के की चिलम तक भरवाना मुझसे वे पसन्द न करते थे। नौकर दरवाज़े पर बैठा रहता था, लेकिन अन्दर आकर वे पानी पीते थे। धोती भी ख़ुद धो लेते थे, यद्यपि नौकर ख़ाली ही रहता। कभी-कभी मैं इन हरकतों पर बिगड़ भी जाती और कहती कि नौकर फिर क्यों है? आप बोलते—अपनी ज़रूरतें ख़ुद पूरी करना आदमी का धर्म है। आज तो नौकर है, हो सकता है कि कभी नौकर न रहे, फिर मैं पाँच रुपए का नौकर तो ख़ुद था।

मैं—मैंने तो नहीं देखा।

'तुम्हारे न देखने से क्या? मैं तो भुगत चुका हूँ। इसलिए इन्सान को अपनी ज़रूरत ख़ुद रफ़ा करनी चाहिए।'

जुलाई १९१५

इसके बाद वहीं आपका हाज़मा ख़राब हुआ। हाज़मे की ख़राबी की वजह से आपने वहाँ से तबादला करवा लिया। सोचा था कोई अच्छी जगह देंगे। मगर दी नेपाल की तराई, बस्ती। यहाँ भी हाज़मा ख़राब रहा। चार-छः महीना रहने के बाद मेरे पिता ने बुलाया। और एक महीना प्रयाग में ही रहकर दवा कराई। मैं भी साथ थी। वहाँ से बिना अच्छा हुए ही आप फिर बस्ती चले आये।

मैं अपने पिता के घर रही। मेरे पिता बोले—बेटा, देखो! अपनी दवा करो। एकबार और छुट्टी लो।

इस बार छः महीने की लम्बी छुट्टी आपने ली। आधी तनख़्वाह मिलती थी। २५)। उसमे १०) मा को दे देते थे, १५) अपने भाई को देते थे, जो झाँसी स्कूल में पढ़ता था। पता नहीं वे कैसे अपना खर्च चलाते थे। लेखो के रुपयों से शायद वे अपना गुजर करते रहे हों। कानपुर और लखनऊ दोनो जगह दवा कराते थे।

मैं अपने पिता के घर पर थी। दिसम्बर महीने में मुझे बुलाने मेरे घर गये। पिता से कहलाया कि मैं बिदा कराने आया हूँ। पिता ने उसी आदमी से कहलाया—वे बड़े आराम में पड़ी है। आधी तनख्वाह पा रहे हैं, क्यो झंझट पाल रहे है। ख़ुद भी तो कभी लखनऊ, कभी कानपूर रहते हैं।

खैर, वे वापस गये।

फिर अप्रैल के महीने में आये और बिदाई के लिए कहा। फिर पिता ने वही जवाब दिया। उस दफे उस आदमी से उन्होंने कहलवाया—क्या जिसकी आमदनी ज़्यादा न हो या जो बीमार हो वह अपने बीवी-बच्चे को न ले जाय।

जब मेरे पिता को यह बात मालूम हुई तो उसी आदमी से बोले—मुझे इसमे कोई एतराज नहीं है। मैं तो उनके फ़ायदे के लिए कहता था।

अप्रैल के महीने मे मुझे लिवाकर वे लमही आये। इसके बाद दो महीने आप लमही मे रहे। शहर रोजाना पैदल आते थे और हकीम के यहाँ से दवा ले जाते थे। कहीं बारह बजे के करीब फिर गाँव वापस जाते थे। पथ्य तो मूँग की दाल का देती थीं चाची, लेकिन उसमें मिर्चें की बघार देती थीं। पेचिश दिन-दिन बढ़ती जाती थी। मुझसे रोज़ पेचिश की शिकायत करते थे।

दो महीने बाद फिर बस्ती गये। फिर वही हालत। कोई पन्द्रह रोज़ रहने के बाद फिर वापस आये। वहीं डुमरियागंज तहसील मे मन्नन द्विवेदी

'गजपुरी' से भी उनकी भेंट हुई। उनसे कभी-कभी साहित्यिक बातें होती थी। डुमरियागज जाते तो उन्हीं के यहाँ ठहरते। उसके बाद फिर घर छुट्टी लेकर आये। फिर तबादले की दरख़्वास्त दी। उस पर भी साहब ने कुछ ध्यान नहीं दिया। फिर इलाहाबाद गये। डाइरेक्टर से मिले। बोले—बस्ती की आबहवा मेरे माफिक नहीं है।

साहब—तुम्हें न महोबा की आबहवा पसन्द, न बस्ती की, बताओ कहाँ भेजूँ ? तुम्हारी मास्टरी की जगह ४०) की है, जा सकते हो। मंजूर है ? आप बोले—बाद को लिखूँगा।

घर आये। मैंने पूछा—क्या हुआ ?

'हुआ क्या यार, कुछ भी नहीं। कमबख़्त झल्लाता है, कहता था, किस जहन्नुम मे भेज दूँ ? इसके बाद बोला—४०) मास्टरी की जगह पर जा सकते हो।'

मैं—तो आप क्या कह आये ? अभी तो मैंने कुछ जवाब नहीं दिया। जैसा कहो, वैसा करूँगा।

मुझे इन सब बातो से बहुत क्रोध आया और अपनी बेकसी पर अफसोस भी हुआ। बोली—तो मास्टरी क्या बुरी है ? वे बोले—तुम्हें मालूम है, चालीस ही मिलेगे।

'हाँ, मालूम है, ४०) ही मिलेंगे तो क्या ?'

'बताओ खर्च कैसे चलेगा ?'

'देखा जायगा, जैसे चलेगा। खर्च के लिए प्राण तो नहीं दिये जा सकते।'

आप बोले—सब मिलाकर इस समय तुम्हारे घर पर १००) रुपए आ जाते हैं, फिर भी खर्च नही चलता।

मैं—मै कहती हूँ १०००) में भी खर्च नही चल सकता। जो १०) कमाता है, उसी में वह भी निर्वाह कर लेता है।

'मैं नहीं जानता, मैं तो सब करने को तैयार हूँ।'

मैं बोली—मैं भी तैयार हूँ। कोई बात नही।

'यों ही लोग परेशान करते है।'

मैने कहा—सिधाई के सब नतीजे है। देखते है लोग कि मर रहे हैं; पर दवा के लिए भी नहीं पूछते। और नहीं, दाल में मिर्चें की बघार दी जाती है। भला यह भी कोई बात है।

'खैर, तुम्हारी इच्छा! मै दर्खास्त दिये देता हूँ।

फिर मंजूरी आई। उन दिनो हम बनारस थे। जिस दिन मंजूरी आई, बोले—चलो फिर वहीं बस्ती।

मैने कहा—चलो, दौरा तो न करना होगा।

८ जुलाई को फिर हम आये बस्ती। साथ में मै, मेरी लड़की और उनके भाई थे। फिर पुरानी बस्ती मे हम लोगो ने मकान लिया। पहले तो मेरे बहनोई के यहाँ, जो वहाँ पोस्टमास्टर थे, ठहरे। दोनो आदमियो ने मिलकर मकान ठीक किया। खाने-पीने का वहाँ ठीक रहा।

एक रोज का वाक़या है आप बाज़ार गये मछली, तरकारी, पान वगैरह लाने। वहीं पं० मन्नन द्विवेदीजी से भेंट हुई। पंडितजी को साथ लिये घर पर आये। आकर बोले—पंडितजी घर पर बैठे है। पान तो बना लाओ। वे खुद हाथ धोकर तश्तरी मे पान लेकर बाहर आये। उनसे कुछ देर तक गपशप होती रही। फिर पंडितजी अपने घर गये।

आप अन्दर आकर बोले आज मछली खरीदते हुए ही पंडितजी मिले। बडा मसखरा आदमी है। साथ ही जानदार भी है।

मैने कहा—आपको तो मै कई बार टोक चुकी हूँ कि और किसी से मँगा लिया कीजिये, पर आप मानते नहीं।

आप बोले—मुझे अपना काम करते शर्म नहीं मालूम होती। अपना काम करना क्या जुर्म है? फिर मै अपने को मजदूरा कहता भी तो हूँ।

मैं—आप हथौड़ा क्यो नही चलाते?

'फावड़ा नहीं चलाता तो कलम तो चलाता हूँ।'

मैं—अगर आप फावड़ा चलाते होते तो आपको मैं रोटियां पहुँचाती होती।

'अच्छा, वाहर न सही, घर में तो देती हो। अगर मेरा सौदा वाजार मे कोई दूसरा लाता तो क्या महराजिन की ज़रूरत न पडती ?

मैं—महराजिन का तो कोई सवाल नही। अगर आप अपने को हर हालत के लिए तैयार रख सकते है, तो क्या मै इतना भी नही कर सकती ?

'इसके लिए ईश्वर को धन्यवाद है।'

'इसके लिए ईश्वर को धन्यवाद है।'

वहाँ ४०) मिलते थे। १०) विमाता को वरावर भेजते रहते थे। वाकी में हम तीन थे।

यह सन् १४ की बात है

दो-तीन दिन वीतने पर पडितजी ने तीन-चार खांची मछलियाँ भेजी और साथ मे एक दोहा—

धीमर ने फाँस्यो अभी दीन हीन सफरीन
प्रेमचन्द भोजन करैं विद्या-बुद्धि प्रवीन।

आप तो घर पर थे नही। उसे मैने रखवाया और चार-चार आने विदाई देकर उन आदमियो को वापिस किया। कविता उठा कर पढी। मुझे भी हँसी आई। साथ ही चिन्ता भी कि इतनी मछलियाँ होगी क्या ? मनाती थी कि जल्दी आयें तो कोई प्रवन्ध हो। जब शाम को आये ३॥ वजे तो टोकरो में आँगन मे मछलियाँ रखी थी। कपडे भी उतार न पाये थे कि वेटी को उठा लिया। उसको गोद में लिए हुए मछलियों पर निगाह पडी।। वोले - ये कहाँ से आ गई ?

मै वोली—यही नही आई इसके साथ एक कविता भी आई है। यह पंडितजी की शरारत है।

आप वोले—मैं समझता था कि जरूर वे इस पर मज़ाक करेंगे। वोले- ये होगी क्या ?

मैं—मेरी समझ मे तो खुद नहीं आता कि यह क्या होगी। इसे बॅटवाइये। कुछ जीजा के यहाँ भिजवाइये। और जगह भी भिजवाइये।

शाम को किसी तरह मछलियो की बला टली। तब से हमेशा मैं डरती रहती थी कि कहीं फिर न इन्हें बाज़ार मे वे मिल जायॅ। मगर उनको इसकी फिक्र न थी। वे तो अपना काम करना जानते थे।

जब पंडितजी दुबारा फिर बस्ती आये मछलियो पर काफी कहकहा रहा। साथ ही उन्होने यह भी कहा कि 'पंडितजी, आपकी बनाई वह कविता मुझे बहुत पसन्द आई। फिर तुम ऐसी कविता लिखोगे, तो मैं भी कुछ लिखकर भेजूँगा।'

उसी बस्ती मे एक दिन कुआर का महीना था—हथिया का पानी बरस रहा था। मकान गिर रहे थे। हम चार आदमी भी साथ ही एक मकान मे बैठे थे कि मकान गिरेगा, तो फिर जो कुछ होगा हम साथ ही खतरा उठायेंगे। दूसरे रोज किसी तरह पानी निकला। आप स्कूल गये। हेडमास्टर बोला—कल आप क्यो नही आये?

'साहब, उधर पानी बहुत तेज़ था।'

हेडमास्टर—क्या आप नमक थे, गल जाते?

मैं नमक तो नही था। हाँ, मेरे पडोस के मकान गिर रहे थे। मुमकिन है, मेरा भी मकान गिर पडता।

हेडमास्टर—क्या आप रहकर उसे गिरने से रोक लेते?

आप बोले—रोक तो नही सकता था। हाँ, साथ मर सकता था।

हेडमास्टर—फिर आप इसीलिए रुक गये थे?

आप बोले—जी।

आप घर का काम करने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। हमेशा घर के काम मे मदद भी करते थे। यह काम मुझे अनुचित मालूम होता। मै चाहती थी कि बाहर का काम उनके जिम्मे और भीतर का मेरे। जो काम मुझे करना होता, उसे वे मेरे सोते रहते ही खतम कर देते, क्योकि मै ऐसे कामो के लिए,

उन्हें हमेशा रोकती थी। इस पर कभी-कभी मैं नाराज भी हो जाती। कोई घर का भारी काम करना होता, तो उनकी चोरी में पहले ही कर लेती। क्योंकि वे कई साल बीमार रहने के कारण कमजोर पड गये थे, इसलिए हम दोनों में हमेशा होड़-सी लगी रहती। इसी तरह हमारा घर का काम चलता था।

चार साल पहले की बात है....फिर बस्ती

४ साल की बात है। वहां पर वोटिंग का प्रश्न था। वे चाहते थे कि कांग्रेस मैन वोट पाये। उन लोगों ने कहा कि हमें एक कुएँ की ज़रूरत है। बोले—मैं कुआं तुम्हारे लिए बनवा दूँगा। वोट उन्हीं को देना। उनके हाथों तुम्हारा भला होगा। वहां पर ज्यादा बस्ती काश्तकारों की है। इत्तिफाक से एक वोटर कुरमी था, जो मेंबरी के लिए खडा था। इनके कहने पर भी वहां के सारे वोट उस कांग्रेसी को नहीं मिले। जब मालूम हुआ गांववालों को तो कायस्थ लोग बौखला गये। आकर बोले—इन आदमियों को आप जहां तक, जहाँ से निकाल सकें अच्छा हो। यह आपका अपमान हुआ।

आप बोले—तुम लोग क्या बकते हो? मेरे जीवन का यही ध्येय है, काश्तकारों को सुधारना। मेरी इस बात की कीमत ही क्या, जिसके पीछे मैं सबको तबाह कर दूँ। लोगों ने न माना तो अपनी हानि की, न कि मेरी। मैं उन्हें तबाह कर दूँ, यह शराफत नहीं है। फिर मैं तो चाहता हूँ वे अपने पैरों खडे हों। आज मैं उनको भला बतला रहा हूँ। कल शायद उन्हें कोई धोखा दे। भेडों की तरह किसी के इशारों पर पब्लिक का चलना कहां तक ठीक है? मैं इसे मुनासिब नहीं समझता। उन्होंने खुद समझकर जो भी किया अच्छा किया। अब सब में कुछ-न-कुछ समझदारी आ गई है। मेरे साले तो इलाकेदार थे, पर वोट नहीं मिले तो क्या वे अपने इलाके को तबाह कर दें या कि उन्हें ऐसा करना चाहिये।

कई महाशय एक साथ बोले—आपका मान भंग हुआ।

'इसमे मेरा गौरव है। मै नीच नही होना चाहता।'

सब अपने-अपने घर गये। घर मे आने के बाद मैने पूछा—क्या था?

'कुछ नहीं जी। गाँववालो ने वोट नहीं दिये, इसी से गरमाये हुए हैं।'

उन्हीं दिनो की एक घटना और है। आप सुबह के समय अन्दर नाश्ता कर रहे थे और दो बच्चो में झगडा हो रहा था। पचीसो आदमी इकट्ठा थे। दो बच्चे एक मे गुँथे मार-पीट कर रहे थे। एक बच्चा दोनो को छुड़ा रहा था। छुडानेवाला उसका भाई था। उन्होने समझा—एक बच्चे को दो आदमी मिलकर पीट रहे हैं। छुडानेवाले बच्चे को दो तमाचे कसकर लगाये और बोले—बदमाश, मारता है! छुडानेवाला बोला—मै तो छुडा रहा था। तब तक मै भी वहीं पहुँच गई। मार खानेवाले बच्चे पर मुझे दया आई। मै बोली—मत रो, बेटे! इनकी ग़ल्ती है।

बच्चा—कुछ नहीं। अपने नाना ही तो थे। मेरे साथ बाबूजी घर आये।

मैं—आपको क्रोध अकारण ही चढता है। वह ग़रीब क्या कर रहा था।

'मैने समझा, वह मार रहा है।'

'पूछ क्यो न लिया। वहाँ की परिस्थिति बिना जाने आपने मारना शुरू कर दिया। वे दोनो के दोनो शैतान है। आप जहाँ का झगडा हटा रहे थे, वहाँ का हाल तो दर्याफ़्त कर लेते।

'हाँ, यही तो गल्ती हुई। मुझे भी क्रोध हो आया।'

'यह कहने से आप बेगुनाह तो नहीं हो सकते।'

'तुम दे लो सज़ा।'

'आइन्दा ऐसी गल्ती न हो, यही सबसे बडी सज़ा!'

'अब ऐसा न होगा।'

बाहर वह बच्चा पत्थर पर बैठा था। उसे वहाँ जाकर चुमकारा। उसके बाद उसे लेकर मेरे पास आये। बोले—इसे कुछ खिलाओ।

मै—अच्छा, मारा आपने, मिठाई मै खिलाऊँ? आप खिलाइये न!

'अरे, तुम्हारा भी तो नाती है।'

एक बार की बात है—मैं बस्ती जा रही थी। आप बीमार ही थे। रात का समय। पेट भारी था। हम तीन आदमी थे। गाडी में भीड बहुत थी। उनके लिए मैंने विस्तर लगा दिया। वे लेटे हुए थे। लडकी भी सोई हुई थी। दो मुसाफिर आये। बोले—औरों को बैठने की जगह नहीं, पर ये सो रहे हैं।

मैं—तुम भी कहीं बैठ जाओ।

'उनको उठा दो।'

'उनकी तबियत अच्छी नहीं है।'

मुसाफिर—जब तबियत ठीक नहीं थी तो चले क्यों थे?

मैं—बक-बक मत करो।

'गाडी का किराया तुम्हीं ने दिया है?'

मैं—अच्छा, जहाँ तुम्हें जगह मिले, वहाँ बैठो।

मुसाफिर—इन्हें उठाकर बैठेंगे।

मैं—उठाओ। मैं ज़रा देखूँ तो।

वह आगे बढा। मुझे क्रोध आया। मैंने क्रोध के साथ कहा—खबरदार, अगर आगे हाथ बढे तो गाडी के नीचे झोंक दूँगी। हम दोनों की बातों से उनकी नींद खुल गई। और उन्होंने हडबडाकर उठना चाहा। मैंने कहा—आप क्यों उठते हैं?

आप—उठ जाने दो। क्यों लडाई करती हो?

मैं—इन गधों से सीधे काम न चलेगा। ये इन्सान नहीं हैवान हैं। मैंने आपकी हालत बताई थी, फिर भी इन गधों को अक्ल नहीं आई। ये ज़ोर दिखाना चाहते हैं। मैं इन्हें झोंक दूँगी। जब उन लोगों ने मुझे क्रोध में देखा तो दबककर खडे रहे। वे लोग कई स्टेशन तक खडे-खडे ही गये। जब वे गाडी से उतर गये तो मुझसे बोले—तुम बडी दिलेर हो। मेरी हिम्मत इस तरह धमकी देने की न पडती।

फिर बोले—मानो वे मुझे जगा देते तो तुम क्या करतीं?

मै—गाडी के नीचे झोंक देती और क्या करती।

'गिरने पर वे ज़िन्दा रहते ? तुम्हें फॉसी न हो जाती।'

'फांसी का प्रश्न तो पीछे उठता है। क्रोध यह सब नहीं देखता।

'तुम बड़ी उद्दंड हो।'

मै—मै कोई लेखक नहीं हूॅ। आखिर वह मेरे साथ ऐसे क्यो पेश आ रहा था ? वह चैलेंज क्यो दे रहा था ? यही समझकर न कि वह बीमार है, और यह औरत है। मै उसे मज़ा चखा देती कि मै पर्देवाली औरत नही हूॅ। वह अगर भलेमानस की तरह आता और कहता तो मै शायद जगा भी देती।

'कुछ भी हो, तुम बहुत उद्दंड हो।'

'मै कब कहती हूॅ कि उद्दंड नहीं हूँ।'

गोरखपुर

गोरखपुर का तबादला हुआ। हमने सब सामान गोरखपुर के लिए बुक कराया। बुक कराने पर पता चला कि जो क्वार्टर हमे गोरखपुर मे मिलेगा, वह एक दिन देर से मिलेगा।

जब वहॉ से आने पर आप खाना खाने बैठे तो बोले—अभी तो हमे कल चलना है, क्योंकि क्वार्टर खाली नहीं। आज ख़त आ गया है। मै भी सोच रहा हूॅ कि कल ही चलूॅ।

मै कई दिनो से बीमार थी। सामने वे बैठे खाना खा रहे थे।

मै—इसके माने यह है कि आप महीने-दो-महीने की छुट्टी लेकर बैठिये।

तब आप बोले—क्या आज ही चलना चाहती हो ?

मै—हॉ, आज ही। सामान तो बुक हो गये। और मै बीमार। और क्या मुसीबत होगी।

आप बोले—चलो, एक दिन स्कूल ही मे ठहर लेगे।

मै—हॉ, चलिये।

हम वहॉ से चले। तीन बजे चलकर शाम को पॉच बजे पहुॅचे।

स्कूल मे हम ठहराये गये। स्कूल के बरामदे मे हमे सब मास्टरो तथा दो सौ के लगभग लडकों ने घेर लिया। कोई आठ बजे के लगभग वहाँ के एक मास्टर मुझे ऐसी हालत मे जानकर अपने घर ले गये। बोले—कल क्वार्टर ख़ाली हो जाने पर मै उसमे चला जाऊँगा। बात एक ही होगी।

१० बजे रात को धुन्नू की पैदाइश हुई। उस समय आपकी उम्र चालीस के आसपास थी। जब लोगो को मालूम हुआ तो मास्टर साहब दायी बुलाने खुद गये। और दरवाजे पर बाजे बजने लगे। उस महल्ले भर में शोर हुआ कि आखिर बच्चा हुआ कहाँ ?

फिर सुबह मास्टर साहब उसी क्वार्टर मे जो हमे मिलने वाला था चले गये।

उस मकान मे हम दो महीने रहे।

धुन्नू मूल मे हुआ था। उसकी पूजा खतम होने पर स्कूल के पूरे स्टाफ को दावत दी गई। फिर हम क्वार्टर मे आये। उसी महीने में आपकी १०) रुपए की तरक्की हुई।

फिर आप बी० ए० की तैयारी में लगे। फिर वही बस्ती का कार्यक्रम चलने लगा। सुबह उठना, पाखाना जाना, वैसे ही नाश्ता करना, आदि।

इन दो लडको को वे बराबर रोजाना कुछ समय तक खेलाते और प्यार करते।

धुन्नू जब आठ महीने का था, तभी मेरे फोडा निकल आया था। उन्ही दिनो आपको १ महीना डाक्टरी पढ़ने का हुक्म इलाहाबाद मे हुआ। हेडमास्टर बोला—आप जाकर पढ आइये। इसमे १०) आपकी तरक्की भी है। इसीलिए मैने आपको रखा।

आप बोले—मै कैसे जाऊँ। मेरी बीवी के पैर मे फोडा हुआ है।

हेडमास्टर—आप अवश्य जाइये। वे अच्छी हो जायँगी।

वे बोले—मुझे तो यह फोडा ख़तरनाक लग रहा है। दो महीने गुज़र गये। कैसे जाऊँ ?

हेडमास्टर—तरक्की आपकी हो जाती और कोई बात नहीं।

आप बोले—तरक्की की न मुझे अधिक ख्वाहिश है न उन्हें। फिर क्यो ऐसा करूँ।

हेडमास्टर—इसका जिम्मा मुझ पर। मै आपके घर को अपने घर की तरह समझूँगा।

'अच्छा, आपके कहने से मै जाता हूँ।'

तब तक मेरा पैर अच्छा भी कुछ हो चला।

मैने भी कहा—जाइये। आप एक महीना के लिये गये भी। तब तक हेडमास्टर रोज़ाना देखने के लिए आते थे।

गोरखपुर मे यद्यपि एक माह तक अकेली रही, फिर भी मुझे ज़रा-सा अकेलापन न महसूस हुआ। सारा स्कूल मुझे अपने परिवार की तरह समझता था। यो तो उनके बहुत स्नेही थे, वे भी सबको प्यार करते थे।

एक माह बाद आप प्रयाग से वापस आये। फिर १०) और तरक्की हुई, ७०) मिलने लगे। उनका भाई लखनऊ मे पढता था, २५) उसे देते थे; बाकी ४५) मे विमाता, मै, लड़की, लडका और आप ख़ुद भी। घर का पैसो का हिसाब मैने विमाता पर ही छोड दिया। फिर वही किचकिच चलने लगी। आपको इन बातो से अशान्ति हो आती थी।

एक रोज़ की बात है मुझसे बोले—और काम मे चाहे शिथिल रहो, करो या न करो; पर रुपयो के झंझट से तो मुझे बरी रखो।

मै—(हँसी मे) कौन तुम्हारा झंझट अपने सिर ले। आपकी बला, आप अपने सिर ले।

बोले—यह काम तुम अपने हाथ मे ले लोगी तो मै और भी कुछ कर-धर सकता हूँ। नही तो हर वक्त मै इसी झंझट से परेशान रहूँगा।

मै—कौन यह ले! आप ही बताइये।

बोले—तुम तो हई हो। मुझसे तुम पाई-पाई का हिसाब ले लो। और मुझे इस हरदम के किचकिच से दूर रखो।

उनके भाई को २५) तो बँधे मिलते ही थे। प्राइवेट खर्चा, कपडे-लत्ते के लिए भी दूसरे महीने कुछ-न-कुछ भेजना ही पडता।

मैं—४५) में क्या करूँगी। आपकी विमाता अलग तनी रहती है।

'कुछ भी हो, तुम सँभालो। इसके लिए तुम मुझसे पहले ही धन्यवाद ले लो।'

मुझे उनकी इस उज्र पर दया आई और मैंने कहा—मैं इस महीने से सारा प्रबन्ध अपने जिम्मे ले लेती हूँ। आप निश्चिन्त रहिये।

७०) तो उन्हें मिल रहे थे। वे रुपये लाकर मुझे उसी दिन दिये। मैंने रुपए लेकर रख लिए। ख़र्च करती रही। सामान लाने वे खुद जाते थे। किसी तरह प्रबन्ध चलता रहा।

मई के महीने मे उनका भाई तालीम पाकर घर आया। दो महीने घर पर रहने के बाद बस्ती मे बन्दोबस्त आफिस में नौकर नियुक्त हुआ तो मैं उन २५) रुपयो को बैंक मे जमा करने के लिए प्रतिमास देने लगी। जब पहले महीने मे मैंने उन्हें पचीस दिये तो उसे उन्होंने जमा न किया, बल्कि बाहर अपनी आलमारी मे रख लिया।

मुझे क्या पता। फिर दूसरा महीना आया। मैंने फिर रुपये दिये कि इसे जमा कर आइये। तो आप बोले—अभी तो उस महीने के रुपये ही पड़े हैं।

मैं हैरत मे आ गयी, बोली—क्या बात है?

तब आप बोले—मेरा ऐसा ख्याल था कि कहीं ख़र्च ही को न घट जाय, पर तुम दुबारा दे रही हो तो देखो, मैं अभी दोनो महीनों के रुपये जमा कर आता हूँ।

'क्या ख़ूब! आप भी अच्छे रहे। खर्च का अन्दाज़ अगर मुझे ठीक न होता और उतने मे चलाना असम्भव लगता तो भला मैं देती क्यो?'

सन् १९१६

सन् १९१६ की बात है, अप्रैल की शायद २० तारीख़ थी। घर से उनके बड़े भाई साहब की मा और छोटी भावज गोरखपुर आई थी। गाँव मे प्लेग था, और उनके भाई साहब इन्दौर में नौकर थे। वहीं अपनी अकेली पत्नी के साथ थे। घर पर कोई और पुरुष न था। और वे लोग सीधे गोरखपुर चले आये और अपना ही समझकर आईं। उनका आना हमारी चाची साहब को अच्छा न लगता था। और उन्हीं का विषय लेकर वह रोज़ झगड़ा करती थीं उन्हीं से। एक समय वह चौके में खाना खा रहे थे। और कौनसी बात हुई, यह तो मुझको मालूम नहीं मगर जब वह मेरे पास आये तो मैंने पूछा—आख़िर बात क्या है तुममे रोज़ झगडा क्यो हुआ करता है। बोले—झगडा इस बात का है कि उनका लडका अब इसी साल कहीं न कहीं नौकर हो जायगा, वह समझती है कि जो कुछ वह कहें वही मै करूँ। छोटी भाभी जो घर से मेरे पास आ गई है, वह क्यो आईं, यही झगडे की बात है। वह अपना ही समझकर मेरे पास आईं। और वास्तव में अगर देखा जाय तो क्या मैं उनका कोई ग़ैर हूँ। अगर वह मेरी सौतेली मा हैं तो वह भी मेरी चाची है। मै तो समझता हूँ कि दोनों का हक़ मेरे ऊपर एक-सा है। अगर यह बात तुमको बुरी लगती तो मै समझता कि यह वाजिब है। मगर यहाँ उलटा होता है। जब मै सुनता हूँ तब बार-बार यही कहती हैं कि तुम लोग गरमी की छुट्टियों मे चले जाओगे तो हम किराये का मकान लेकर शहर में अलग रहेंगे।

मै बोली—अलग ही रहना है तो बस्ती मे जो जगह मिलती है वहीं क्यो नहीं भेजते। अलग ही रहना है तो गोरखपुर मे क्यों, बस्ती मे भेजिए।

आप बोले—अजी कुछ नहीं, यह समझती हैं कि अब मै उनकी कमाई खाने के लिए तैयार हूँ। और मै कहता हूँ कि जिस दिन मुझे किसी की

कमाई खाने का वक्त आयेगा मै उस समय जहर खा लूँगा। मै इतना नीच नही हूँ। मैने उनसे कह दिया है।

मै बोली—इसमे तो झगडे की कोई बात नही है। अपनी-अपनी फिक्र करनी चाहिए, दूसरो की क्या फिकर है।

उन दिनो मेरी गोद मे आठ माह का धुन्नू था। और मुझे दो माह से दस्त की बीमारी थी। मै कुछ खाती न थी, फिर बच्चा दूध क्या पीता। डाक्टरो ने कहा था कि अगर बच्चे को दूध पिलाया गया तो मा को थाइसिस हो जाने का खतरा है। इस डर से डेढ़ सेर दूध आता था कि बच्चा पियेगा और कुछ का दही तैयार किया जायगा, जिसका कि मट्ठा मै पीती। होता उसका उल्टा था। आध सेर दूध चाची पहले ही अपने लडके को रख देती। बाकी एक सेर दूध, उसमे से थोडा दूध उनको भी दे देती, और एक बच्ची थी उसको भी दूध चाहिए। अब बच्चे के लिए दिन भर के लिए बचा आधा सेर दूध। आमदनी ऐसी नही कि ऊपर से अधिक दूध और मँगाऊँ। फल यह होता था कि बच्चे को साबूदाना पानी मे उबालकर खिलाना पडता। उसका फल यह हुआ कि उसको खून के दस्त होने लगे।

एक दिन ग्वाला दूध लेकर दरवाजे पर आया, आप दूध लेने के लिए लोटा लेने आये। मै बोली—अब से बच्चे भर के लिए दूध आयेगा और किसी के लिए नही।

गोरखपुर, सन् १६

सन् १६ की बात है। आपकी बहन मेरे यहाँ गई हुई थी। उनके पास भी दो बच्चियाँ थी, वे थी। दो हम, तीन वे। इन्फ्लुएजा में बीमार पडे। अब उनकी सेवा का हाल सुनिए—बडे सुबह उठना, उसके बाद आग तैयार करना, हुक्का पीकर काढा चढाना। तब तक पाखाना जाना। पाखाने से लौटने के बाद, पानी, दातौन मुझे और अपनी बहन को पहले दे जाना, तब तक धुन्नू, बेटी, अपनी भांजी आदि का हाथ-मुँह धोना। यदि

उनकी भांजी अच्छी रहती तो लड़को को दूध खुद पिला देती।

इन सब कामो को करने के बाद तब आपको खाना बनाने की होती। हाँ लडकी स्वस्थ रहती तो वह खुद बना देती। उसको अगर बुखार चढ आता तो मजबूर हो जाती। खाना बनाकर सबको जूस-पानी देना भी उन्हीं का काम था। पान बनाकर मेरे डिब्बे मे रखकर, धुन्नू को गोद मे लिये ही स्कूल चले जाते थे। फिर बारह बजे आते। फिर बेटी को दूध पिलाते, धुन्नू को दूध पिलाते। फिर पान खाकर धुन्नू को लिये स्कूल चले जाते। शाम को फिर उसी तरह।

अब दो बच्चो को सुलाना भी उन्हें पडता। एक को एक तरफ़, दूसरे को दूसरी तरफ़। रात मे लडके पेशाब कर ही देते थे, तो आप खुद भीग जाते और फिर कपडे बदलते, दूसरा बिछावन बिछाते।

जब से धुन्नू हुआ, बेटी को बराबर अपने पास रखते थे। कही रात में बच्चे रोने लगे तो रात भर उन्हें लटकाये जागते रहते। क्रोध तो उन्हें छू तक नही गया था। उसके तीसरे वर्ष दूसरा बच्चा हुआ तो वे धुन्नू को भी अपने पास रखने लगे।

वह मेरा लडका ग्यारह महीने का होकर चेचक से बीमार पडा। चेचक काली थी। मैने लडके की हालत देखकर कहा—कोई डाक्टर बुलाइए। चेचक का रंग ख़तरनाक है।

आप अपने पढने-लिखने के कमरे मे गये और डाक्टरी की किताब वहां से देखकर आये।

मुझसे बात करते हुए उनका गला भरा हुआ था। कमरे मे शायद रो रहे थे। बोले—तुम्हारा यह लडका बचता नही मालूम होता।

मै—पहले डाक्टर बुलाइए।

'डाक्टर को लाता ही हूं, पर मुझे विश्वास नही।'

मुझे आश्वासन देते हुए बोले—मरना-जीना तो लगा ही रहता है। क्या करोगी। अपना बस क्या है ?

उसी समय चाची को तार दिया। वे अपने मायके में थीं। जब दूसरे रोज़ आई, तब उनसे बोले—बेटी और धुन्नू को लेकर तुम मरदाने कमरे में रहो। ये तो भला बचे रहें। मेरी तो राय है कि इन्हें घर से भी दूर रखा जाय।

चाची—नहीं चेचक के दिनों में बाहर जाना ठीक नही। वे अलग रहने लगीं।

लड़का ग्यारहवें दिन ठण्ढा होने लगा।

फिर डाक्टर आया। उसने कहा—सब्र कीजिए।

रात को जिस समय वह मरा, मै और वे थे। मैं चाहती थी, वह खुद भी दूर रहें।

जब उन्होंने मुझे रोते देखा, जब कि बच्चा मर गया था, तो मेरा हाथ पकड़कर वहाँ से उठा लाये और मुझसे बोले—क्यों रोती हो? क्या सुख उससे तुम्हें मिला? ग्यारह ही महीना जिन्दा रहा, उस पर भी बराबर बीमार। मै तो ज़िन्दा ही हूँ। असल में मै ही तुम्हारा हूँ।

उस दिन रात भर मुझे पकड़े रहे। वे बैठे भी बराबर रहे रात भर। सुबह जब उसकी लाश चली गई तो उसके सारे सामान जलवा दिये। फिर सारे कमरे को फिनायल से धुलवाया। उसके बाद वहां पर हवन कराया। फिर उस कमरे में नौ महीने तक ताला पड़ा रहा। उन्होंने अपने हाथ से कमरा बन्दकर ताली बाहर फेंक दी। उसकी एक-एक चीज़ को नहीं रहने देते थे।

इसके बाद खुद बीमार पड़े। जो उन्होंने अपनी आत्म-कथा * में खुद लिखा है। १९२० तब था।

शुरू-शुरू मे बीमार होने पर उन्होंने जल-चिकित्सा प्रारम्भ की। उससे पेट और भी बढ़ गया। कभी-कभी पेट में दर्द भी होता। दवा से आप बहुत घबराते थे। दवा तो करते नही थे। स्कूल मे आरामकुर्सी पर लेटे रहते थे। घर में साहित्य का काम तो वैसा ही चलता रहा।

---

* तात्पर्य हंस के आत्मकथांक मे प्रकाशित उनके लेख से है।

इसके दो महीने बाद मैंने अपने पिता को लिखा कि ये बीमार हैं, और यह बीमारी है। मेरे पिता ने सुनते ही मेरे वकील भाई को भेजा और कहा, फौरन लिवा लाओ। अलग मकान लेकर उनकी दवा होगी।

मेरे भाई आये और बोले—पिताजी आपको बुला रहे हैं। वहीं आपकी दवा भी होगी।

आप बोले—मैं दवा कर चुका। भाई, कहाँ तक करूँ।

वे—नहीं साहब, चलना ही पड़ेगा। पिताजी की सख्त ताकीद है।

तब आप बोले—मैं तो नहीं जाऊँगा। तुम जिस डाक्टर से दवा कराना चाहो, उसे यहाँ बुलाओ और खुद बैठो।

भाई बोले—आपको वहाँ चलने में कोई तकलीफ़ नहीं। इलाहाबाद से डाक्टर लाने में आप ही बतलाइए, कैसा होगा। यहाँ से मैं बिल्कुल नावाकिफ़ हूँ।

आप बोले—उनसे कह दीजिए, मैं अच्छा हूँ।

वे बेचारे मजबूर होकर चले गये। आठ रोज के बाद फिर उन्हें पिताजी ने भेजा, फिर वही रूखा जवाब।

सन् '१७

एक बार की बात है। मेरे घर का जीना छोटा था। ऊपर से एक चारपाई नीचे और नीचे से एक चारपाई ऊपर करनी थी। इसके लिए उन्होंने मुझसे कहा—छोटे भाई के आने पर उससे कहना, वह रख देगा। जब वह आया तब मैंने चारपाई को नीचे ले जाने और नीचे की चारपाई को ऊपर ले जाने के लिए कहा। वह बोला—भाई आयेंगे तो वे खुद करेंगे। मुझे यह बुरा लगा। मैंने खुद चारपाई को अपने हाथों के सहारे ऊपर और नीचे किया। मैं उन दिनों बीमार थी। जब उन्होंने स्कूल से लौटने पर चारपाई को नीचे देखा तो बोले—इसे कौन यहाँ लाया? मैंने कहा—मैं। जो आपके घर में सबसे तन्दुरुस्त हूँ। तब आप बोले—तुम्हें ऐसा करने की क्या जल्दी थी? मैं तो आ ही रहा था।

मैने क्रोध मे कहा—सब कामों के लिए क्या आप ही है ? आख़िर ये छोटे-मोटे काम ये लोग नही कर सकते ? तब वे बोले—इसमें ज़बर्दस्ती किस बात की ? अपनी तबीयत ।

मै—फिर तबीयत को सभी आराम पहुँचाना चाहते है। मै, आप, सभी चुप बैठ जायँ तो काम क्या खुद हो जायँगे। चाहिए तो यह कि अपने-अपने योग्य काम सब करें। गृहस्थी के यही माने हैं।

'भाई, जबर्दस्ती कुछ नही होता।'

मैं फिर झुँझलायी। अच्छा पिसो। मुझे क्या।

गोरखपुर : इन्सपेक्टर का मुआयना

जाडे के दिन थे। स्कूल का इन्सपेक्टर मुआयना करने आया था। एक रोज़ तो इन्सपेक्टर के साथ रहकर आपने स्कूल दिखा दिया। दूसरे रोज लडको को गेंद खेलाना था। उस दिन आप नहीं गये। छुट्टी होने पर आप घर चले आये। आरामकुर्सी पर लेटे दरवाजे पर आप अख़बार पढ़ रहे थे। सामने ही से इन्सपेक्टर अपनी मोटर पर जा रहा था। वह आशा करता था कि उठकर सलाम करेंगे। लेकिन आप उठे भी नही। इस पर कुछ दूर जाने के बाद इन्सपेक्टर ने गाडी रोककर अपने अर्दली को भेजा।

अर्दली जब आया, तो आप गये।

'कहिए क्या है ?'

इन्सपेक्टर—तुम बडे मगरूर हो। तुम्हारा अफसर दरवाजे से निकल जाता है। उठकर सलाम भी नही करते।

'मै जब स्कूल में रहता हूँ, तब नौकर हूँ। बाद मे मै भी अपने घर का बादशाह हूँ। यह आपने अच्छा नही किया। इस पर मुझे अधिकार है कि आप पर मै केस चलाऊँ।'

इन्सपेक्टर चला गया। आपने अपने मित्रों से राय ली कि इस पर केस चलाना चाहिए। मित्रों ने सलाह दी, जाने दीजिए। आप भी उसे मगरूर

कह सकते थे। हटाइए इस बात को। मगर इस बात की कुरेदन उन्हें बहुत दिनों तक रही।

पांचवें महीने जब पचीस के अलावा ८०) मैंने और दिये और जमा कर आने को कहा तो आप बोले—ये रुपए कहाँ थे ?

मैं—हर महीने के ख़र्चे मे से ये बचे है। अब यहाँ क्यो रहें ?

आप बोले—ये बचत के रुपए तो फिर तुम्हारे हुए।

मैं—तो फिर सब मेरे हुए। आप तो कभी एक पैसा नही बचा पाये।

'ख़ैर, लाओ रख आऊँ, अच्छा ही है।'

उनकी चाची को ये रुपए बुरे लगे। जब चले गये तो बोली—क्या मै रुपए अपने पास रख लेती थी ?

मैं—रखने का लाछन कहाँ लगा रही हूँ ? अरे बच गये। घर मे रहने से क्या होता। ज़रूरत पड़ने पर वहाँ से भी तो आ सकता है।

उन्हें बुरा तो लगा ही।

वे शाम को आने पर मुझसे बोले—भाई, क्या बात है ? सच-सच बोलो। कैसे पूरा प्रबन्ध कर लेती हो।

मैं—आख़िर चीज़ों को लाता कौन है, आप ही न। तो आप पूरे खर्च का अन्दाज़ लगा सकते हैं। थोड़ा खर्चा फल का और भी बढ़ गया है, पहले की बनिस्बत।

'सच कहता हूँ, मुझे तो खर्च पूरा पड़ जाने की ही चिन्ता रहती थी। अच्छी बात है। तुम ऐसे ही चलाओ।'

तब से तो वे चीज़ों के ले आने के बाद पैसे-पैसे का हिसाब इस तरह देते थे कि जैसे कोई पराया हिसाब देता है। पैसा-धेला जो भी बचता, उसे मुझे वापस कर देते।

कहीं से भी जो पैसे आते, उसे मुझे वे तुरन्त दे देते। हिसाब तो कभी भी नहीं मांगा।

खाने-पीने के बारे मे तो बच्चों की तरह ज़रा-सा भी पाये तो चुपके से

खा लें और कुछ न बोलें। अगर अपने मन की कोई चीज़ वे खाना चाहें और मेरी इच्छा न हो तो उसे वे किसी तरह भी न खाते थे।

मेरी बातो को वे बहुत महत्त्व देते थे। अपने जीवन में कोई भी काम उन्होंने मेरी सलाह के बिना नहीं किया।

एक बार की बात है। मैं बीमार थी। मुझे दस्त की बीमारी थी। मेरा लड़का धन्नू आठ महीने का था। बीमार कई महीने रही। डाक्टरो को आशका थी कि अपने बच्चे को मै दूध पिलाती रही तो तपेदिक हो जाने का पूरा ख़तरा है। इस पर आप एक दिन बोले—मेहतरानी को दूध पिलाने के लिए रख लो। नहीं तो धुन्नू भी तो कमज़ोर पड़ जायगा।

मैं—यह सब कुछ नहीं।

'नहीं जी, दूध में क्या हर्ज है? तुम उसे मत छूना। वह तो बच्चा है।'

मै—बच्चे पर दूध का असर बहुत पडता है। उसका दूध इसकी प्रकृति के अनुकूल भी तो न पड़ेगा। वह आठ महीने का है, मेहतरानी को तो अभी बच्चा हुआ है। उसका दूध कैसे माफिक पडेगा।

आप बोले—फिर तुम्हीं बताओ। क्या करूँ।

मैं—बकरी का दूध ठीक होगा।

एक बकरी उन्होने मँगवायी। बच्चे के लिए जब भी दूध पीने की ज़रूरत पडती, खुद दुहते। चाहे कोई समय क्यो न हो।

मगर लड़का इतनी उग्र प्रकृति का था कि शीशी का रबड ही काट डालता, फिर वे हाथ पकडते। मै चम्मच से मुँह में दूध डालती। कभी-कभी मुझे भी इसने गिरा दिया। बहुत ही मचलता था। फिर थोड़ा-थोडा साबूदाना खिलाने लगी।

अहीर के यहाँ से फिर एक सेर दूध आने लगा। चाची उसमें से आधा तो अपने बच्चे के लिए रख लेती थी। बाकी आधा सेर में साबूदाने के लिए भी पूरा न पड़ता। यह देखकर कि ज़रा से बच्चे का भी ख़्याल नही रखतीं, मुझे क्रो धहो आया।

मैंने कहा—आज से कुल तीन पाव दूध आयेगा, केवल धुन्नू के लिए।

तब आप बोले—बेटी क्या यों ही जियेगी? अरे, उसे भी तो चाहिए।

मैं—यहाँ धुन्नू को ही पूरा नहीं पड़ता। साबूदाना में पानी भी पड़ता है और आप ऐसा कहते है।

'तुम्हें तो डाक्टर ने दही खाने को कहा है?'

'मुझे तो डाक्टर ने संखिया खाने को कहा है।'

'संखिया खा लेने से तो खूब खेल खतम हो जायगा?'

उसके तीन दिनो के बाद चाची को खाँसी आने लगी। खाना खुद बनाते। चाची कहतीं—'अपनी बीवी से क्यो नहीं बनवाते? खुद आखिर क्यों बनाते है?' उनकी बीमारी का यही रहस्य था। तीन रोज़ तक उन्होने खाना पकाया। चाची ने नहीं खाया। तीसरे रोज़ जब वे खाना खाकर लेटे, तो आकर चाची बोलीं—बचवा को तार दे दो। हमको घर पहुँचा दें।

धुन्नू को आँव पड़ती थी। आप बोले—कहाँ जाना चाहती हो।

'वह आकर मुझे लमही भेज दे।'

आप बोले—इस समय दवा तक का पैसा नहीं है। आठ महीने के बच्चे की यह दशा! उसकी मा सख़्त बीमार। और वह अभी गया, पचीसों ख़र्च हुए। तुम बिना समझे क्या करती हो। हाँ जाना चाहो, बनारस का एक लडका है, तुम्हें घर वह भेज देगा।

'हाँ, मै जाना चाहती हूँ।'

'जाइए। शौक से। कोई बात नहीं।'

शाम की ट्रेन से वे १०) लेकर रवाना हुई।

मेरे पिता ने मुझे बीमार जान फ़ौरन बुलाया। उसके जवाब में आपने लिखा था मै ख़ुद लिवाकर आ रहा हूँ। छुट्टी होने पर।

जिस दिन हमारे जाने का बिस्तर बँधा तो तार पहुँचा चाची का कि मै आ रही हूँ, मेरी तबीयत यहाँ लगती नहीं।

आपने जवाब दिया—अभी मत आओ, मैं तैयार हूँ इलाहाबाद जाने को।

हम इलाहाबाद आये। इसके बाद मैं देहात चली गई। आप भी पन्द्रह रोज़ तक मेरे पिता के घर रहे।

फिर आप कानपूर आये। मेरी दवा तो मेरे मायके होती रही। धुन्नू को दूध पिलाने के लिए एक औरत रखी गई।

धुन्नू भी स्वस्थ होने लगा। मैंने भी दस्त से तो छुट्टी पाई, लेकिन खाँसी-जुकाम ने पल्ला पकड़ा।

कानपूर से आपने मेरे पिता से मेरी खबर पूछी। पिता ने लिखा—दस्त तो बन्द हो गया, लेकिन खांसी आ रही है। धुन्नू तगड़ा हो रहा है। तुम इसकी चिन्ता छोड़ दो। मगर वे फिर लौट आये। पन्द्रह दिन के करीब फिर आप रहे। आपकी दवा भी वहाँ बीच-बीच में होती रही। इसके बाद वे कानपूर चले गये।

पंद्रह दिन स्कूल खुलने को रहा तो आप लौटकर आये। और मेरी बिदाई के लिए कहा। मेरे पिता बोले—अब जरा-सी अच्छी हुई तो फिर बिदाई की सूझी। अभी मेरी इच्छा नही है।

फिर उस आदमी से बोले—कह दो, इतना मेरे साथ किया करें। मैं भी तो बीमार रहता हूँ। मैं भी तो उन्हीं का हूँ। इसलिए मैं अकेले यहाँ से जाऊँगा तो मुझे तकलीफ होगी। इनके रहने से मैं बिल्कुल बेफिक्र रहूँगा।

मेरे पिता राजी हो गये। मैं जब यहाँ आई तो उनका बी० ए० का दूसरा वर्ष था। फिर कोर्स की तैयारी वे करने लगे।

जब मैं गोरखपुर मे थी, तो मेरे गाय थी। वह गाय एक दिन कलक्टर के हाते मे चली गई। कलक्टर ने कहला भेजा कि अपनी गाय ले जायँ, नहीं तो मैं गोली मार दूँगा। आपको खबर भी न होने पाई, ढाई-तीन सौ के लगभग लड़के नौकरों के साथ पहुँचे।

जब मैंने शोरगुल बहुत सुना और दरवाजे पर देखती हूँ कि कोई आदमी नहीं है तो मैं आपके कमरे मे गई। मैंने क्या देखा—आप शान्ति से लिख रहे थे।

'आप तो यहाँ बैठे हैं। हाते में कोई भी आदमी नहीं है।'

'अच्छा।'

जाड़े के दिन थे। एक कुर्ता और स्लीपर पहने बाहर निकले। कलक्टर के बँगले ही की तरफ़ गये। वहाँ जाकर पूछा—आख़िर तुम लोग यहाँ क्यों आये ?

आदमियों ने कहा—साहब के हाते में गाय आ गई है। उसने गोली मारने को कहा है।

'तुम लोगों को कैसे ख़बर हुई ?'

'साहब, आदमी गया था। वही यह सब कह रहा था।'

'जब अर्दली गया तो मुझसे बताना चाहिए था।'

'आपसे इसलिए नहीं कहा कि हमी कौन कम थे।'

'मगर साहब को जब गोली ही मारनी थी, तो मुझे बुलाने की क्या ज़रूरत थी। यह तो साहब की बात बिल्कुल बच्चों की-सी है। गाय को गोली मारना और मुझे दिखाकर !'

लड़के—बग़ैर गाय लिये हम नहीं जायँगे।

आप बोले—अगर साहब ने गोली मार दी ?

लड़के—गोली मार देना आसान नहीं है। यहाँ ख़ून की नदी बह जायगी। एक मुसलमान गोली मार देता है तो ख़ून की नदियाँ बहती हैं।

'फ़ौजवाले तो रोज़ गाय-बछड़े मार-मारकर खाते है, तब तुम लोग कहाँ सोते रहते हो ? यह तो ग़लती है कि मुसलमानों की एक क़ुर्बानी पर सैकड़ों हिन्दू-मुसलमान मरते-मारते हैं। गाय तुम्हारे लिए जितनी ज़रूरी है, मुसलमानों के लिए भी उतनी ज़रूरी है। चलो। अभी तुम्हारी गाय लेकर आता हूँ।'

साहब के पास जाकर आप बोले—आपने मुझे क्यों याद किया ?

'तुम्हारी गाय मेरे हाते में आई। मैं उसे गोली मार देता। हम अँग्रेज़ हैं।'

'साहब, आपको गोली मारनी थी तो मुझे क्यों बुलाया ? आप जो चाहे सो करते। या आप मेरे खड़े रहते गोली मारते।'

'हाँ, हम अँग्रेज़ है, कलक्टर है। हमारे पास ताकत है। हम गोली मार सकता है।'

'आप अँग्रेज़ है। कलक्टर हैं। सब कुछ हैं, पर पब्लिक भी तो कोई चीज है।'

'मै आज छोड़ देता हूँ। आइन्दा आई तो हम गोली मार देगा।'

'आप गोली मार दीजिएगा। ठीक है; पर मुझे न याद कीजिएगा।' यह कहते हुए आप बाहर चले आये।

गोरखपुर । होली

गोरखपुर में जब स्कूल-मास्टर थे, तब की बात है। होली के दो रोज़ पहले ही से उन्हें उत्साह होता था। होली के एक दिन पहले ही से वे ख़ुद अबीर, रग, मिठाई, भंग आदि ख़रीद लाते। होली के दिन सब लडके आते और वे सब सामान लडको के सामने रख देते। वे लोग खाते-पीते। उसमें हिन्दू-मुसलमान दोनो शरीक होते। खाने-पीने के बाद भङ्ग भी पिलाते। फिर गाना-बजाना बडे धूम से होता। प्रत्येक त्योहार में उत्साह से भाग लेते थे। गाना आप ख़ुद गाते थे। कभी-कभी हम दोनो साथ-साथ गाते। मुझे उन्हीं से गाना सुनना पडता।

कलकत्ते में प्रेस लेने का इरादा

उन दिनों उनके भाई कलकत्ते मे नौकर थे। वहाँ उन्होने एक प्रेस लेना चाहा। प्रेस एक मारवाडी के साझे में लेना था। उन्होने लिखा--नौ हज़ार में हम लोग खरीद रहे हैं। आप साढ़े चार हज़ार दीजिए।

जो कुछ मैने बचाकर रखा था, उसे और प्रामेसरी नोट भुनाकर उन्हें देने के लिए तीन हजार इकट्ठा किये। डेढ़ हज़ार उन्होंने अपने चचेरे भाई से भी मांगे थे। उन्होने इन्दौर से एक हज़ार भेज दिया। और ५००) बाद में भेजने का वादा किया।

एक रोज़ मैंने पूछा--रुपए देने का ढंग कैसा है? प्रेस किन शर्तों पर ठीक होगा?

बोले--शर्त क्या! अरे प्रेस रखेगा, जो कुछ मुनाफ़ा होगा, तुम्हें भी देगा।

मै--इन शर्तों पर रुपया देना ठीक नहीं। हाँ, धुन्नू के नाम ख़रीदा जाय, वे काम करनेवाले रहें।

'नही, वह झल्ला उठेगा।'

'फिर ये रुपए आपके नहीं, आप अपने रुपए दीजिए। रुपए मेरी ही शर्त पर जायँगे।'

'खैर, मै लिख दूँगा कि धुन्नू की मा इस शर्त पर रुपए देना चाहती है।'

इस ख़त का चौथे रोज़ जवाब आया कि मेरी यहाँ बडी हँसी हो रही है। क्या आप हमारे ऊपर विश्वास नहीं करते? मेरे ही और कौन है, धुन्नू ही तो मेरे भी हैं। मेरे लिए बडे अफ़सोस की बात है।

ख़त आने पर उसे उन्होंने मुझे सुना दिया और बोले--बड़ा गड़-बड़ हुआ।

मैं—कोई गडबड़ नहीं। मेरी राय ठीक है। मै किसी के हाथ में नहीं होना चाहती। कोई काम हो, अपनी जगह होना चाहिए। मै बहुतों को देख चुकी हूँ। आप आंखें बन्द कर देखते हैं, मै आंख खोलकर देखती हूँ।

'अच्छा बोलो इसका जवाब क्या लिखूँ?'

मै--मेरी तरफ़ से लिखो कि जब तक कोई लडका मेरे पास न था, तब तक तुम ही सब कुछ थे। यह लडका तुम्हारा भी है तब नाम रहना क्या बुरा? तुम यहाँ ख़ुद आ जाओ, सब बातें साफ़-साफ़ हो जायँ। फिर सब तुम्हारे ही हाथ मे तो होगा। उसका तो महज़ नाम रहेगा।

इस पर वे झल्लाये हुए चौथे दिन आये। कहने लगे—लोगों ने मेरा बहुत मज़ाक बनाया।

मैं—मज़ाक उडानेवाले बेवकूफ़ हैं। उन्हें समझ होनी चाहिए। फिर ये

तो बनिये है। बनिये के यहाँ तो बाप-बेटों मे लिखा-पढी होती है। इसमें बुरा लगने की कोई बात नही थी।

इसके बाद वे बोले—मैं इन शर्तों पर रुपया लेने मे असमर्थ हूँ।

मै--मै भी मजबूर हूँ।

मै—भाई साहब के भी रुपए भेज दीजिए।

'भेज दिया जायगा।'

'नही, भेज दीजिए। रखने की ज़रूरत ही क्या है? कोई और काम तो है नही।'

इसके बाद वे चले गये।

गोरखपुर : अध्यापन कार्य

उन दिनो मँहगी का युग था। जिन दिनो उन्होंने नौकरी छोडी, उन दिनो सब मिलाकर मेरे पास ३०००) थे। नौकरी छोडने के पहले कई रात उनको ठीक से नीद नही आई। खैर दो-तीन दिन के बाद जब नौकरी छोडने का प्रस्ताव मेरे सामने रखा कि मेरी इच्छा नौकरी छोडने की है, इसमे तुम्हारी क्या राय है। मै जवाब देती हुई बोली कि इस विषय पर विचार करने के लिए दो-तीन दिन का समय चाहिए।

'मै तो खुद ही चाहता हूँ कि पहले तुम अपना विचार ठीक कर लो।'

जो उलझन उनको थी वही दो-तीन दिन मुझे भी हुई। मुझे भी बार-बार यही ख्याल होता कि आखिर बी० ए० की ख्वाहिश क्यो हुई, यही न कि आगे तरक्की की आशा। पहले तो यह ख्याल था कि यह कभी प्रोफेसर हो जायँगे, और जीवन के दिन आराम से कटेंगे, क्योंकि सेहत अच्छी न थी। और कहाँ यह प्रस्ताव कि जो कुछ भी मिलता है उसको भी छोडकर महज़ हवा मे उडा जाय। उस समय इनको कुल मिला-कर १७५)के करीब मिलता था। स्कूल की नौकरी होने की वजह से घर पर भी काम करने का समय मिल जाता था। मुझे भी इस बात की उलझन थी

कि आख़िर नौकरी छोडकर करेंगे क्या ? एक लडकी और एक लडका सामने था, और अभी बच्चे होने की उम्मीद थी। नौकरी छोडने के बाद सन् २१ मे बन्नू पैदा हुआ । उधर मेरी इच्छा यह भी नहीं थी कि किसी की पैर की बेडी बनकर रहूँ और किसी को आगे बढने से रोकूँ। यह नहीं थी कि रुपयो का मूल्य मेरी आँखो मे कम था। एक तो अपनी ज़रूरतो को देखते हुए, खुद भी बहुत दिनो से बीमार, न घर न द्वार, इन सब बातो को सोचकर यही दिल मे आता था कि इनको नौकरी छोडने से दो रोज़ का समय रोक दूँ। लिया था लेकिन ४-५ दिन मे भी कोई निर्णय न कर सकी।

चार-पॉच दिन के बाद उन्होने फिर पूछा कि बतलाओ तुमने क्या निर्णय किया। मै बोली—एक दिन का समय और। उस दिन मैने यह सोचा कि आखिर जब यह इतने बीमार थे और बचने की कोई आशा न थी ; एक तरह शायद उन्होने मुझे जवाब ही दे दिया था, यह कहकर कि यह ३०००) रुपए है और तीन तुम हो। मैने सोचा कि यह अच्छे हो गये है तो नौकरी की कोई चिन्ता न होनी चाहिए। क्योकि ईश्वर कुछ अच्छा ही करनेवाला होगा, तभी तो यह अच्छे हो गये है। मान लो जब यही न रहते तो मै क्या करती, शायद इसी काम के लिए ईश्वर ने इन्हें अच्छा किया हो। फिर उन दिनो जलियानावाले बाग मे जो भीषण नरहत्या-काण्ड हुआ था, उसकी ज्वाला सभी के दिल मे होना स्वाभाविक थी। वह शायद मेरे भी दिल मे रही हो। दूसरे दिन अपने को उन सभी मुसीबतों को सहने के लिए तैयार कर पाई जो नौकरी छोडने पर आनेवाली थी। दूसरे दिन मैने उनसे कहा—छोड दीजिए नौकरी को। २५ वर्ष की नौकरी छोडते हुए तकलीफ तो होती ही थी। मगर नही ! यह जो मुल्क पर अत्याचार हो रहे थे, उनको देखते तो यह शायद नही के बराबर थी। जब मैने उनसे कहा कि छोड दीजिए नौकरी क्योकि इन अत्याचारो को तो अब सबको मिलकर मिटाना होगा और यह सरकारी नीति अब सहन-शक्ति के बाहर है।

तब आप अपनी स्वाभाविक हँसी में हँसकर बोले--दूसरों का अन्त करने के पहले अपना अन्त सोच लो।

मै बोली--मैने सोच लिया है, जब तुम अच्छे हो गये हो तो मै सोचती हूँ कि अब आगे भी मैं जङ्गल में मङ्गल कर सकूँगी और मेरा ख़्याल है कि ईश्वर कुछ अच्छा ही करनेवाला है।

आप बोले--सोच लो, फिर न कहना कि छोडकर खुद तकलीफ उठाई और मुझे तकलीफ दी। क्योंकि सर पर तकलीफ़ें आगे बहुत आने वाली हैं, मुमकिन है कि खाने को खाना भी न मिले।

मैं बोली--मै इसके लिए सोच चुकी हूँ; मै तो यह जानती हूँ कि सर पर जब बला आती है, तब सब कोई भुगत लेता है। फिर भुगतते तो हैं बड़े बडे घर के लोग, अपनी तो बिसात ही क्या है।

तब वह बोले--यही निश्चय है?

मैं बोली--हाँ।

'तो मै कल ही इस्तीफा देता हूँ, और कल ही यह सरकारी मकान भी आपको छोडना होगा। जाना कहाँ है, इसका भी कोई ठिकाना नहीं।' उन्होंने कहा।

मै बोली--गाँव चलना।

वह बोले--गाँव में ही तुम्हारे रहने के लिए मकान कहाँ है, क्योंकि जो पुराना घर है, उसमें चाची वगैरह का गुज़र होता होगा। उसमें तुम्हारे लिए जगह कहाँ?

मैं बोली--तो घर उन्हीं का है?

वह बोले--जहाँ जमीन पाओगी, वहीं तो रहोगी कि दूसरे के मकान में चली जाओगी?

मैं बोली--मकान मे जो जगह है, आधा वह लेंगे। आधा तो हमको देंगे।

आप बोले--उसमें जगह ही कितनी है?

मैं क्रोध के साथ बोली--कुछ भी है। हमी क्यों छोड़कर चले जायँ, वही

क्यों न जायँ। जब उन्होंने हमारे आराम-तकलीफ़ का कोई ठेका नहीं लिया है, तो हमी क्यों लें।

'तो तुम इसके ऊपर यह कह सकती हो कि जब सरकारी नौकरियाँ और नहीं छोड़ रहे है तब मै ही क्यों छोड़ूँ ?'

'यह एक पक्ष का काम नहीं है, यह तो देश भर की बात है'—मै बोली—फिर इसमे त्याग, तपस्या और बलिदान है, यह अपनी मर्जी से मनुष्य कर सकता है।

आप हँसकर बोले—जिसको तुम त्याग, तपस्या, बलिदान समझती हो, वह एक भी नहीं है। यह तो हम-तुम दोनों का अपने पापो का प्रायश्चित्त करना मात्र है।

मै बोली—तो हम लोगो ने पाप क्या किये है।

वह बोले—तुमने नहीं किये तो तुम्हारे बुजुर्गों ने किये! क्योकि आराम के नशे मे तो वही लोग डूबे थे। अपनी विलासिता के नशे से अन्धे होकर पडे थे। तभी मुल्क मे फूट भी पैदा हुई। और दोनो फरीको को हटा करके तीसरा विजयी हुआ। मुमकिन है कि वह विलासिता मे डूबनेवाले हमीं-तुम हो। और फिर से जन्म मिला हो। यह विकट पहेली कुछ समझ मे भी नही आती। यह जो आज कल तुम्हारे ऊपर शासन कर रहे है, यह क्या विजयी हुए थे। इनके बड़े लोग विजयी हुए थे।

मै बोली—विजेता कभी गर्व से अन्धा भी हो सकता है ?

वह बोले—इस जगह तुम ग़लती पर हो। विजेता हमेशा गर्व से अन्धा रहता है। अगर विजेता गर्व से अन्धा न हो तो उसे मनुष्य न कहना चाहिए, बल्कि देवता। अगर देवता नहीं है तो यह कहता हूँ कि तुम्हारे भाई-बन्द क्या कम अन्धे हैं, जो कि विजेता भी नहीं है। यहाँ जो हिन्दुस्तानी हाकिम आता है, वह अँग्रेज़ो की अपेक्षा कहीं कड़ा शासन करता है। और उसी से देख देखकर हमारे देश के नवयुवको की वृत्ति भी उसी तरह की होती जा रही है। मुझे इस स्थान पर रहीम का दोहा बहुत उपयुक्त मालूम हो रहा है—

"प्यादे से फरजी भयो, टेढो टेढ़ो जाय" मै तो कहता हूँ कि बहुत दिन लग जायँगे हिन्दुस्तानियों को अपनी मनोवृत्ति बदलने में। क्योंकि इधर वे कोई ५०० वर्ष से गुलामी में रह चुके है, तुम क्या समझती हो कि उनकी आत्मा १०-२० साल मे सुधर जायगी। स्वराज्य मिलने पर भी मै कहता हूँ कि इसमे काफी दिन लगेंगे।

मै बोली--फिर घर चलना ही होगा। आखिर चलेंगे कहाँ ?

आप बोले---मेरा तो विचार है कि यही (गोरखपुर में) कुछ काम कर लूँ। कुछ नही तो कोई पचास-साठ रुपये तो दे ही देगा। यही दस-पाँच रुपए का मकान लेकर पडे रहें। मेरा विचार है कि एक चरखा संघ खोलें, इसके लिए पोद्दार तैयार भी हैं।

मै बोली--जब सरकारी नौकरी छोड दी, तब यहाँ रहने की कोई वजह नहीं मालूम होती और आबहवा भी यहाँ की तुम्हारे माफिक नही है। मेरी समझ मे नही आता कि अब यहाँ पर क्यों रहा जाय। अभी तक तो सरकारी नौकरी का लोभ था।

आप बोले---यहाँ तो कुछ काम भी होगा भाई और बनारस चलकर बैठने से क्या होगा, यह मेरी समझ मे नही आया। क्योंकि यहाँ और कुछ नहीं है तो पोद्दार मेरा मददगार है ही। बनारस में तुम्हारा कौन मददगार बैठा है ?

मैने कहा---और कुछ नही तो घर के लोग तो है ही।

तब वह बोले---जिनको तुम अब तक अपना समझती थी, वह अपने लिए थे, वह तुम्हारे लिए नही। जब तुम्हारे पास पैसा नहीं है तो तुम्हारा कोई साथ क्यों देने लगा। तुम्हें मालूम हुआ है कि अभी अपनी बीमारी में मैं चाची को रोकना चाहता था कि वह रहें मगर वह रही ? उनका लडका नौकर है ही, उसकी शादी हो ही गई है। अब उसको क्या पडी है जो मेरा साथ दे। अब तो वह यही समझेंगे कि शायद मुझसे कुछ मदद चाहते है। जब से वह मेरी उस हालत पर मुझे छोडकर गये, एक बार भी कम से कम

देखने को नहीं आये ? दो बार तुम्हारे भाई मुझे बुलाने भी आये और दवा कराने के लिए भी।

मैं बोली—कौन तुम्हीं उनके पास दवा करने को गये।

'ख़ैर मैं जाऊँ या नहीं, उनका कर्तव्य तो अदा हो गया।'

'इसके माने यह होते हैं कि अब वह मेरे हितैषी है, और जिनको मैं अपना समझता था, अब वह नहीं रह गये। इसलिए वहाँ जाने में तुमको क्या आनन्द मिलेगा, मेरी समझ मे नहीं आता।

मैं बोली—आख़िर घर तो चलना ही है। मैं कब उनकी रोटियों पर गुज़र करनेवाली हूँ। अगर मुझमें कष्ट सहने की शक्ति न होती तो मैं क्यों इस्तीफ़ा देने के लिए आपको तैयार करती। मैं अपने घर तो जा ही सकती हूँ कि अब उनके लिए पूरा बनारस छोड़ दिया जायगा ?

'तो वहां जाने से फ़ायदा ही क्या ? आपस में द्वेष ही तो बढ़ेगा,' वह बोले।

'मैं इस द्वेष से डरती कब हूँ और इस तरह से डरकर गृहस्थी में कोई रह नहीं सकता। यह तो एक संन्यासी ही कर सकता है। घर-बारवाला नहीं।'

'अच्छा साहब, जैसी तुम्हारी इच्छा हो।'

'हां, मेरी तो इच्छा यही है। मैंने जीवन में कभी डरना नहीं सीखा,' मैंने कहा—अपने से मैं किसी को छेड़ूँगी नहीं, मगर जो मुझ को छेड़ेगा, उससे डरकर कहीं भागूँगी भी नहीं।

नौकरी छोड़ने के दो महीने बाद हम घर आये और उसके बाद का हाल मैं पहले ही दे चुकी हूँ।

इस्तीफ़ा

सन् बीस की बात है। असहयोग का ज़माना था। गांधीजी गोरखपुर में आये। आप बीमार थे, फिर भी मैं, दोनों लड़के, बाबूजी, मीटिंग में गये। महात्माजी का भाषण सुनकर हम दोनों बहुत प्रभावित हुए। हां, बीमारी

की हालत थी। विवशता थी। मगर तभी से सरकारी नौकरी के प्रति एक तरह की उदासीनता पैदा हुई।

इसके दो साल पहले ही आप बी०ए० पास कर चुके थे। एम०ए० पढ़ने की तैयारी में भी लग गये थे। फीस भी दाखिल कर चुके थे। बीमार तो थे ही, दवा किसी की करते न थे। बीमारी की हालत में वे मुझे अपने पास से हटने न देते थे। दवा भी नहीं करते थे।

एक दिन झुँझलाकर मैं बोली—इसका निर्णय आज अवश्य करना होगा कि दवा कीजिएगा या नहीं ?

आप बोले—दवा से कुछ न होगा।

मैं—महज़ इसका जवाब दीजिए कि दवा कराइएगा या नहीं ?

'भाई, दवा करने से क्या होगा, जवाब तो उसका उल्टा ही होगा।'

मैं—फिर आप वही कहते चले जा रहे हैं। मुझे आखिरी निर्णय बताइए।

'आख़िर करोगी क्या ?'

मैं—यह करूँगी कि ।) आने की संखिया मँगाकर, खाकर सो जाऊँगी। न रहूँगी, न तकलीफ देखूँगी। अभी दो ही महीने हुए मेरा एक लड़का मर गया, अब आप बीमार पड़े हैं। घर-गृहस्थी देखूँ, दोनों बच्चों को देखूँ। आपकी बीमारी की यह हालत। अब मुझमें ज्यादा ताकत नहीं।

'अच्छा दवा करूँगा। नहीं ही मानती हो जब। मगर दवा से कुछ लाभ नहीं होगा। हाँ, तुम कह रही हो, करूँगा।

मैं—दवा करना हमारा काम है। लाभ-हानि होना ईश्वर के अधीन है। कब से कीजिएगा, कल से न ?

'हाँ, कल ही से करूँगा।'

मैं—हाँ, कल ही से शुरू कीजिएगा। कल होते देर नहीं लगती।

ऐसा कहने पर उन्हें स्वाभाविक हँसी आ गई। मैंने कहा—हँसने से काम न चलेगा। जो कह रही हूँ, करना पड़ेगा।

'[illegible] हँसना, कल से ज़रूर करूँगा। दवा न करूँगा तो रहूँगा कहाँ ?'

'हाँ, ठीक सुबह !'

सुबह हाथ-मुँह धोकर धीरे-धीरे वैद्य के यहाँ गये। वहाँ से दवा और बेल के पत्ते लाये।

मैंने तैयार करके दवा उनके सामने रखी।

आठ दिन तक घड़ों पानी पाख़ाने के रास्ते से निकला।

दिन भर जब काफ़ी दस्त आये, तब मैं बोली—अब आप तुरन्त वैद्य के यहाँ जाइए।

वैद्य ने कहा—ठीक है। पेट का सारा पानी निकल रहा है। घबड़ाने की क्या बात है ? एक भस्म मैं और दे रहा हूँ, उससे आपके बदन मे गर्मी भी रहेगी। कमज़ोरी भी न रहेगी।

पानी आठ दिन तक पेट से निकलता रहा। फिर दुबारा उसने दवा दी। उबली हुई तरकारी, बिना छना हुआ हाथ का पिसा आटा खाने को बताया। ख़ैर, इस तरह मैंने उन्हें किसी तरह से अच्छा किया।

एक दिन की बात है, मुझसे बोले—तुम राय देती तो मैं सरकारी नौकरी छोड़ देता।

मैं—क्या ही अच्छा हो !

'खर्च कैसे चलेगा ?'

मैं—कम मे भी खर्च चल जाता है, ज़्यादा मे भी चलता है। यह तो अपनी-अपनी ज़रूरते हैं। इसके लिए इन्सान कब तक बँधा रहेगा। मैं तो इसी पर ख़ुश हूँ कि आप स्वस्थ हुए।

'आज ही इस्तीफा देने जा रहा हूँ। कई आदमियो ने मुझसे पहले भी कहा था, मगर मैं सोचता था शायद तुम्हें तकलीफ हो।'

मैं—इससे भला कैसी तकलीफ होती। इसमे मुझे सुख मालूम हो रहा है।

उसी दिन इस्तीफा लिखकर हेडमास्टर को दिया। हेडमास्टर देखकर घबरा गया और बोला—आपको क्या हो गया है ? १२५) आप पा रहे हैं

और बीमारी से उठे कि यह सनक ! उन्होने मज़ाक में कहा—पहले अपनी देवीजी से पूछ आइए।

'मेरी देवीजी ने मुझसे ख़ुद कहा। वे मुझसे भी आगे हैं। उनकी तो और राय है।'

हेडमास्टर—नहीं मै आज इसे नही भेज सकता।

आप बोले—मै कल से काम पर नही आऊँगा।

इसी तरह आठ दिन बीते। इस्तीफा वहीं पडा रहा। नवें रोज़ हेडमास्टर ख़ुद घर पर आये और बोले—यह क्या तुम्हें सूझता है। मैने तो इस्तीफा नही भेजा। अभी तो आप बीमारी से उठे हैं और इतनी जल्दी इस्तीफा दे दिया। मै तो ऐसा नहीं चाहता।

'मेरी आत्मा नहीं चाह रही है, हेडमास्टर साहब, मैं ऐसा करने को विवश हूँ।'

उसी के एक साल पहले उन्हें स्कूल के बोर्डिंग का सुपरिन्टेण्डेंट भी होना पडा था। २५) उसके अलग से मिलते थे।

बोर्डिंग के छ महीने के पैसे उन्हें पहले ही मिल चुके थे। बहन उस समय हमारे पास ही थी। उसके पास रुपए रखकर बोले—ये तुम्हारे रुपए है। तुम्हारे आने पर ही तो मिले। ईश्वर भी क्या है, जब ख़र्च देखता है तो आमदनी भी बढ़ा देता है।

बहन बोली—ईश्वर न्यायी तो हई है। वह सभी की ख़बर रखता है।

'भाई, यही तो मै ख़ुद कहता हूँ। लो ख़र्च करो।'

बहन उनके हाथ से रुपए लेकर घर के रुपयों में रख आई।

मैने सन्दूक खोला तो वे रुपये भी उनमें थे।

मै—क्यो ये रुपये तो आपको मिले थे। मेरी सन्दूक मे कैसे पहुंच गये ?

'मै और वे क्या दो हैं ?'

मैने कहा—यह तो बडी अच्छी बात है। रुपए मेरी सन्दूक में पडे रहें।

वह बोली—रखे रहें तब न ? देखती हूँ रोज़ाना खर्च हो जाते है।

वे अपनी बहन से बराबर गप-शप करते रहते थे। वे आठ महीने तक रहीं।

वे हमारे सुख के दिन थे।

१६२० की फ़रवरी

गोरखपुर की नौकरी छोडने के बाद आप महावीरप्रसाद पोद्दार के निवास-स्थान मानीराम गये। वहाँ से 'चाची' के पिता को नौकरी के छोडने का सारा किस्सा बताया एक चिट्ठी मे। उनके नाना ने लिखा, नौकरी छोडकर बुरा किया, ख़ैर, तुम्हारी इच्छा। अपने बाल-बच्चों को मेरे पास छोड जाओ और अपने लिये कोई काम ढूंढो। अभी से काम छोडने के बाद क्या करोगे।

आप उस चिट्ठी को लिए मेरे पास आये। हँसकर बोले—ये पुराने खुर्राट समझते हैं कि सारी लियाकत हमीं ने पाई है। लिखते हैं बाल-बच्चों को मेरे पास पहुंचाकर अपने लिए काम ढूंढो।

उनका ख़त पढकर मुझे भी बुरा लगा। मै बोली—इतने सारे बच्चे है भी तो। दाने-दाने को मर न जायेंगे।

आप बोले—नौकरी छोडते हुए सब मैंने समझ लिया है। फिर ये लोग मुझे पाठ सिखाते है, जिन्होंने अपनी सारी ज़िन्दगी बेकारी ही मे बिता दी।

मैं बोली—अब ये इलाकेदार हुए हैं। तुम्हारी परवरिश के लिए तडप रहे हैं।

आप बोले—अगर वे अपनी परवरिश कर लें तो समझो मेरी परवरिश हुई। मै पन्द्रहवे साल से ही बोझ उठाने का आदी हो गया हूँ, अब तो ईश्वर की दया से अपना ही बोझ है। उस वक्त की समझो। तीन-तीन परिवारों की जिम्मेदारी मुझ पर थी। उस समय ये अपना बोझ तक न उठा सके।

मै बोली—ज़रूर उठायेंगे जब कह रहे हैं।

आप बोले—शायद वे घबरा रहे हैं। शायद मैं उनके नाती पर अपना बोझ न डाल दूं।

मैं बोली—उनका यह सोचना ग़लत थोड़े ही है।

आप बोले—तुम भी क्या बच्चों की-सी बातें कर रही हो। जो आदमी दूसरों का बोझ ले सकता है, वह अपने बाल-बच्चों का बोझ किसी के सिर डाल नहीं सकता। ख़ुदा न ख़ास्ता अगर ऐसी नौबत आ जाय तो उसे चाहिए कि अपने बच्चों को ज़हर देकर मार डाले।

मैं बोली—वे घबरा उठे हैं जैसे।

आप बोले—वे लोग जीवन भर बेहयाई सहते रहे हैं। उनके अन्दर स्वाभिमान कभी था ही नहीं। फिर मैंने नौकरी छोड़ी है अपने कलम के बल पर। मैंने किसी के आसरे काम किया ही नहीं, मैं हमेशा अपने बाजुओं पर भरोसा रखता हूँ। जिन लोगों को मैं समझ चुका हूँ, उनसे तो ख़ैर क्या उम्मीद करूँगा?

मैं बोली—तो फिर हर्ज ही क्या है?

आप बोले—तुम उनके यहाँ रह सकती हो।

मैं बोली—मैं जब उन्हें अपने यहाँ रख चुकी हूँ तो उन्हें मुझको अपने यहाँ रखने में क्या इतराज?

आप बोले—तुम सरासर झूठ बोल रही हो। क्या सचमुच तुम रह सकती हो?

'आप भी क्या कहते हैं जब मुझे औरों के यहाँ ही रहना पड़ता तो मैं नौकरी ही क्यों छोड़वाती?' मैं बोली।

आप बोले—वही तो मैं भी कहता हूँ।

मैं बोली—मैंने यों ही कहा।

आप बोले—ये लोग बड़े संकीर्ण विचार के हैं। ये हमेशा किसी न किसी के सिर का बोझ बनकर रहे हैं।

महावीरप्रसाद पोद्दार

इस्तीफा देने के बाद महावीरप्रसाद पोद्दार अपने गाँव में लिवा ले गये। अपनी बीवी को भी लिवा ले गये, जिससे तबियत घबराये न। ऐसा

मालूम होता था कि पोद्दारजी, हम सब एक ही हैं। पोद्दारजी ने हमारी काफ़ी सेवा की ; उन्हीं की सेवा की वजह वे जल्दी तन्दुरुस्त हुए। १३ मील शहर रोजाना पोद्दारजी जाते थे। बाबूजी दरवाज़े पर बैठे-बैठे चर्खे बनवाते और लिखते-पढते।

दो महीना रहने के बाद तै हुआ कि पोद्दारजी के साझे में शहर में चर्खे की दूकान खोली जाय। और एक मकान वहाँ लिया गया। उसी जगह दस कर्घे लगाये गये। चर्खा चलानेवाली कुछ औरतें भी थीं। देहात से बनकर चर्खे आते थे, वे बेचे भी जाते थे। शाम के वक्त पोद्दारजी और बाबूजी तथा और कुछ मित्रगण बैठकर गपशप करते।

एक दिन की बात है। रात को खाना खाकर आप जैसे उठे, वैसे ही लाल बादल हुए। मुझसे बोले--तुम लोग भी जल्दी खा लो। मालूम होता है, आंधी जल्दी आयेगी। जैसे ही थाली परोसकर रखा, वैसे ही आँधी-पानी दोनो आये। मै तो भागकर बच्चो के कमरे मे पहुँची, वहीं आप भी पहुँचे। उसी वक्त पत्थर गिरना शुरू हुए। पत्थर पडते समय मै बराण्डे में पहुँची और उनकी मेज़ पर जो कागज़ लिखे हुए पडे थे, उन्हें समेटकर उनकी चारपाई पर पटक दिया। तब तक पत्थर अन्दर भी खपडा तोडकर आने लगा। तब आप घबराकर बोले--देखो रानी, बच्चो का सिर फूटा। हम जल्दी में बच्चो के ऊपर एक लिहाफ तानकर दोनो तरफ खडे हो गये। बच्चों के सिर बचने की उम्मीद तो थी ; पर अपने कैसे बचाते। हम दोनो के सिर पर पत्थर लगे। वे बोले—अब अपने सिर कैसे बचाये जायँगे।

मैंने बच्चों को एक तख्ते के नीचे डाल दिया। मैने उनसे कहा, आप भी जल्दी चले जाइए।

'तुम भी इसी के नीचे आओ।'

'नौकर, तू भी चल भीतर।'

हम पांचो उस तख्त के नीचे पेट के बल लेटे पडे थे। बिछावन-ओढन सब भीग गये थे।

आप बोले—तुम्हें मौके पर बात सूझ जाती है ; लेकिन मुझे नही सूझती, क्या बात है ? अगर आज न होती तो दो-एक का सिर अवश्य फूट गया होता ।

मैं—कहाँ मै जाती !

बच्चों को सुलाकर हम बाहर पत्थर देखने आये। देखते हैं तो कमर के बराबर पत्थर लगा हुआ है। मेज पर कागज़ न देखकर बोले—मेरे कागज भी उड-पड गये।

मैं—नही चारपाई के नीचे सब पडे है। मैंने उन्हें रख दिया था।

'क्या तुम्हारे बदन में बिजली है ? देखते-देखते सारा काम कर डाला।'

मैं—तुमसे उमर मे भी कम हूँ, जवान हूँ। क्यो न जल्दी कर डालूँ ?

'ठीक है, दो में कोई तो भला ऐसा रहे।'

मैं—नही, मै ऐसा अच्छा रहने से दर गुज़री। देखनेवालो को भी भद्दी लगे।

'तुम ख़ुद अपने लिए ही होतीं तो भद्दा लगता। यह सब तो मेरे लिए करती हो। तुम ऐसी न होती तो मै जिन्दा भी न रह सकता।'

धुन्नू ने लेख फाड़ डाला

एक बार की बात है, धुन्नू छोटा था। आप एक लेख लिखकर मेज़ पर रख आये थे। धुन्नू ने जाकर उस लेख को फाड डाला। कलम-दवात लेकर, दूसरे कागज़ पर वह कुछ ख़ुद लिखने लगा। जब आपने कमरे के अन्दर जाकर यह हरकत देखी तो क्रोध मे आकर एक चपत लगायी और डाँटा—भगो यहाँ से। नही तो और भी पीटूँगा।

धुन्नू की चीख़ मेरे कानो मे पडी। मैंने उनकी बहन से कहा—जीजी, ज़रा देखिए तो, क्या धुन्नू पर मार पड रही है। वहां दौडी हुई गईं। बच्चे को गोद मे उठाकर बोली—क्यो बच्चे को मार दिया ?

'तुम देखो तो। मेरा लेख इसने फाड डाला। आज इसे मै भेजनेवाला

था। दुष्ट ने इसे फाड़ डाला। अब क्या अपना सिर भेजूँ ?'

'बच्चा ही तो है। समझकर थोड़े ही किया। तुम भी तो कम शैतान न थे।'

'मै लेख थोड़े ही फाडता था।'

'तब लेख लिखता ही कौन था ? रामू के कान तो तुम्हीं ने काटे थे। वह लेख कान से भी मँहगा था ?'

आप चुप।

बहन (बडबड़ाती हुई)—नासमझ बच्चे पर इतनी मार !

जीजी उसे गोद मे लेकर अन्दर आईं, बोलीं—इन्हें क्रोध बहुत आने लगा है।

फिर मै उनसे बनारस आने को कहने लगी। बोले—वहाँ जाकर क्या करोगी ?

'यही रहने से क्या होगा ? वहाँ पर बैठिए और अपना काम कीजिए।'

'मै काम तो यहाँ भी करता ही हूँ।'

'फिर भी यहाँ रहना ठीक नहीं। वहाँ की आब-हवा भी आपके अनुकूल पडेगी।'

'अच्छा है दो-तीन रोज़ मे चला जाय।'

उसके बाद हम लोग लमही आये।

लमही ; कानपुर

लमही (बनारस) आने के बाद वे ४०) प्रतिमास पर दो लेख या दो कहानी नियम से लिखते थे। लिखते तो और जगह के लिए भी थे ; पर यह मुस्तकिल था।

सुबह उठना, पाखाना जाना, फिर हाथ-मुँह धोकर कुछ नाश्ता करना। फिर अपने रोज़ के काम पर लग जाना। फिर बारह बजे काम से उठकर नहाना-खाना। उसके बाद एक घण्टे आराम करते। फिर उसी तपते हुए

मकान के नीचे दो बजे से लिखने-पढने मे लग जाते, फिर कुछ नाश्ता करके बच्चों को लेते और दरवाजे पर बैठकर गाँववालो से बात करते।

एक दिन चर्खा बनवाने के लिए एक ज़मीदार साहब के पास लकडी माँगने गये। बोले—मुझे आप लकडी दीजिए। मैं उनकी बनवाई दूँ, और चर्खे देहात मे बाँटे जायँ। जिससे गरीब भाइयो में चर्खे का प्रचार बढे।

जमीदार को यह बात प्रिय लगी। और वे देने पर राजी हुए।

गाँव भर के आदमियो को इकट्ठा करके अपने साथ लकडी लदवा लाये। एक माह तक दो बढई दरवाजे पर चर्खे बनाते रहे। उसके बाद सब लोगों को एक-एक चर्खा मुफ्त बाँटा गया। चर्खे के लिए स्नेई किस तरह की हो, किस तरह वे चलाये जायँ, कैसा सूत हो इन सब बातों की जानकारी वे लोगों को कराने लगे। इसी तरह दो महीने बीते।

एक दिन की बात है। वे जब खाना खाने बैठते तो मै तत्काल अपने हाथो उन्हें गरम-गरम रोटियाँ पकाकर देती थी। जब आप खाना खाने बैठे तो घी नदारद! मुझसे पूछा—क्या दाल में घी नहीं पडा?

मै—घर मे हो तब न।

उसी समय उन्होने अपनी चाची को बुलाया। और पूछा—घी क्यो नहीं रहा?

चाची—एक दिन बिना घी के नहीं खा सकते?

'कभी घी, कभी तरकारी, कभी दाल इस तरह तो एक-न-एक चलता ही रहेगा। आख़िर है क्यो नही?'

'नही रहा।'

उसी समय झल्लाकर थाली पर से उठ गये।

सबो ने खाना खाया। मैं तो दुबारा चौके ही में न जा सकी। मुझे यह चिन्ता परेशान करने लगी कि आख़िर और ये क्या खायेंगे। क्या वैसे ही रहेंगे। मैंने तुरन्त आठ आने का घी गाँव मे से मँगवाया और मूँग की दाल धूप मे बैठकर मैने खुद पीसी। मुँगौडे और हलुआ बनाया। जब तैयार हो

गया तो उनके पास डरते-डरते ले गई। बोले—इस समय कुछ न खाऊँगा। मैंने कहा—बड़ी मेहनत से अभी मैंने तैयार किया और मैंने भी अभी तक कुछ नहीं खाया है।

मेरी यह धमकी सफल हुई और उन्हें खाना पड़ा। तब से मै बराबर सामान मँगवाकर रखने लगी। आप बोले—अब यहाँ ज्यादा रहना अच्छा नहीं।

उसके दूसरे दिन मेरे पिता के मरने की ख़बर आई। दो ही तीन दिन बाद मुझे लेकर वे इलाहाबाद गये। वहाँ सात-आठ रोज़ रहे। उसके बाद आप कानपूर चले गये। वहाँ मारवाड़ी विद्यालय मे हेड-मास्टरी ख़ाली थी। उसके मैनेजर श्री काशीनाथ थे। वे गणेशशंकर विद्यार्थी के मित्रो मे थे। उन्होंने यह तै किया कि इस काम को आप स्वीकार कीजिए। आपके आने से रंग आ जायगा। आपने उसे कबूल किया। यह जून, १९२१ की बात है। तै हुआ कि जुलाई से आप काम पर आ जायँगे। इसके बाद आप इलाहाबाद आ गये। मुझसे बोले—मै अपने लिए जगह ठीक कर आया। आओ, हम-तुम बनारस एक बार फिर हो आये।

फिर एक महीने तक उसी तरह चलता रहा।

पाँचवीं जुलाई को हम कानपूर आने की तैयारी मे लगे। उन दिनो बन्नू पेट मे था। चाची बोलीं—इन्हें छोड़ जाओ।

आप बोले—इन्हें मै न छोड़ूँगा। इनकी तबियत अच्छी नहीं। क्या मालूम क्या हो जाय। मुझे तो जीवन भर पछताना पड़ेगा।

चाची—होनी को तुम रोक लोगे ?

'मेरे सामने होने से मुझे पछतावा तो न रहेगा।'

चाची—तब तुम मुझे बुलाओगे। मुझे आना पड़ेगा।

'यह तो आपकी मर्जी पर है।'

हम पाँचवीं तारीख़ को दोनो बच्चो को लिये कानपूर पहुँचे। कानपूर जाने के बाद मेरी तबियत फिर ख़राब हुई। जो महरी हम रखते, एक दिन

आती, दो-चार दिन गायब रहती। मुझे दस्त हो रहे थे। कमज़ोरी बेहद थी। खाना हज्म न होता था। साबूदाना पानी से उबालकर खाती थी। कभी-कभी तो वे खाना पकाते ही, बर्तन भी अपने हाथों साफ करते। एक दिन मुझे रात भर दस्त आये। रात को कोई ४ बजे के करीब कमज़ोरी के कारण मैं गिर पड़ी। आप दौड़े आये। देखा तो मेरी यह हालत थी। मुझे उठाकर चारपाई पर रखा। मैं बेहोश थी। जब मुझे होश हुआ तो आँखों में आँसू भरकर बोले—तुम्हारी जब यह हालत थी, तो मुझे क्यों न जगाया ?

मैं—आपको क्यों तकलीफ देती ?

'तो तुम मर जाने पर अपनी लाश ही दिखाना चाहती थीं।'

मैं—मरने का क्या अन्देशा था। कमज़ोरी थी, गिर पड़ी।

'मरना कैसे होता है ? बेहोश तो थीं ही तुम।'

मैं—कभी मरी तो नहीं हूँ कि मरना बताऊँ।

'तुम्हें हर समय मज़ाक ही सूझता है।'

मैं—अरे अब तो अच्छी हूँ।

उसी के डेढ़ महीने बाद बन्नू पैदा हुआ। उनकी चाची आईं तो मेरे पास जरूर; पर बन्नू के पैदा होने के बीस दिन बाद वापस चली गईं।

कानपुर

एक दिन एक महाशय मेरे यहाँ आये और बोले कि रेल में मेरा कोट कोई चुरा ले गया, उसी में रुपए भी थे। मैं अपनी बीबी और बच्चे को लेने ससुराल जा रहा था। मुझे कुछ रुपए चाहिए। नहीं तो मैं जा नहीं सकता। दो रोज़ तक वे रहे। मुझसे आप बोले—इनको १५) चाहिए। दे दो।

मैं—रुपए कहाँ है ? फीस ही के तो रुपए हैं। आप बोले—किसी तरह भी सही। दो तो। मेरा बड़ा नुकसान हो रहा है।

मैं—अगर वक्त पर रुपए न आये।

'पहले उसे दो। पीछे समझ लेंगे।'

मैने उन्हें १५) दिये। वे लेकर बिदा हुए।

पाँच-छः रोज़ के बाद फिर वे अपने बीवी-बच्चों को लेकर पहुँचे, फिर तीन रोज़ रहे। उनसे दुबारा २०) माँगे। वे मेरे पास डरते हुए आये। बोले कि वे २०) फिर माँग रहे है। मै क्या करूँ।

मैं—मुझे तो तुमने परेशान कर डाला। इतने रुपए कहाँ हैं ? दूसरे के रुपए अगर समय पर न आये तो ! मेरे पास रुपए नही है।

'रुपए नहीं है तो इतने आदमियो को खिलाओ। या जवाब दो।'

'जवाब तो आप ही को दे देना चाहिए था।'

आप बोले—न दोगी तो पलेगे नही। चार-चार आदमियो को पकाकर खिलाना भी मुश्किल पड जायगा। कह रहे है कि फौरन रुपए भेज दूँगा।

मैने फिर १५) दिये। उसने चार-पाँच दिन मे देने का वादा किया था। जब वादे की तारीख़ ख़तम हुई तो मैने पूछा—रुपए आये। तब आप बोले—रुपए तो नहीं आये। ख़ैर, जब फ़ीस देनी हुई, तो मैने घर से रुपए मिलाकर पूरे किये।

१५-२० दिनो के बाद एक दिन मैने कहा—आप एक ख़त तो भेज दीजिए। तो आप बोले—बिना तुम्हारे कहे मैने दो खत भेजे।

मै—अब आज प्रतिज्ञा कर लीजिए कि उधार की नीयत से किसी को न दूँगा।

'तुम जैसा कहो, वैसा ही करूँ। जो माँगने आयेगा, उसे देना तो पडेगा ही।'

मै—तुमको उलझन नहीं होती। तुम तो समझते हो सन्दूक में १) रखने से १०) हो जाते है।

'तुम भी तो चुपके से निकालकर दे देती हो। रहते नहीं तो कैसे देती हो ? पहले ही की तरह थोडे ही है। जब फीस के रुपए न दाख़िल होते तो मै जानता कि रुपए नहीं है।'

मै—कम से कम मेरी परेशानी तो महसूस किया करो।

'अरे भाई, क्या करूँ ? तुम अपनी तबीयत की ढोप क्यों नहीं देतीं। लोग रुपए रखे रहते हैं, लेकिन देते नहीं।

'मुझे तुम्हारे ऊपर दया आ जाती है। इसी से मजबूर हो जाती हूँ। सब तो तुम्हें भाड़े का आदमी समझते ही हैं। मैं भी क्यों समझूँ ?'

'ख़ैर, हम लोग शायद इसी के लिए पैदा हुए हों।'

मैं ख़ामोश हो गई। तब से उधार की नीयत से मैंने किसी को रुपए नहीं दिये।

इसी तरह की एक और घटना है—एक बार ग्वालियर से एक ख़त आया। मैं लखनऊ में थी। उसमें लिखा था कि १००) आप भेज दें तो मुझे १००) महीने की एक नौकरी मिल जाय। मुझे ज़मानत देनी है।

उन्होंने मुझे वह खत पढ़कर सुना दिया। और बोले—१००) वे मांग रहे हैं। उन्हें १००) की जगह मिल रही है।

मैं—तो फिर नौकरी करें, रुपए क्यों मांग रहे हैं।

'उसको जमानत जो देनी है।'

ख़ैर, उसके ऊपर मुझे भी दया आई। मैंने सोचा १००) देने पर जब एक आदमी को १००) की जगह मिलती है तो क्या हरज है ?

आप बोले—नहीं वह दो महीने में ५०) करके दे देगा।

मैं—देने-लेने की इच्छा मत करो। उसे दे दो। उसका भला हो जाय। उसका जीवन शायद सुधर जाय।

'ख़ैर, जैसी तुम्हारी इच्छा।'

दूसरे दिन बैंक से १००) मैंने मँगवाये। और उनको भिजवा दिये। आपने पत्र में लिख दिया कि ये रुपए मैं नहीं, शिवरानी भेज रही है।

चौथे रोज़ उनका पत्र आया। लिखा था कि ख़ुशी है। अब मुझे वह जगह मिल जायगी।

तब से एक महीने तक बराबर उनके ख़त आते रहे।

उसके बाद वे स्वयं आये। मेरे घर ठहरे। बोले—मैं छुट्टी लेकर केवल

आप लोगो के दर्शन के लिए आया। मेरी मा पहले ही मर चुकी थीं। मेरे पिता ने दूसरी शादी कर ली। मुझसे उन्हें बड़ी नफ़रत है। अब मैं इसी को अपना घर समझ रहा हूँ।

दो-तीन दिन के बाद मैं बोली—इन्हें आप किसी होटल मे ठहरा दीजिए।

आप बोले—मैं भी यही ठीक समझता हूँ।

एक होटल मे वे बारह रोज़ तक ठहरे रहे। उन दिनो 'हंस' निकालने की चर्चा हो रही थी। उन महाशय को लिखने-पढ़ने का शौक था। फिर वे बारह-तेरह रोज़ के बाद चले गये। उसके बाद मई महीने मे हम लोग घर आये। जून मे बेटी कमला की शादी थी। उस अवसर पर वे मेरे घर पर आये और लगभग पन्द्रह दिन तक बराबर रहे। जब वे जाने लगे तो फिर उन्होने ५०) माँगे, दिये गये, यह बात मुझे नहीं मालूम। वे गये। उसी के बाद जुलाई मे आप भी लखनऊ गये। वहाँ उस समय मैं नहीं गयी। वे धुन्नू को अपने साथ लेते गये।

उसके बाद उसने पटने मे अपनी शादी तै की। आपको ख़बर दी। आपने उसकी बीवी के लिए हाथ की सोने की चार चूड़ियाँ, गले की जंजीर, कर्णफूल और दो-तीन रेशमी साड़ियाँ ख़रीदकर उसे दीं और १००) उसे नगद बारात के ख़र्च के लिए दिये और खुद पटने तक गये भी।

वह अपनी बीवी ब्याह कर लखनऊ लाया। तीन रोज़ के बाद उसे ढूँढती हुई पुलीस पहुँची। यह फ़रार आदमी था। तब उससे आप बोले—तुम यहाँ नही रह सकते। वह अपनी बीवी लेकर चला गया। जब मैं अगस्त के महीने मे पहुँची तो उन्होने बताया कि उसकी शादी हुई है। यहाँ से कपडे ले गया है, रुपए ले गया है।

एक दिन सुनार तकाज़ा करने आया। मैं उनके पास बैठी थी। सुनार ने कहा—रुपए चाहिए। उसी सोनार से अपनी लड़की के लिए भी मैंने ज़ेवर बनवाये थे।

मैं बोली—तुम्हारे रुपए तो पूरे दे दिये गये थे।

सुनार—वह रुपए नही। बाबूजी ने एक बगाली सज्जन को और गहने दिलवाये हैं।

'बंगाली के यहाँ से रुपए आयेंगे तो मिलेंगे।'

आप बोले—हाँ, उसका पत्र आया था। जैसे ही रुपए आये, मैं दूँगा।

सुनार चला गया। उसके बाद मैने उनसे पूछा कि जब उसके पास रुपए नहीं थे तो आपने दिया क्यो ?

'जैसे ही तुमने नौकरी के लिए १००) भेजे, वैसे ही मैने उसकी शादी करा दी। तुम रहतीं तो उसकी बीबी तुम्हारे पैर दबाती।'

मैं चुप हो गई। उसके कुछ दिनों पर बजाज पहुँचा। उस दिन भी इत्तफाक से मै उसी कमरे मे थी।

मै--तुम क्यो आये ?

'बाबूजी ने एक बङ्गाली बाबू को कपडे दिलवाये है।

मै—क्या तुम्हें भी रुपए नही मिले ?

बजाज—क्या मिले होते तो मै जबर्दस्ती आपसे माँगता ?

उसको भी वही जवाब दिया गया। जब वह चला गया तो मुझे बुरी तरह क्रोध आया।

मै--जितना ही मै उधार से घबराती हूँ, उतना ही आप मेरे सिर पर लाद देते है। अभी लड़की की शादी की, तब तक आप उधर लाये और इतना फिर उधार। या तो आप मालिक रहें, नही मेरी राय से काम होना चाहिये। यह बेहूदगी मुझे कतई पसन्द नही। कभी कोई बला, कभी कोई बला। मुझे तो कोई उम्मीद नही कि वह रुपए भेजेगा।

आपने उन रुपयो के लिए मुझसे छिपकर लिख-लिखकर, रुपए मँगाकर भरना शुरू किये। कोई डेढ साल मे पूरे रुपये दे पाये।

यह बातें मुझे जैनेन्द्रकुमार ने मरने के बाद बतलायी। जैनेन्द्र जानता था। उससे वे पहले बता चुके थे। और मुझसे न बताने लिए सख़्त ताकीद

की थी—घर मे न बताना, नहीं तो ज़बर्दस्त फटकार सुननी पड़ेगी। *

इसी तरह एक बार और दूसरे महाशय आये और दो सौ रुपए बैंक से निकलवाकर लिये। मै उन दिनो जेल मे थी। जेल से छूटकर जब मै आई तो एक दिन मैने रुपयों का हिसाब पूछा—हिसाब बता ले गये। हिसाब में २००) घटे। मैने पूछा, और रुपए कहाँ गये ? आप बोले—ख़र्च हो गये कहीं।

मै—झाँसा न दीजिए। बताइए, कहाँ गये।

मजबूर हो जाने पर बोले—एक सज्जन आये थे वे ले गये। उन्हें सख़्त ज़रूरत थी।

मै—सभी की ज़रूरतो का तुमने ठेका ले लिया है।

'क्या करूँ, जान बूझकर थोड़े ही विपत्ति मे फँसता हूँ। नहीं रहा जाता।'

मै—आप तभी अच्छे थे। आपको तब टके-टके की पडी रहती थी। कोई किसी की किस्मत नहीं बना सकता। आप फिर उसी हालत में रहना चाहते है। रुपए उतनी आसानी से आप जमा करें तो आपको पता चले। चौबीसो घण्टे की किफायत से रुपया जमा होता है।

'रानी, तुम अपने नाम जमा रखो। न रहे बाँस, न बाजे बाँसुरी।'

'मालूम होता है, मुझे रुपया जमा करने का ख़ब्त है।'

'स्त्रियाँ चुपके से जो रुपए रख लेती है, वह आदत सचमुच बड़ी अच्छी है।'

मै—जमा करती हूँ, तुम्हारे लोगो के लिए। चाहती हूँ कि तुम लोगो को फिक्र न रहे। तुम्हें जिससे मालूम हो कि तुम्हारे रुपए जमा है। मै देख चुकी हूँ कि तुम पहले हमेशा परेशान रहते थे। तुम्हारी चिन्ता मै कम करना चाहती हूँ। तुम मुझसे चोरी करते हो ?

आप बोले—तुमसे मै चोरी नहीं करता। इन कंबख्तो के मारे परेशान रहता हूँ।

---

* यह क़िस्सा उन्होंने अपनी 'ढपोरसंख' कहानी मे बयान किया है।

मैं—आप अपने हाथ से ख़र्च किया कीजिए। चोरी करने से आत्मा भी ख़राब होती है।

'चोरी तुम्ही से करता हूँ। हल्की ही सज़ा होगी।'

मैं—आज से मैं कतई रुपए नही रखूँगी।

आप बोले—मैं ही क़सम खा लेता हूँ कि कभी मैं किसी को रुपए न दूँगा। अब कोई काम करना होगा, तुम्हारे हाथ से होगा। इस बोझ से मैं अपने को अलग रखूँगा।

सेवाभाव

एक बार की बात है मेरे पास छोटा बच्चा बन्नू था। मै खाना पका रही थी। बन्नू रो रहा था। उसे बेटी ने उठा लिया। बच्ची-बच्चा दोनो गिरे। बच्चे के सिर में चोट लगी। तीन दिन तक तो वह चारपाई पर सिर तक न रख सका। इसलिए तीन-चार दिनो तक उन्हें ही रोटी पकानी पडी। सुबह के काम तो वैसे ही चल रहे थे। साढ़े चार बजे ही उठ जाते थे। और लिखने-पढने मे लग जाते थे। धुन्नू को पढाते भी थे। लिखते भी जाते थे। उसके बाद फिर नहा-खाकर स्कूल जाते। स्कूल से लौटते हुए तरकारी वग़ैरह अपने साथ लेते आते थे। बच्चों के साथ भी कुछ देर खेलते। कांग्रेस की मीटिग रोज़ाना चल रही थी, उसमें भी शरीक होते। मीटिंग से कभी-कभी लौटने में रात के दस बज जाते। जिस दिन दस बजे लौटते, उस दिन रात को काम कर न पाते, उस दिन तीन बजे रात को ही जगकर काम मे लग जाते। मगर इतना आहिस्ते से उठते थे कि मै जाग न पाती। मै हमेशा आराम के लिए झगडती रहती थी। पर वह कब के माननेवाले। उसी साल अगहन के महीने मे आप बीमार पड़े। नौ दिन तक बुख़ार दिन-रात रहा। मगर जब मै उनकी तबियत का हाल पूछती तो वे 'अच्छा हैं' यही कहते। मेरे घर उन दिनो चूल्हे में आग भी न जली। दोनो बच्चो को बाज़ार की पूडियाँ और दूध मिलता था।

दसवे दिन स्कूल के मास्टर आये और पूछा—आपकी तबियत कैसी है?

बोले—बुख़ार नहीं उतर रहा है, मियादी मालूम होता है।

वे लोग थोड़ी देर बाद जाकर एक वैद्य को बुला लाये। उसने एक ऐसी तेज़ दवा दी कि बुख़ार तो उतर गया; लेकिन ख़ून के दस्त आने लगे। जिस दिन ख़ून के दस्त आने शुरू हुए उन्हें मैं पाख़ाने में पहुँचा आई। जैसे ही आप वहाँ से उठने लगे, वहीं बेहोश होकर गिर पड़े। मैं दरवाज़े के पास ही खड़ी थी। हड़बड़ाकर दरवाज़ा खोला। देखा, बेहोश! उठाकर किसी तरह चारपाई पर रखा। उसके कुछ देर बाद उन्हें होश आया। बोले—न मालूम कैसी दवा दी? उस समय बेहद कमज़ोरी थी। तीन रोज़ तक ख़ून के दस्त आये। उसके बाद जब अपना कहार आया तो उसी से एक मास्टर साहब को बुलाया और उनसे वैद्य को बुलाने को कहा। वैद्य आये और दूसरी दवा दी। उससे दस्त भी अच्छे हो गये। एक महीने तक कमज़ोरी के कारण ज़ीना नहीं उतर पाये।

मगर लिखने की ख़्वाहिश उन्हें रहती थी। रात को जब मैं सो जाती तो रात को धीरे से उठकर अपनी कापी, कलम-दवात उठा लाते। जाड़े के दिन थे, चारपाई पर रज़ाई ओढे लिखने लगते। उन दिनों वे 'प्रेमाश्रम' लिख रहे थे। मैं देख पाती तो झल्ला उठती—क्या अभी बीमारी कुछ कम है, जो और किसी बीमारी की चाह है?'

'नहीं। मैं लिख कहाँ रहा था। देखता था, पीछे का लिखा हुआ।'

'सारा ज़माना तो आपको ठग लेता है; लेकिन आप मुझे ठगने लगते हैं।'

'भला कौन तुम्हें ठगेगा?'

मैं—इसी तरह गोरखपुर मे बीमारी जड़ पकड गई लिखने के कारण। अब फिर वैसा ही करने पर तुले हुए हैं।

'कहाँ? तुमने कलम ही तोडकर फेंक दी थी। लिखता कब था?'

'क़लम तो बाद को मैंने तोडी, जब किसी तरह भी आप नहीं माने। दिन भर मैं भी तुम्हारे साथ बेकार बैठी रहती थी।'

'मैं कुछ काम न करूँगा।'

मैं—आप स्वस्थ हो जायँ तो काम कीजिए, रोकता कौन है ? अभी नीचे ज़ीने से उतरने तक की ताकत तो आई नहीं और काम करना शुरू कर दिया। फिर भी आप न माने तो, मैं फिर कलम तोडकर फेंक दूँगी। छोटा बच्चा कहा न माने तो ठीक भी है, आप इतने बडे होकर एक बात नहीं मानते।

'अब मान जाओ। कह दिया, कलम तक न छुऊँगा।'

मैं—अभी ताले के अंदर रख देती हूँ, न रहेगी बाँस न बाजेगी बाँसुरी।

आँव जारी ही था। मैं इस बीमारी से बहुत दुखी हुई। एक रोज़ बोली—कोई दवा कीजिए। बोले—तुम देखती हो, दवा तो बराबर कर रहा हूँ। फायदा न हो तो मैं क्या कर सकता हूँ। घर में कोई भी न था। शाम को मैं खाना बनाने लगती। बन्नू को खाँसी आ रही थी, वह छ महीने का था। खाना बनाते हुए वह अक्सर रोता। बहुत दुबला हो गया था। मैं रोटी बेल देती, वे रोजाना सेंक लेते। जब वे खाना खाकर उठते, तो बच्चे को लेते, और तब मैं खाना खाती।

एक रात का सपना है। मैंने ख्वाब में देखा कि आगामी जुलाई से ये अच्छे हो जायँगे। जागने पर मुझे बड़ी ख़ुशी हुई। इसके पहले के भी दो-चार सपने सच निकले थे। उन्हें मैंने आवाज़ दी कि क्या आप सो गये हैं ? बोले—क्या है !

मैं—आगामी जुलाई से आप अवश्य अच्छे हो जायँगे।

'क्या तुमको मेरी बीमारी की याद सोने पर भी नहीं भूलती ?'

मैं—इसे सच समझिए। यह बात झूठी नहीं।

'तुम इसी तरह के स्वप्न देखती हो।'

मैं—कल इसे नोट कर लीजिए। गोरखपुर में भी मैं इसी तरह का स्वप्न देख चुकी हूँ और वह सच निकला।

'कल नोट कर लूँगा। देखूँ, सच निकलता है।'

मैं—हाँ मुझे विश्वास है। आपको भी विश्वास हो जायगा।

फिर काशीनाथजी से झगड़ा होना शुरू हुआ। एक दिन मुझसे बोले—क्या करूँ। यह कंबख़्त मेरे पीछे पडा है।

मैं—तो क्या ? आप उसकी सहते रहेंगे ? हटाइए। इस्तीफ़ा देकर घर चलिए।

'घर भी तो वही बात ! रुपए तो कहीं से आने चाहिएँ।'

मैं—सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा देते समय मारवाड़ी विद्यालय का प्रश्न नहीं था।

'रानी, यह हिन्दुस्तान है। कलम के बल पर रोटियाँ चलाना बहुत ही मुश्किल है।'

मैं—तो क्या ? कम में ही निर्वाह कर लेंगे। जब वह नहीं चाहता तो ख़ुद कहाँ तक सहा जाय ?

'तुम्हारी राय यही कि छोड दूँ ?'

'ज़रूर छोडिए। ज़रूरतों का ग़ुलाम होना ठीक नहीं।'

उस समय काशी से 'मर्यादा' नाम की एक पत्रिका निकलती थी। उसके संपादक बाबू संपूर्णानंद थे। उसी दिन पत्र आया—आप आकर संपादन कीजिए। १५०) वेतन मिलेंगे। उसके बाद इस्तीफ़ा उन्होंने दे दिया। स्कूल में मास्टर चाहते थे, इनकी विदाई में एक जलसा किया जाय। और इनको एक अभिनंदन-पत्र दिया जाय। काशीनाथ को यह अच्छा न लगा। पर मास्टरों ने न माना। लडकों की भी इच्छा थी। जलसा हुआ। अभिनंदन-पत्र दिया गया। उसी के कारण चार-पाँच मास्टर और निकाले गये। पचीस-तीस लडके स्वयं हट गये।

उसके बाद निश्चित हुआ कि घर चलना चाहिए। मेरे भाई आये। मुझे और बच्चों को अपने यहाँ ले गये। आप अकेले काशी आये। 'मर्य्यादा' में काम करना शुरू किया। कबीरचौरा पर मकान लिया। फिर उसी तरह काम चलने लगा। ११ बजे 'मर्य्यादा'-आफ़िस जाते, खाना ख़ुद पकाकर, खाकर जाते। भाई को भी ख़ुद खिलाते।

एक बार की बात है—गेहूँ पिसकर आया। उसमें मिट्टी-कंकड काफी थे। मैं अपने मायके थी। जब मैं लौटकर आई तो देखा कि एक चादर में सूखे गेहूँ की अलसी चिपकी हुई है। मैंने पूछा—चादर पर क्या है? आप बोले—आँटा पिसकर आता है, तो उसमें मिट्टी तो रहती ही है, कंकड भी रहते हैं। खाना कैसे होता। तो फिर दुबारा मैंने गेहूँ बीनकर, साफकर, पानी से धोया और उसे ही चादर पर सूखने को डाला था।

मै—घर से मँगा लेते ?

'घर में किसे पडी है ?'

मैं—वे भी तो थे। आप अकेले तो थे नहीं। खाना कौन पकाता था ?

'मै खुद।'

'ठीक है। काम भी करो, सबको खाना भी खिलाओ।'

'तुम तो अपने घर बैठो। मैं अकेला क्या करता ?

'मुझमें इतनी बर्दाश्त नहीं।'

'मै क्या करूँ ? अब तो उनका लडका १००) पाता है, अब उनका मिज़ाज कैसे मिलेगा।'

'कमाते हैं, तो क्या किसी को दे देते हैं ?'

इसी तरह डेढ साल 'मर्यादा' में रहे। फिर विद्यापीठ में हेडमास्टरी पर नियुक्त हुए। वेतन १२५) तै हुआ। रोज़ाना भदैनी एक्के से जाते। उसी जुलाई से दस्त आना बन्द हो गया। तब आप बोले—भाई, तुम्हारा सपना सच निकला।

मै—धन्यवाद ईश्वर को।

बूढ़ी नाइन

सन् '२१ की बात है, आपके बडे भाई साहब इन्दौर से आये थे। बूढी नाइन गाँव में किसी को गाली दे रही थी। उसके इस व्यवहार पर बडे भाई साहब को क्रोध आ गया। उन्होने नाइन को दो-तीन तमाचे लगा दिये।

वह नाइन रोती हुई आई और आपका पैर पकड़कर रोने लगी। उसको शान्त करते हुए बोले—मै भाई साहब से पूछूँगा।

जब वह नाइन चली गई तो आप मुझसे बोले—भइया को न मालूम क्या हो जाता है। उस बूढ़ी को ख़ामख़्वाह उन्होने मार दिया।

मै बोली—यह भी तो दुष्ट है।

आप बोले—पर बूढ़ी औरत के ऊपर हाथ डालने का उन्हें क्या अधिकार?

मै बोली—कोई सह लेता है, किसी को क्रोध आ जाता है।

'क्रोध की सीमा भी होनी चाहिए।'

'क्रोध मे कोई सीमा देखने जाता है। जाकर अपने भाई से पूछिए। आपके ऊपर भी बिगड़ेगे।'

'मै उन्हें कुछ कहूँगा थोड़े ही।'

शाम को पूछने लगे, आपने व्यर्थ नाइन को मारा?

भाई बोले—क्या करता। यह बड़ी दुष्ट है। बहुत बार मैंने मना किया; पर यह मानती ही नहीं।

'तो क्या आपके मारने से वह भलेमानुस हो जायगी?

'मुझे क्रोध आ गया। और यह तो सच है कि वह भलेमानुस नहीं हो जायगी।'

'तो इससे क्या लाभ? मार की मार भी, और ठीक भी नहीं हुई।'

'जो कुछ कह लो। क्रोध आ गया, मार दिया।'

'तो आपने उस नाइन से क्षमा माँग ली?'

'क्षमा तो मैंने नहीं माँगी। लेकिन धुन्नू की माँ ने तो उसे ज़रूर खाना-वाना खिलाया। उन्होंने हमदर्दी भी दिखाई।'

'तो फिर धुन्नू की माँ ने उसे खुश कर लिया। परेशानी तो उन्हें ही हुई। आप हम तो बच निकले। घन्टो उसे समझाया गया होगा। तब कहीं वह शान्त हुई होगी।'

जेठ जी

सन् २२ की बात है हमारे जेठ को कहीं नेवता करना था। उन्हें रुपयों की ज़रूरत थी। प्रेस मे बाबू जी से बोले—नवाब मुझे कुछ रुपए दो। ज़रूरत है। आप बोले, आज भैया कुछ भी नहीं आया। कहो तो किसी के यहाँ से उधार मँगवा दूँ।

वे बोले—मै घर पर धुन्नू की माँ से ले लूँगा। उधार क्यो आयेगा?

आप बोले—उनके पास न होगे?

'तुम्हारे लिए न होगे, मेरे लिए है।'

'नही। आजकल रुपए उनके पास नही रहते।'

शाम को उनके आने के पहले मेरे पास आये। बेटी से बोले—अपनी माँ से कहो, १५) रुपये मुझे चाहिए। हो तो दे दे।

मुझसे 'नही' करते न बना। मैने १५) निकालकर उन्हें दे दिये। वे मेरी बात को बहुत अधिक मानते थे, मेरी सलाह ही से वे भी काम करते।

जब शाम को आप आये तो बोले, भैया आये थे?

मै बोली—आये थे और १५) रुपए भी ले गये।

आप बोले—मैंने झूठे ही उनसे कहा कि रुपए नही हैं। कहाँ थे रुपए?

मै बोली—दिल्ली कितनी भी उजड जाय, देहात तो रहेगी ही।

'मुझे उन्होंने झूठा समझा होगा। तभी भैया कहते थे, मेरे लिए होंगे, तुम्हारे लिए चाहे न हो।'

मै—तो मैं क्या जानती थी कि आपने नाही किया है। फिर वे कहाँ पाते? मेरे घर पर कुछ-न-कुछ तो पडा ही रहता है।

आप बोले—मै भी अब निश्चित रहा करूँगा।

'मै तो तुम्हें हमेशा निश्चित किये रहती हूँ। कब तुम बोझीले बने रहे?'

'धन्यवाद।'

बनारस में; बच्चे की सेवा

एक रोज़ की बात है। बन्नू छोटा-सा था। सुबह का स्कूल था। जैसे ही वह सोकर उठा, वैसे ही दूध की बडी कै की। मैंने सोचा—यों ही है। और वह स्कूल चले गये। जब तक वे आये, तब तक उसे काफ़ी दस्त आये। मै बारह बजे आने पर उनसे बोली, आज इस बच्चे को सुबह से ही कै हो रही है। आप बोले—नहा लूँ, तो डाक्टर साहब के पास जाऊँ। तब तक मैंने चिलम चढाई।

आप उस बच्चे को लेकर खडे थे। १९२३ की बात है। तब तक उसी तरह बच्चे ने क़ै-दस्त दोनो किये। आपके दोनो भाग—सामने और पीछे, ख़राब हो गये। जब मै आई, तो बच्चे को मुझे देकर उन्होने कपडे बदले। और तुरंत डाक्टर के यहाँ चले गये। डाक्टर को लेकर आये। डाक्टर ने दवा दी। उस दिन ११। बजे दिन से सारी रात हम दोनो बैठकर १०-१० मिनट पर दवा दे रहे थे; लेकिन कै-दस्त दोनो बराबर जारी थे। कोई चार बजे के बाद उसको कुछ आराम हुआ। तब उन्होने अपनी कमर सीधी की।

एक बार इसी तरह मुझे भी दस्त आये। आप और कंपाउंडर सारी रात बैठकर दवा देते रहे।

सेवा उनका मूलमंत्र था, किसी को भी बीमार नहीं देख सकते थे।

बस्ती से इलाहाबाद : रेल में

एक बार की बात है, मै बस्ती से इलाहाबाद जा रही थी। मेरी गोद में बेटी कमला सवा साल की थी। सरजू पार करना था। स्टीमर मे हम बैठे थे। ऊँची बेच पर आप थे। नीचे, उनके पैर के पास, मै थी। वे लडकी को लेकर ऊँची बेच पर थे। किसी महाशय से बातें कर रहे थे। इतने में एक पचीस-बीस वर्ष का एक नवयुवक आया। वह जैसे-जैसे मेरी तरफ़ बढ रहा था, वैसे-वैसे मै आपके पैर के पास खिसकती जा रही थी। जब मैंने देखा तो

वह बिल्कुल करीब था। आपका पैर दबाकर मैं बोली—आप इस बदमाश को देख नहीं रहे हैं? मेरी तरफ बढा आ रहा है। उस बदमाश की हरकत देखकर आपको भी क्रोध आया। बच्ची को मेरी गोद में देकर उसकी गर्दन पकडकर काफी दूर तक ले गये। बोले सरजू में झोंक दूँ।

युवक—मैंने क्या गुनाह किया? मै तो खडा था।

'खडा होने को वहाँ गुँजाइश थी, जहाँ तुम खडे थे। स्त्रियों के सिर पर खडे होते हो? अगर दुबारा ज़बान निकाली तो तुरंत झोंक दूँगा सरजू में।'

मैंने कहा—जाने दीजिए।

आप बीमार थे। दवा कराने इलाहाबाद हम जा रहे थे।

युवक—तुम्हीं ने किराया दिया है?

'किसी के सिर पर बैठने के लिए किराया देकर आये हो?'

मै उन्हें अत्यन्त क्रोध में जान हाथ पकडकर खींच लायी। उस समय आप क्रोध के मारे काँप भी रहे थे। मुझे खुद बाद में अफसोस हुआ। क्योंकि उस वक्त मै उनसे ज़्यादा तंदुरुस्त थी। मैंने कहा—बैठ जाइए, तब आप शान्त हो गये।

गाँव में

आप गांव में रहते तो अपने दरवाज़े पर हमेशा झाड़ू लगाते। कभी-कभी मै उन्हें रोकती। छोटे बच्चों को दरवाज़े पर बैठाकर चार बजे शाम को उनके पास मिट्टी इकट्ठा कर देते, पत्तियाँ इकट्ठी कर देते, सिकटे इकट्ठा कर देते और लडकों को खेलने के ढंग सिखाते। उसके बाद जब गाँव के काश्तकार इकट्ठा होते, तो उनसे बातें करते, झगडा निपटाते, बच्चों से खेलते भी जाते। कोई नये कायदे-कानून बनते तो उन काश्तकारों को समझाते। उन सबों के साथ तो वे बिल्कुल काश्तकार हो जाते थे। उम्र की बडाई के लिहाज से जिसका जैसा संबंध होता, सदा वैसा आदर देते। चाहते थे कि गाँव एक। उपन्यासों के चित्रों की तरह सजीव कर देना चाहते थे।

काश्तकारों की कमज़ोरी देखकर उनको बड़ा दुःख होता। काश्तकारों की स्त्रियों से, भाभी, चाची, बहन, बेटी का जैसा संबंध होता, सदा उसी तरह का व्यवहार वे करते। उनमें बड़ों को वे सलाम करते थे। जो भाभी लगती थीं, अगर वे मज़ाक कर देतीं, तो हँस देते और बुरा न मानते। गाँव में बहुत दूर पाखाने को निकल जाते थे। वहाँ आम के दिनों में लोटे में आम भी लेते आते। मूली का दिन होता, तो मूली भी तोड़कर लोटे में लेते आते।

१९२२-'२४ के लगभग :

हिन्दुस्तानी एकेडेमी जैसी संस्था खुलवाने के लिए आप और मुंशी दयानारायण निगम बहुत दिनों से प्रयत्नशील थे। हिन्दुस्तानी एकेडेमी खुली तो आप भी उसके एक सदस्य बनाये गये। आप मीटिंग में बराबर जाते थे। वहाँ से आने पर मैं बराबर पूछती—कैसा प्रबन्ध ये लोग कर रहे हैं ?

आप बोले—हम लोगों की इच्छा जिस प्रकार की संस्था खोलवाने की थी, वह तो पूरी नहीं हुई।

मैं बोली—आखिर तब इन लोगों ने क्या खोला ?

आप बोले—कुछ न कुछ तो ज़रूर ही होगा।

मैं बोली—तब आप लोगों को सन्तोष क्यों नहीं हुआ ?

आप बोले—यह काम करने का कोई तरीका नहीं है। हम तो चाहते थे कि हिन्दुस्तान की हर भाषा का एक-एक लेखक हो उस कमिटी में। जिस किसी विषय की किताब निकलती वह पहले, उन लेखक मेम्बरों द्वारा दिखा ली जाती। उसी को उसको देखने का हक होता। इस तरह कोई भद्दी किताब न निकल सकती। उससे उन लेखकों के गुणों के विकास को क्षति न पहुँचती। अपने यहाँ साहित्य की उन्नति भी होती। और साथ-साथ उन लेखकों का विकास भी होता। जिस चीज़ की कमी होती, उसकी वृद्धि की जाती। लेखकों को इधर-उधर भटकने की ज़रूरत न होती। नये लेखकों के गुण-दोष

कोई बताता नहीं। बस "नहीं ठीक है" कहकर लौटा देता है। यह न्याय थोड़े ही है। नये लेखकों के प्रति विद्वानों का यह कर्त्तव्य है कि वह उनके गुण-दोष समझा दे। उसको इस तरह समझ-बूझकर, एकेडेमी अपना कार्य चलाती। रहा पारितोषिक का सवाल। रॉयल्टी पर भी ले सकती थी, इकट्ठा मूल्य देकर भी ले सकती थी।

मैं बोली—लेखकों की रचनाएँ कहीं पड़ी थोड़े ही रहती हैं।

आप बोले—ऐसे प्रकाशकों की ज़रूरत नहीं है कि वे अपने ही पेट भरें। लेखकों को भी कुछ मिलना चाहिए। एकेडेमी और लेखक का तो पारिवारिक सम्बन्ध-सा हो जाना चाहिए। आजकल के लेखकों की तरह नहीं, न प्रकाशकों की तरह ही। जब तक दोनों में ऐसा सम्बन्ध न होगा, तब तक कुछ भी नहीं होने का। इस तरह लेखक का जब कुछ लाभ नहीं होता तो वे निराश होकर बैठ जाते हैं। जिससे लेखकों का विकास नहीं हो पाता और साहित्य की उन्नति रुक जाती है।

मैं बोली—साहित्य की उन्नति और कैसे हो?

आप बोले—अभी 'उन्नति' नाम की चीज़ की तो गन्ध तक नहीं है। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि काम से ज्यादा आपसे में 'तू-तू' 'मैं-मैं' अधिक है। 'तू-तू' 'मैं-मैं' में कहीं काम होता है?

मैं बोली—तब कैसे काम होगा?

आप बोले—जब तक यहाँ के साहित्य में तरक्की न होगी, तब तक साहित्य, समाज और राजनीति सबके सब ज्यों के त्यों पड़े रहेंगे।

मैं बोली—तो क्या आप इन तीनों की एक माला-सी पिरोना चाहते हैं?

आप बोले—और क्या। ये चीज़ें माला जैसी ही हैं। जिस भाषा का साहित्य अच्छा होगा, उसका समाज भी अच्छा होगा। समाज के अच्छा होने पर मजबूरन राजनीति भी अच्छी होगी। ये तीनों साथ-साथ चलनेवाली चीज़ें हैं।

मैं बोली—तो यह क्या ज़रूरी है कि तीनों को साथ ही लेकर चला जाय।

आप बोले—इन तीनों का उद्देश्य ही जो एक है। साहित्य इन तीनों चीज़ों की उत्पत्ति के लिए एक बीज का काम देता है। साहित्य और समाज तथा राजनीति का सम्बन्ध बिलकुल अटल है। समाज आदमियों के समूह को ही तो कहते है। समाज मे जो हानि-लाभ तथा सुख-दुःख होता है, वह आदमियों पर ही होता है न। राजनीति में जो सुख-दुःख होता है वह आदमियों ही पर पड़ता है। साहित्य से लोगों को विकास मिलता है। साहित्य से आदमी की भावनाएँ अच्छी और बुरी बनती है। इन्ही भावनाओं को लेकर आदमी जीता है और इन सब तीनों चीज़ों की उत्पत्ति का कारण आदमी ही है।

मै बोली—आप शायद जड तक पहुँचने की कोशिश कर रहे हैं।

आप बोले—जड की ही रक्षा मे तो सब संभव है। बिना जड़ की रक्षा के कुछ नही होगा ?

मै बोली—उन लोगों के दिमाग़ मे ये बाते क्यो नही आईं ?

आप बोले—बडे-बड़े आदमियों के दिमाग़ मे ये सब बाते क्यो आयें ? गरीबों की समस्याओं की ओर उनका ध्यान ही कब जाता है ? जब तक उन पर नही बीतेगी, तब तक कैसे समझ सकेंगे ? इन सबों को सुधारने के लिए साहित्य ही एक ज़रिया है। जब तक कोई इसे अपने हाथ मे नहीं लेगा, यह नही सुधर सकता।

आप दिन-रात लेखकों के लिए सचिन्त रहते थे। आपने सत्यजीवन वर्मा के सहयोग से 'लेखक-संघ' नाम की एक संस्था भी खोली थी। उसके बाद हमेशा वे इस विषय पर चर्चा चलाते रहते। सन् '१३९ मे प्रगतिशील लेखक-संघ खुला था। उसके पहले सभापति आप ही हुए थे।

वह काम ऐसी अशुभ घडी मे उठाया गया कि उसका उठानेवाला ही उठ गया। सोचिए तो वे साहित्य के लिए कितना सचेष्ट रहते थे। अभी वे कुछ भी न कर पाये थे कि बीच ही से वे चले गये। इसी ख़याल से कि सभी प्रान्तीय भाषाएँ एक में माला की तरह गुँथी रहे,

उन्होंने भारतीय साहित्यपरिषद् को 'हस' दे दिया था। उन्हें विश्वास था कि इससे सब एक परिवार के से हो जायँगे। इसी में उनको देश की राजनीति की सारी गुत्थियाँ सुलझ जाने का भरोसा था। उनके जीवनकाल ही में 'हंस' को 'परिषद' ने अलग कर दिया था। वे अपनी कठिन बीमारी के समय भी 'हंस' को नही भूले थे। गवर्नमेण्ट ने उनसे ज़मानत भी मांगी थी। जब साहित्य-परिषद ने ज़मानत नही दी तो हंस बन्द कर दिया गया।

आप बीमार पडे। मुझसे बोले—'हस' की ज़मानत तुम जमा करवा दो। मै अच्छा हो जाने पर उसे सँभाल लूँगा।

उनकी बीमारी में मै खुद परीशान थी। उस पर इतनी 'हंस' की उनको फिक्र!

मै बोली—अच्छे हो जाइए। तब सब कुछ हो जायगा।

आप बोले—नही दाखिल करा दो। मै रहूँ या न रहूँ 'हंस' चलेगा ही। यह मेरा स्मारक होगा।

मेरा गला भर आया। हृदय थर्रा गया। मैने ज़मानत के रुपये जमा करवा दिये।

आपने समझा, शायद धुन्नू ज़मानत न जमा कर पाये। दयानारायणजी निगम को तार दिया। वे आये। पहले बडी देर तक उन्हें पकडकर वे रोते रहे। वे भी रोते थे, मै भी रोती थी। मुंशी जी भी रोते थे। मुंशी जी ने कई बार रोकने की चेष्टा की। पर आप बोले—भाई, शायद अब भेंट न हो। अब तुमसे सब बातें कह देना चाहता हूँ। तुमको बुलवाया है, 'हंस' की ज़मानत करवा दो।

मैं बोली—धुन्नू जमा कर चुका है।

वे जिस विषय को चाहते, दिल से चाहते। मेरे वे थे तो साहित्य के भी थे। आज वे नही है। जिन कामो पर मै उनसे झुँझलाती थी, आलोचनाएँ करती थी, उन्ही की आज मै तारीफ करते थक जा रही हूँ। और उन्हीं से मुझे प्रेम भी है, मुझे अपने से ज्यादा उन चीज़ो से प्रेम है जो

उनकी हैं। बल्कि यह कहना चाहिए कि मैं भी अपने ख़ून से सींचकर उसे हरी करना चाहती हूँ। मेरा अपना कोई अस्तित्व नहीं है। यह मै लिख नही पा रही हूँ कि मेरी स्थिति क्या है। अपने अन्दर उन दर्दों को मै इसलिए छिपाये हूँ कि उन्हें हरा-भरा रख सकूँ। जो लोग इस साहित्य को हरा भरा करेंगे, वे जैसे हमारी सेवा ही कर रहे हैं। यही उनकी भी सच्ची सेवा है;—बस यही मुझे कहना है।

महाराजा साहब अलवर

सन्' २४ का ज़माना था। आप लखनऊ मे थे। 'रंगभूमि' छप रही थी। अलवर रियासत से, राजा साहब की चिट्ठी लेकर पॉच-छ: सज्जन आये। राजा साहब ने अपने पास रहने के लिए बुलाया था। राजा साहब उपन्यास-कहानियो के शौकीन थे। राजा साहब ने ४००) प्रतिमास नकद, मोटर, बँगला देने को लिखा था। सपरिवार बुलाया था। उन महाशयो को यह कहकर कि मै बहुत बागी आदमी हूँ, इसी वजह से मैंने सरकारी नौकरी छोडी है, राजा साहब को एक ख़त लिखा—'मै आपको धन्यवाद देता हूँ कि आपने मुझे याद किया। मैंने अपना जीवन साहित्य-सेवा के लिए लगा दिया हैं। मै जो कुछ लिखता हूँ, उसे आप पढते है, इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ। आप जो पद मुझे दे रहे है, मैं उसके योग्य नही हूँ। मै इतने मे ही अपना सौभाग्य समझता हूँ कि आप मेरे लिखे को ध्यान से पढते है। अगर हो सका तो आपके दर्शन के लिए कभी आऊँगा।

एक साहित्य-सेवी,

धनपत राय।'

मेरे पास आप आकर बोले—अलवर के राजा साहब ने मुझे बुलाया है।

मैने कहा—किस लिए?

आप बोले—मुझे प्राइवेट सेक्रेटरी बनाना चाहते हैं।

मैने कहा—राजों-महराजो के यहां जाकर क्या कीजिएगा?

'क्यों ? मोटर मिलेगी, ४००) नकद मिलेगा। बँगला मिलेगा। बुरा क्या है ?'

'आपसे किसी से पटेगी भी ?'

'मैं लड़ाका हूँ ?'

'समझने की क्या बात है, सामने देखने की बात है। गोरखपुर में इंसपेक्टर ने ज़रा-सा मगरूर कह दिया तो आप उस पर केस चलाने को उतारू हो गये। महोबे का कलक्टर धमकी दे रहा था कि अगर मुसलमानी राज होता तो हाथ कटवा लिया जाता, तो आपने सहा ही नहीं। भला राजों-महाराजों से आपकी कैसे पट सकती है ? गैर मुमकिन ! एक दिन भी गुज़र नहीं हो सकती। आपके लिए सबसे बेहतर है मजदूरी। राजों-महाराजों के यहाँ वही ठहर सकता है, जो उनकी जूतियाँ सीधी करता फिरे। जिसमें कुछ भी स्वाभिमान होगा, वह राजाओं के यहाँ नहीं ठहर सकता।

आप बोले—मेरी तो इच्छा है, चलूँ, कुछ दिन बँगले-मोटर का शौक तो पूरा कर लूँ। मेरी कमाई में इसकी गुंजाइश नहीं।

मैं हँसकर बोली—यह उसी तरह हुआ, जैसे कोई वेश्या अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए चकले में बैठे। फिर जिसने मज़दूरी करना अपना ध्येय समझ लिया हो, उसे मोटर-बँगले की ख़्वाहिश कैसी !

आप बोले—मुझे ख़्वाहिश न हो, तुम्हें तो हो सकती है।

'मुझे अगर ऐसी ख़्वाहिश होती तो सरकारी नौकरी से इस्तीफा देने को न कहती।'

'अगर बच्चों को ख़्वाहिश हो तो ?'

मैं झुँझलाकर बोली—बच्चे ख़ुद अपनी ख़्वाहिश अपने हाथ-पैरों पूरी करेंगे। फिर बच्चों को भी आप-सरीखा बनना चाहिए।

'अगर न बनें तो मार-मारकर बनाओगी ?'

'अगर ये न वैसे बनें तो मैं समझ लूँगी ये मेरे बच्चे हुई नहीं है।'

तब आप हँसकर बोले—मैंने पहले ही धता बता दिया।

'आपको मुझे चिढ़ाने मे मज़ा आता है ?'

'मैं यह सोच रहा था कि अगर तुम्हारी इच्छा हो तो मै इसे भी पूरी कर दूँ।'

'आप उपन्यास-कहानियों के पात्र ख़ूब गढ लेते हैं, पर मुझको पहचानने मे क्यों इतनी गलती ?'

'उपन्याल-कहानियाँ तो अपनी रुचि के अनुसार बनती है। मगर आदमी को अपनी रुचि का कैसे बनाया जाय ? जबरन किसी को कुछ कहना भी नहीं चाहिए।'

'मै अपनी रुचि के प्रतिकूल आदमियो के साथ रह ही नही सकती।'

तो आप बोले—मैं मान रहा हूँ कि मैं जो चाहता हूँ, वही तुम भी चाहती हो।

प्रेस में कार्याधिक्य

उसी सन् की एक और घटना है—मै गाँव मे थी। कुआर का महीना था। आपको पेचिश हो गई थी। दो महीने बीत गये, अच्छी न हुई। दवा के लिए जो पैसे देती, उसे प्रेस में ख़र्च कर आते और इधर-उधर के ग़ैर-ज़िम्मेदार वैद्यो से दवा ले लेते। दवा खाते-खाते दो-ढाई महीने बीत गये। तबियत अच्छी नहीं हो रही थी।

जब मै जान चुकी कि तबियत जल्दी अच्छी होने की नही तो मै बोली—चलिए आप देहात।

आप बोले—प्रेस का काम कौन देखेगा ?

मैं—जब तबियत अच्छी नहीं हो रही है तो क्या कीजिएगा ?

आप बोले—काम भी तो मुझे बहुत करना है।

मै झुँझलाकर बोली—काम भाड में जाय। एक-न-एक तो लगा ही रहेगा।

'क्या भाड मे काम चला जायगा ? उसे तो पूरा करने ही से छुट्टी है।

जब मुझे यक़ीन हुआ कि ये नही टलेंगे तो मैं बोली—आप रहिए। मैं ख़ुद देहात जा रही हूँ।

'मेरे लिए सामान रखकर जा सकती हो।'

मैं—बच्चे जायँगे। सामान तो सब पड़ा रहेगा।

बाहर मेरे जेठ बैठे हुए थे। मैंने बेटी से कहा—जाकर बड़े बाबू से कह कि मुझे भी शाम को घर लेते चलें। बेटी ने जाकर कहा। वे शाम को आने को कह गये।

आप जब प्रेस जाने लगे तो बोले—सामान सब लेती चलना। मैं भी चलूँगा।

मैं—आप रहिए। आप क्यों जायँगे ?

आप बोले—मैं समझता था, मेरे ऐसा कहने पर तुम नहीं जाओगी।

मैं—मुझे ख़ूब मालूम है कि आप मेरे बिना यहाँ नहीं रह सकते।

उस दिन हमारे जेठ साथ में दो मज़दूर, एक ठेला, एक ताँगा लिये तीन बजे ही आ गये। और सामान वगैरह रखवाकर हमें लिवा ले गये।

उसी दिन शाम को आप भी पहुँचे।

सुबह रुपए देकर जेठ से मैंने कहा कि इन्हें किसी अच्छे होम्योपैथ को दिखलाइए।

वे दवा लाये। दो-तीन रोज दवा खाने पर उनकी तबियत अच्छी होती नज़र आई। आख़िर वे जल्दी ही अच्छे हुए। शहर का आना-जाना बराबर जारी रहा।

एक दिन घर से चले तो धूप तेज़ थी। मैं बोली—धूप तेज़ है।

'तुमसे मतलब ? मौत तो हमारी है।'

मुझे उनकी इस बात पर झुँझलाहट आ गई। मैं बोली—ख़बरदार, आगे जाना न हो सकेगा। बैठिए, मैं प्रेस जा रही हूँ। अगर अपने आराम के लिए आई हूँ, तो तुम बैठो, मैं जा रही हूँ। और जो सामान वहाँ से आने-वाले हो, बताओ, लेती आऊँ।

आप बोले—छोड़ो जाने दो।

'मैं हर्गिज़ नहीं जाने दूँगी। आप फिर वही बात कहेंगे। मैं यह धौंस क्यों सहूँ?'

आप बोले—भाई, फिर सुनना तो खूब डाँटना। ग़लती हुई।

'आप अच्छे हुए कि नहीं, यह बताइए। वहाँ होते तो रोग ज्यों का त्यों रहता। मुझे बीमारी नहीं पसंद। रुपयों से क्या ?'

आप बोले—मजबूरी सब कुछ करवाती है।

'जितना अपने से होगा, उतना ही न किया जायगा। जब आप खाट पर पट जायँगे तो कैसे काम होगा ?'

'न जाऊँ ?'

'धूप तेज़ है, मत जाइए। काम तो होता ही रहेगा।'

मैंने जूता पैरों से निकालकर रख दिया। आप उसी जगह चारपाई पर लेट गये। कोट उतार कर बोले--अब खुश हो ?

मैं—बहुत ठीक। आराम कीजिए।

१६२४

सन् २४ की बात है। आप बेदार साहब के यहाँ प्रयाग गये हुए थे। 'माधुरी' आफिस की कुछ किताबें बोर्ड में मंजूर कराने के लिए गये थे। बेदार साहब शराबी थे। खुद पिया, आपको भी पिलाया। वहाँ से लौटे तो नशे में चूर। उसी दिन मेरे कान का फोड़ा फूटा था। मैं भी अपने कान में रूई लगाकर सो गई थी। न मालूम आप दरवाज़े पर कब से आवाज़ दे रहे थे, मुझे कुछ भी पता नहीं। जब बच्चों के कान में आवाज़ गई तो धुन्नू बेटी के साथ दरवाज़ा खोलने दौड़ा। मुझे इसकी भी खबर नहीं। बच्चों को देखकर कुत्तों की तरह डाँटने लगे। उनके डाँटने की आवाज़ मेरे कानों में आई। मैंने पूछा—बेटी, कुत्ता किधर से आ गया। बेटी बोली—तुम सुन नहीं रही हो। बाबूजी आये हैं। मुझे और भाई को डाँट रहे हैं बाबूजी! मैंने पूछा—क्या बात है ?

बेटी बोली—बाबूजी बड़ी देर से आवाज़ दे रहे थे। हमने सुना नहीं।

मैं बोली—देखो बेटी, क्या समय है ?

बेटी—डेढ बजा है।

मै उठने लगी कि चलकर उन्हें पानी-वानी दूँ और पूछूँ कि बच्चों को इस तरह डॉटना चाहिए।

बेटी बोली—तुम न जाओ। बाबूजी शराब पिये हुए है। तुम्हें भी डॉटेंगे।

मैं बोली—यह नया नशा सीखा।

मुझे भी क्रोध आ गया। मैं सो रही। सुबह उठी तो उनका नशा उतर गया था, मै बोली—बच्चो को इस तरह डॉटना चाहिए ?

'मुझे आध घटे तक चिल्लाना पडा था। तुम्हें ख़बर भी है ?'

'सुनता कौन ? बच्चे रात भर जागते रहते ?'

'अगर बच्चे न जाग सकते तो बच्चों की मॉ तो जाग सकती थी।'

मै बोली—मुझे कल ज़रा-सा आराम मिला, मै भी सो गई। फिर मुझे मालूम होता कि आप शराब पीकर आये हैं तो मालूम होने पर भी न खोलती। फिर आपने शराब क्यों पी ?

तब आप बोले—बेदार साहब माने ही नहीं।

मै—आप बच्चे तो थे नहीं कि बेदार साहब ने ज़बर्दस्ती आपके मुँह में उँडेल दी। आइंदा आप अगर फिर पीकर आये तो मै जागती हुई भी दरवाज़ा न खोलूँगी।

'मुझे पहले से मालूम होता तो मै वहीं सो रहता।'

'तो क्या आप मुझसे कहकर गये थे कि मै वहाँ शराब पिऊँगा। इन बुरी लतों मे आप फँसते क्यो जा रहे है ?

'वह माना नहीं।'

'मनवाना चाहिए था।'

'उसके फेर मे तुम पडती तो शायद तुम भी पी लेती।'

'मै ऐसो के फेर मे पडनेवाली जीव नही हूँ।'

'ख़ैर अब नही पिऊँगा।'

उसके ५-६ रोज के बाद फिर उन्ही के यहाँ पी आये। उस दिन आठ

बजे के लगभग ही लौट आये। रात को दो बार कै हुई। मै तो उठी नहीं। मेरी भावज ने उठकर पानी-वानी दिया। रात ही को क़ै भी साफ़ की। सुबह जब नशा उतरा तो बोले—रात को मेरी यह हालत थी। तुम कहाँ थी ?

मैं बोली—मै इन आदतो के फेर में पडनेवाली नही। मै उसी दिन आपसे कह चुकी हूँ।

आप बोले—बेचारी दुलहिन न होती तो मुझे पानी देनेवाला कोई नहीं था।

'मै इसके लिए पहले ही बता चुकी हूँ।'

'तुम्हारा दिल बडा कडा है।'

'आज आपने समझा ?'

फिर उस दिन से उन्होंने कभी शराब नही पी।

'साहस'

सन् '२४ की बात है, मेरी पहली कहानी 'साहस' निकली थी। उसे मैने उनसे छिपाकर लिखा और छपने को भेजा। उस समय चांद के सम्पादक आर. सहगल थे। उस कहानी में गलतियां थीं। उन्होने मेरी कहानी जानकर, गलतियों का सुधार कर, चांद मे छापी। उस अंक की एक प्रति मेरे नाम भेजी और उनके नाम एक बधाई का खत। बधाई में लिखा था—आप उपन्यास-सम्राट् थे ही, आपकी देवी भी लिखने लगी। इसके लिए आपको बधाई। हालांकि पुरुषों के ऊपर ही उन्होने जूता गिराया है। फिर भी उन्हें बधाई है। हमारी कमजोरी तो उन्होंने बता दी। उसका परिणाम भी उन्होंने दिखा दिया है। इसलिए आप दोनों बधाई के पात्र हैं।

आप दफ़्तर से आने पर कापी मेरे हाथ में देते हुए बोले—आप अब लेखिका भी बन गईं। लो, यह तुम्हारी कहानी छपकर आई है। कहानी भी लिखी तो पुरुषों पर ही कटाक्ष ! सारे दफ्तर में लोग शोर मचा रहे थे। सब कहते थे, पुरुषों पर आक्षेप किया है।

मैं बोली—कहानी क्या थी, एक मज़ाक थी।

'पुरुष तो अपनी खोपड़ी सहला रहे हैं। तुम मज़ाक बतला रही हो।'

मैं बोली—जो पुरुष उस तरह का व्यवहार करते होंगे, वे ही सहला रहे होंगे। सबों को न खलेगा। पुरुषों को तो चाहिए यह कि ऐसी हरकत न करें। तब उन्हें खोपड़ी न सहलानी पड़ेगी।

'पर तुम कहाँ बाज़ आओगी।'

'बाज़ आते रहे हैं, कब तक बाज़ आते रहें।'

उस कहानी को निकले ४-५ महीने हुए थे। एक पंजाबी सज्जन मेरे यहाँ आये और बोले—क्या आपने यह कहानी ख़ुद लिखकर देवीजी के नाम से छपवायी?

आप बोले—मैं वैसी कहानी लिख सकता हूँ?

वे सज्जन बोले—उस कहानी का जवाब 'हंस की चाल कौआ' नाम से एक सज्जन लिख रहे हैं।

आप बोले—देखिए, उनकी एक कहानी मेरे पास संशोधन के लिए आई है। आप इत्मीनान कर सकते है कि मैं नहीं लिखता। और यह कहकर कहने लगे—हमारे यहाँ के आदमियो के दिल बहुत संकुचित हैं। बिना पूरी बात जाने ही ऊट-पटांग बक देते हैं। यही सोचा होता कि ऐसी कहानी पुरुष लिख सकता है?

जब वे महाशय चले गये तो मुझसे बोले—तुम कहानी क्या लिखने लगी, मेरे जान की आफत कर दी। तुम्हें क्या सूझी। आराम से रहती थी। नही, मुफ्त की बला अपने गले पाल ली। अबसे बेहतर है, मत लिखा करो।

मैं बोली—अब हटने से तो और भी काम न चलेगा। तब तो लोग यही कहेंगे कि चोरी पकड़ी गई तो शान्त हुए। ख़ुद तो नाम पैदा कर ही रहे थे, अपनी बीवी का भी नाम चाहते थे।

तो आप बोले—तुम इसमे सुख क्या पाती हो? रात-दिन बैठे-बैठे अपना ख़ून जलाती हो।

मै बोली—यह खून जलाना ही हुआ तो आप क्यो जलाते है ? अपने खून को आपके ख़ून से मै महँगा नही समझती। जैसे आप कहते हैं कि शा है, शायद वैसे ही मुझे भी नशा हो आया हो।

आप बोले—नाहक अपनी जान परेशानी मे डाल रही हो। मै बोली—उनके डर के मारे मै लिखना छोड़ दूँ ? जब लोगो को मालूम हो जायगा तो ख़ुद झूठा दोष लगाने पर पछतायेगे।

जब बन्नू खो गया था

सन् '२४ की बात है : बन्नू साढे तीन साल का था। एक दिन आप बाज़ार चारपाई लेने जा रहे थे। बन्नू भी चल पडा, धुन्नू को साथ लिये। दूकान के कोठे पर, दोनो बच्चो को छोडकर चढे तो धुन्नू ख़ुद ऊपर पहुँचा। बन्नू अकेला। जब साथ मे किसी को न देखा तो वह ग़ायब ! आप नीचे उतरे तो घबराये। पास-पडोस के आदमियो से पूछने लगे : कोई लडका आपने देखा ? लोगो ने कहा : हमने नहीं देखा। आप घबराकर धुन्नू से बोले—बेटा, घर जा, पर अपनी माँ से न बतलाना कि बन्नू खो गया। धुन्नू की आँखो मे आँसू थे। गला भरा हुआ था। मैने पूछा—तुम्हारे बाबू बन्नू को लिये हुए कहाँ गये ?

धुन्नू रोता हुआ बोला—बन्नू खो गया है। उसे बाबूजी ढूँढ रहे हैं। मै बोली—आख़िर खोया कैसे? धुन्नू ने पूरा किस्सा सुनाया। उसके थोडी देर के बाद आप बन्नू को लिये आ रहे थे। मैने पूछा, यह लडका कहाँ रह गया था ?

आप बोले—लडका आज अगर न मिला होता तो मै ज़िन्दा न मिलता, जब हम लोग दूकान के ऊपर चढ गये तो यह घूमते-घूमते एक दूकान के पीछे पहुँचा। और वहीं ज़ोर-ज़ोर से रो रहा था। मै ख़ुद रुआँसा हो रहा था कि बच्चे को ढूँढने कहाँ जाऊँ ? मेरी तो हिम्मत नही पडती थी कि क्या जवाब तुम्हारे सामने दूँगा। आज यह अगर न मिलता तो मैं भी न लौटता।

मै बोली—कैसे आपने देखा ?

बोले—मै चारों तरफ ढूँढ रहा था और कान लगाये था कि कहीं रोने की आवाज़ तो नहीं आ रही है। यह वहाँ खँडहर में खडा बुरी तरह रो रहा था। इसके रोने की आवाज़ मुझे सुनाई पडी। मै वहाँ गया। देखा, यह खडा-खडा रो रहा है—यह तो रो ही रहा था, मैं भी रो पडा। मैंने इसे गोद में ले लिया। बडी देर के बाद इसकी हिचकियाँ शान्त हुईं।

उस दिन से आप बाजार छोटे बच्चे को लेकर कभी नहीं गये।

कहारी का छोटा बच्चा

मेरे दोनों लडके इलाहाबाद में पढ रहे थे। उन दोनों को अलग-अलग पत्र लिखने की आज्ञा थी। वे बराबर मुझसे कहते, कहीं धुन्नू बन्नू पर शासन न करता हो। मैं कहती—तो क्या बुरा? वह उससे बडा है। आप बोले—तुमने समझा नहीं। बच्चों में दीनता आ जाती है और अपने पिता के प्रति कुढते रहते हैं। और अपनी जिम्मेदारी लडको पर क्यों छोडी जाय। क्योंकि उन्हें यह खयाल होता है कि वे जायज-नाजायज सब तरह का शासन करते हैं। प्रेम का शासन तो बहुत भला है। मगर वह किसमें है? आज कल कालेज में जाते ही लौंडों का मिथ्याभिमान जाग उठता है। इसी लिए मैं दोनों को स्वतंत्र रखना चाहता हूँ।

मै—तो इससे क्या कुछ शासन की प्रवृत्ति रुक जायगी?

'क्यों नहीं रुकेगी? उसे वह तकलीफ देगा तो मुझे वह लिखेगा। मै पूछूँगा।'

मै—बहुत से पिता तो अपनी जिम्मेदारी छोड बैठते है।

'वे नालायक हैं। लायक पिता कब अपनी जिम्मेदारी दूसरों पर डालेगा। अगर उसमें ज़िम्मेदारी उठाने की ताकत न हो तो किसी को दुनिया में लाने की क्या ज़रूरत?'

मै—दुनिया में आदमियों का आना कब रुकता है।

'तो फिर ऐसे नालायकों की दुनिया में कमी भी नहीं। सब कुछ इंसान

करता है इज़्ज़त के लिए। जब अपने ही घर मे इज़्ज़त न हुई तो क्या ? मुझे उन पिताओ के साथ सहानुभूति नहीं है जो दूसरों पर अपनी जिम्मेदारी डालते है।'

मै—दुनिया मे ऐसा ही होता है। मरने के बाद कोई देखने आता है कि क्या हो रहा है ?

'पहले से मर जाना तो अच्छा नहीं।'

'सभी इसी तरह सोचने लगे तो कैसे काम चले।'

वे अपने बच्चो को खुद पढ़ाते थे। ट्यूटर रखना उन्हें पसन्द न था। दो-तीन घंटे का समय वे प्रतिदिन लडको को पढाने मे लगाते। वे बच्चो को आदमी बनाना चाहते थे।

एक बार की बात है—मै बनारस मे थी। मेरी कहारी का छोटा बच्चा आग से जल गया। उसके सारे बदन मे मलहम पुता हुआ था, कपड़े भी गन्दे हो गये थे। मेरा छोटा बच्चा बन्नू उसे कही बाहर पा गया। उसे देखकर बन्नू को दया आई। वह उस बच्चे को ज़ीने पर से दोनो हाथो का घेरा बनाकर, उसको अन्दर लाया। उस समय बाबूजी मेरे पास बैठे थे। लडका बोला—अम्माँ, इसे कुछ खाने को दो। उस बच्चे का बदन देखकर तो मेरे रोंगटे खडे हो गये। मै डरी कि कहीं इसे धक्का न लग जाय, नही तो सारा बदन लहू-लुहान हो जाय। बन्नू का उस बच्चे पर प्रेम देखकर उनकी आँखें भर आईं। मुझसे बोले—जल्दी दो न इसे कुछ खाने को। मैने उसे मिठाई और फल दिये और बोली—इसे कैसे पहुँचाओगे ? धक्का लगते ही तो इसका शरीर रँग जायगा। तुम बाहर ही कुछ ले जाकर दे सकते थे ?

बन्नू—मै इसे आसानी से पहुँचा आऊँगा। उस बच्चे को लेकर वह उसी तरह नीचे पहुँचा आया। आप बोले—यह लड़का बड़ा दयावान मालूम होता है। भला उसे वह कैसे लाया। मेरी भी हिम्मत उसे लाने की न होती। मै तो चोट लगने को डरता। भगवान इसे जीवित रखे। तुम देखना,

तुम्हारा नाम यह रोशन करेगा। लडका घिनौना भी तो बहुत था। माँ ही उसे छू सकती थी।

मैं—गदहा है।

'नहीं, नही। उसके आत्मा है।'

यो तो वे सभी को प्यार करते थे। मगर छोटे को बहुत ज्यादा चाहते थे। कोई बच्चा बीमार पडता तो उन्हें बडी चिन्ता हो जाती।

एक बार बन्नू बीमार था, उसे चेचक निकली थी। उसे कोठे पर ले जाना था। तेरह वर्ष के बच्चे को गोद मे लिये ऊपर ले जा रहे थे। उसे गोद में उठाये-उठाये खुद भी गिरने को हो गये। मैं पीछे खडी हुई थी। दोनो को सँभालती हुई बोली—बच्चे को उतारो। मैने बन्नू से कहा—बेटा, चलो।

आप बोले—दोनो गिरते, जो तुम न बचातीं। कैसे तुम पहुँची ?

'मुझे पहले से ही ख़तरा था।'

बन्नू चेचक की हालत में, रात में उठकर मेरी चारपाई पर चला आता। उससे समझाकर बोले—बेटा, पास मत सोया कर। अगर उन्हें भी माता निकल आईं तो बडी मुसीबत होगी। तो पानी देनेवाला भी कोई न मिलेगा।

आप दोनो मे बातें हो रही थी कि मै पहुँची। मैने यह बातें सुनी थीं। मैं बोली—आप भी खूब हैं। यह बीमारी मुझे न होगी।

तो आप बोले—यह छूत की बीमारी है, क्यों न लगेगी ?

मैं—तो आप भी न हट जाइए। आपको भी तो पकड सकती है।

'मुझे तुम्हारी बीमारी की ज्यादा चिन्ता है। क्योंकि तुम एक दिन भी इस हालत मे पड जाओ तो मेरा किया कुछ भी न हो।'

मैं—मै अपने को इतना आवश्यक नहीं समझती हूँ।

'तुम्हें क्या ? आफत तो मुझ पर आयेगी।'

मै—खैर, मै बीमार नहीं पडूँगी, आप घबराइए नहीं।

'मुझे इसी की चिन्ता है कि दोनों बालक बारी।पूरी कर चुके, अब कही तुम भी न पड जाओ।'

मै—बड़े आदमियो को कम निकलती है।

घर मे कोई बीमार पडे, उनको इतनी चिन्ता नहीं होती थी, क्योकि मैं किसी भी रोगी की असली हालत उन्हें नहीं बताती थी। छोटी-मोटी बीमारियो का इलाज तो मै खुद कर लेती। क्योकि वे बहुत जल्दी घबरा जाते थे। वे मुझसे अक्सर कहते कि जिस दिन मै कुछ लिखता-पढता नही, मै समझता हूँ, मेरे जीवन का वह एक दिन व्यर्थ गया। जहाँ तक हो सकता, मै उन्हें घर-गृहस्थी से अलग रखती। यहाँ तक कि वे जब तक खुद अधिक बीमार न हो जाते, उनका लिखना-पढना जारी रहता। हाँ, मै जब ज़्यादा बीमार पड़ जाती तब उनकी क़लम रुक जाती। यहाँ तक कि एक बार मै छ. महीने तक बीमार रही। आप उन दिनो एक लाइन भी न लिखते थे। मै उन दिनो गाँव मे थी। गाँव की स्त्रियाँ मेरे पास हर समय बैठी रहती। आप बाहर बैठे-बैठे झुँझलाते। स्त्रियो की वजह से अन्दर आ न सकते थे। बाहर तबियत लगती ही न थी। मुझसे अक्सर पूछते—ये स्त्रियाँ तुम्हें क्यो घेरे बैठी रहती है ?

मै—क्या अनुचित करती है ? बेचारी अपना काम-धंधा छोड़कर आती है, मेरा क्या बिगडता है।

'मेरी तबियत बाहर लगती नहीं।'

'आप कुछ काम क्यो नही करते ? आख़िर कहानियों का इतना बड़ा तकाज़ा रहता है, उसे पूरा क्यो नहीं करते ?'

'मैने सबको भेज दिया है। तुम्हारी तबियत अच्छी हुई तो फिर लिखूँगा। नही तो भाड़ मे जाय।'

मै—मै क्या मरी जा रही हूँ।

'तुम्हारे स्वास्थ्य-लाभ करने पर फिर मैं उसी तरह लिखा करूँगा। लोगो का आग्रह है कि यहाँ दवा करने को लाइए। पर तुम चलती क्यो नही ?'

मुझे संग्रहणी थी। उनसे तो उनके घबराने के भय से बता न सकी; पर मुझे लगा कि इस बार मै बचूँगी नहीं। इसी लिए मै बाहर जाना पसन्द

न करती थी। उनसे बोली—यहाँ तो दवा हो ही रही है। जाने से क्या होगा।

'अच्छा क्या हो रहा है। अच्छे होने के लक्षण मुझे नहीं दिखाई दे रहे हैं।'

मैं—कुछ चिन्ता की बात नहीं। मान लो, मैं मर ही जाऊँ तो कौन कोयले की नाव डूब जायगी? बेटी धुन्नू सयाने ही हैं, बन्नू की परवरिश कर लेना। तब आँखो मे आँसू लिये बोले—कोयले की नाव तो न डूबेगी, पर मै डूब जाऊँगा।

उनके आंसू देखकर मेरी भी तबियत भर आई। अपने को सँभालती हुई बोली—मैने तो मज़ाक किया, आप सच मान गये।

'तुम कितना ही छिपाओ। मुझे तो सन्देह है।'

मैं—मै बिल्कुल नहीं छिपा रही हूँ। अच्छी हो जाऊँगी।

उन दिनों वे नाश्ता-पानी अपने ही हाथो बनाते। जब मेरी तबियत कुछ-कुछ अच्छी होने लगी तो मेरे भाई आकर मुझे लिवा ले गये, आप भी मेरे साथ दो महीने तक रहे। मै जब काफी अच्छी हो गई तो मुझे छोडकर वे आये। मेरे भाई ने आपसे कहा कि बहन को छोड जाइए। मैं देहात ले जाऊँगा। वहाँ की आब-हवा इनके अनुकूल पडेगी। तो आप बोले—देहात पहुँचा दो। हिफाज़त में त्रुटि न पडे। बहुत कमज़ोर हो गई है।

मै—इससे आप बेफिक्र रहिए। जब तक आपके पास थी, तब तक आपकी ड्यूटी थी। अब भाई की ड्यूटी है।

आप बोले—मेरी ड्यूटी हमेशा है। शरीफ भाई हैं, इसी लिए उन पर ड्यूटी लगा रही हो। छोटे भाई पास ही बैठे थे, बोले—इसमे शराफत की क्या बात? हमारा उनका खून ही एक है। हम लोगो को आपने ख़बर ही नही दी।

आप बोले—मै समझता था आपको ख़बर होगी।

भाई बोले—बिल्कुल ख़बर नही। जैसे ही ख़बर लगी, मै दौडा आ गया।

इसके बाद आप बनारस चले आये।

'मैंने सब जीजा को दे दिये'

आज से पहले, १६२४ की बात है। मेरी सबसे छोटी भांजी की शादी थी। बन्नू को ख़ून के दस्त आ रहे थे। वहाँ जाने की पूरी तैयारी कर चुके थे। मै लखनऊ थी। आप दुविधा मे पडे थे कि जाऊँ या न जाऊँ। मुझसे बोले—बताओ क्या करूँ। बन्नू की यह हालत। वहाँ भी जाना ज़रूरी है। मै बोली—आप न जाएँ तो अच्छा। आप बोले—बहन मर चुकी है। तीनो लडकियाँ रोएँगी। एक तो मा नहीं, दूसरे मै भी न पहुँचूँ तो ग़ज़ब हो जाय। लडकियों के रोने का प्रसंग आते ही ख़ुद ही उनका गला भर आया। मै बोली—जाइए। जो होगा, मै देख लूँगी।

आप गये तो ; मगर आपका जी बन्नू पर ही लगा रहा। चौथे दिन आप जब लखनऊ लौटकर आये तो बन्नू की तबियत कुछ सुधर रही थी। बन्नू को देखकर बोले—भगवान अच्छा ही करता है।

मै बोली—आप भगवान के उपासक कब से हो गये ?

आप बोले—देखो, बन्नू कितना बीमार था, बेचारा अच्छा हो गया।

मै बोली—शादी ठीक-ठीक हो गई ?

बोले—हाँ, शादी तो हो गई। मगर लडकियों की बिदाई बडी दुखद होती है। वह छोटी बच्ची को बिदा ही करा ले गया। एक तो उस घर मे ख़ुद नहीं जाया जाता, दूसरे लडकियाँ रोने लगती है, तो अजीब हालत हो जाती है।

मै बोली—मिर्ज़ापुर ही मे तो शादी हुई है।

कहने लगे—कुछ भी हो। कैसे रहा जाय ?

मै बोली—जो रस्मे अदा करने को मैने कहा था, उन्हें पूरा कर दिया ?

'भाई, यह सब तो मुझे नहीं आता। मैने सब जीजा को दे दिये।'

२३ अगस्त सन् '२४ की घटना है। स्थान लमही गाँव, आप किसी काम से लखनऊ गए हुए थे। मै घर पर थी, हमारे यहाँ उनके छोटे भाई के लडका पैदा हुआ था। और उसके कुछ ही महिने पहले दोनो अलग हुए

थे। और कुछ आपस मे मनमुटाव भी था। जिस रोज़ बच्चा होने को था, उसी रात मुझे ख़बर हुई, और सुबह ५ बजे बच्चा पैदा हुआ।

रोज़ाना मेरा नौकर रात को घर चला जाता था। चूँकि मुझे शाम को ही ख़बर हो गई थी, उस रोज़ मैने इस ख्याल से उसे रोक लिया कि रात को दाई बुलाने कौन जायगा। ख़ैर, सुबह हमारे जेठ जी ने नौकर को भेज दिया। दाई तो ६ बजे आ गई, मगर नौकर ग़ायब, जब ८ बजे के क़रीब नौकर आया, मैने उससे पूछा कि तुम अब तक कहाँ थे?

नौकर—बडे बाबू ने दाई बुलाने को भेजा था।

मै बोली—दाई तो ६ बजे आ गई, और तुम कहाँ थे। मैने डॉट कर कहा—तुम इतने बडे गँवार हो कि हमारे घर मे जरा सा पानी भी नहीं है।

नौकर चुपके से घडा लेकर नीचे गया। मेरी डॉट को नीचे जेठ जी अपने दरवाज़े पर सुन रहे थे। उन्होने उलटा मुझे डॉटना शुरू किया, और जहाँ तक बन पडा मेरे ऊपर ख़ूब बिगडे, मुझे भी क्रोध आ रहा था। मै इस डर से कि मै भी कुछ कह न बैठूँ अपने दोनों कानो को बन्द करके बैठी रही, और मुझे रोना भी आ रहा था, क्यो मै बेगुनाह थी। और उसके साथ मै किसी की डॉट फटकार सुनने की आदी न थी। कोई घटों वह मुझे डॉटते रहे। उसके बाद वह तो ख़ामोश हो गए, लेकिन मै दिन भर अनमनी-सी रही।

कोई ४ बजे वह लखनऊ से आये। दिन भर रोने से मेरे सर मे दर्द भी था। जब वह आये, मुझसे पूछा कि तुम्हारी तबियत कैसी है। मै बोली—'सर मे दर्द है।' वह बोले—'क्या धूप मे घूमी हो?' उनका यह पूछना था कि मेरे आँखो में आँसू भर आए। मैं अपने आँसुओ को छिपाने की कोशिश करती हुई कमरे के अन्दर चली गई, मगर उनको मालूम हो गया कि कोई ऐसी बात है जिससे यह रंजीदा है। मेरे पीछे वह भी गये, और मेरा हाथ पकड़कर पूछने लगे। उनका पूछना था कि मैं रो पडी। बोले—'सच बताओ तुम्हें हुआ क्या है?' जब उन्होने मुझसे ज्यादा ज़िद की, ज़िद के साथ-साथ अपनी कसम भी खिलाई। "बोलो—बात क्या है!"

मैने उनको सब किस्सा बतला दिया। वह बोले—मै अभी जाता हूँ, और पूछता हूँ कि आख़िर उनको हक क्या है, किसी के घर की औरतो पर बिगडने का ?

मैने कहा—उनकी कुछ आदत ही है। भाभी पर भी तो बिगड़ा करते हैं।

वह बोले—भाभी पर बिगडे, भाभी पर बिगड़ने का उनका हक़ है, वह उनकी बीवी है। उनको दूसरे की बीवी पर बिगडने का क्या हक है ?

मै बोली—जाने दीजिए। आदत की कोई दवा नहीं होती।

आप बोले—नही, मै उनको समझा दूँगा।

मै बोली—मै तुम्हारे हाथ जोडती हूँ उनसे कुछ न कहिएगा, नही तो वह कहेंगे कि बस आते ही आते लगा दिया। अपने घर मे सभी लोग कहते है। कहना कोई जुर्म नही है। वह फिर उसी तरह तुम पर बिगडेगे।

'और तभी बिगडते है जब मै घर पर नही होता। उन्हें मुझ पर बिगडने का हक है, तुम पर नही, मै उन लोगो की औरतो पर बिगडने नहीं जाता। और फिर तुम्हें उसी समय कह देना चाहिए कि नौकर अपने लिए रखे है या दूसरो के लिए।'

मै बोली—मै कैसे कह सकती हूँ, आखिर वह बडे ठहरे।

'तो जब बडा अपना बडप्पन नही रखता है तो हम मजबूर है।'

मै बोली—मै हाथ जोडती हूँ, आप उनसे कुछ कहिए नहीं। तुमको मेरे सर की क़सम।

आप बोले—अगर यही बात है तो तुमने मुझसे कहा क्यो ?

मै बोली—मै तो नही कहना चाहती थी, लेकिन आपने ही कसम रखा दी।

आप बोले—तो तुम मुझी से शेर हो, और किसी से नही।

मै बोली—शेर होने की बात नही है। वह मुझे डॉट रहे थे, पास-पडोस के आदमी सुनते रहे होगे। मै बोलती या आप कुछ कहेंगे, तो लोग कहेंगे कि दोनो भाइयो मे झगडा हो रहा है। यह तो अच्छा नही है। खैर उन्हें ही बडा हो जाने दीजिए, यह बाते कहने सुनने को बाकी रह जाती है।

वह बोले—तो मेरे डाँटने पर तुम्हें क्यों क्रोध आयेगा ? अब मैं भी डाँटा करूँगा।

मैं बोली—आपका डाँटना मुझे नहीं अच्छा लगेगा।

बोले—आख़िर मैं भी उम्र में तुमसे बड़ा हूँ।

मैं बोली—बड़े छोटे का कोई सवाल नहीं है। आपका डाँटना मैं नहीं सह सकती, और फिर मैं जब कसूर ही नहीं करूँगी तो मुझे फिर डाँटेगा ही कौन ?

'तो तुमने सुबह क्या कसूर किया था, जिसके लिए तुम पर डाँट पड़ी थी ?'

गल्प-सम्मेलन रायबरेली

सन् '२५ की बात है, शायद फर्वरी का महीना था, हम लोग लखनऊ में थे, रायबरेली के स्कूल मे गल्प-सम्मेलन था। लड़कों ने आपको सभापति चुना। आप वहाँ एक दिन का वायदा करके गये। लेकिन एक दिन के बजाय वहाँ चार दिन लग गये। चौथे रोज जब आप लौटे तो मैं बिगड़ी, आप जहाँ जाते है वहीं देर कर देते है, आप कभी यह भी नहीं सोचते कि देरी का घर-वालों के ऊपर क्या असर पड़ता होगा, आप तो वहाँ मौज करते है, मै यहाँ परेशान, कि आखिर बात क्या है कि आये नहीं।

आप बोले—तुम मुझ पर अन्याय करती हो कि मै कभी सोचता नहीं। मै ख़ुद परेशान था यह सोचकर कि तुम परेशान होगी। मगर मै मजबूर था। जाता तो मै एक काम से हूँ मगर मेरे लिए वहाँ चार काम वह लोग पहले ही तैयार कर लेते है। अब जब मै गया ही हूँ तो उन लोगों के सामने यह भी तो नहीं कहते बनता कि मै किसी तरह रुकूँगा नहीं, भाग ही जाऊँगा। और शायद मेरी जगह पर तुम होती तो शायद मेरी तरह तुम भी मजबूर हो जाती। मै ख़ुद ही घर से निकलना नही चाहता, मगर क्या करूँ, कर्तव्य के आगे सर झुकाना ही पड़ता है। मै तो कभी-कभी ख़ुद सोचता हूँ कि घर मे बैठा रहूँ तो सबसे अच्छा रहूँ। मेरी इच्छा भी होती है,

मगर क्या करूँ, रहने भी तो नहीं मिलता, उस पर कहती हो कि मैं बाहर मौज करता हूँ। मेरी इच्छा तो यह होती है कि कलम-दवात हो और काग़ज़ हो, और तुम और हम हो। मै तो कहता हूँ कि दस-बीस वर्ष के लिए इसी कमरे मे कोई बन्द कर दे तो मै बाहर जाने का कभी नाम भी न लूँ।

मै बोली कि स्त्रियो की तरह घर मे रहना होगा तो मालूम होगा, अभी तो जहाँ होता है घूमते ही तो रहते है।

'अच्छा तुम्हीं बताओ, जब तक मुझे कोई बाहर का काम नहीं होता, मै इसी शहर मे कहीं बाहर जाता हूँ? और जिसको तुम मौज समझती हो, मै जल्दी से जल्दी भागने की कोशिश हमेशा करता रहता हूँ, जैसे कोई कैदी कैद से छूटते ही घर की तरफ़ भागता है, उसी तरह मै भी भागता हूँ। मै अपने दोस्तो मे घरघुसू मशहूर हूँ।

मै बोली—यह तो सब तुम्हारी कहने की बातें है। जब आप कानपुर में थे, तब आप १० के पहले कभी घर नही आते थे। आप बोले—जब मै १० के पहले कभी घर नहीं आता था, तब तुम्हीं कौन बैठी मेरी इन्तज़ारी करती थीं। ज़्यादातर तो तुम अपने घर रहती थीं, कानपुर मे भी रहती थी तो शायद मेरी ज़्यादा चिन्ता न थी। तुम थोडी भी मेरी चिन्ता करतीं तो शायद मै घर से बाहर निकलने की क़सम खा लेता। तुम्हारी इस हालत पर भी मुझे महीने मे २४ दिन दौरा करना होता तो उसमे मुशकिल से मैं १५ दिन दौरा करता था। और १५ दिन मे कानपुर के आस-पास ही दौरा करता था, दूर के गाँवो मे जाते जैसे मेरी नानी मरती, उस पर भी तुम्हारी यह शिकायत।

मै बोली—जब मै तुम्हारी परवाह ही नही करती थी, तब आप पूरा दौरा क्यो नहीं करते थे?

तब आप हँसकर बोले—तुम बेवकूफ़ थीं। मेरी परवाह नही करती थीं। मै तो समझदार था। इसलिए तुम्हारी परवाह भी करता था और चाहता भी था। तुम तो हमेशा की पागल हो।

मै बोली—मै पागल हूँ या वेवकूफ हूँ, इन सब बातो को जाने दो। अच्छा तुमने मुझे दो दिन क्यो परेशान किया ?

तब बोले—पागलराम सुनो। मुझे कई जगह लोग पकड ले गये। जब कही पहुँच जाता हूँ तो सबको ज़रूरत निकल आती है। मै ख़ुद पछताता था और परेशान था कि तुम परेशान होती होगी। अच्छा इससे तो फिर यह कहीं अच्छा होगा कि तुम मेरे साथ-साथ चला करो। तुमको भी शान्ति मिलेगी, और शायद इससे ज़्यादा मै भी ख़ुश रहूँगा।

आज उन्ही बातो को सोचती हूँ और बैठी-बैठी अफ़सोस करती हूँ। सब बातें तो भूल गई, और बीत गई। हाँ एक बात मुझे याद है कि मैं पागल हूँ। और शायद मरते दम तक याद भी रहेगी कि मै पागल हूँ, मरते दम तक याद भी रहेगी, क्योंकि उनको तो कैदख़ाने मे भी कलम-दवात-कागज की और मेरी ज़रूरत थी। मगर मै तो पागलपत्ते के नशे में ऐसी पागल हूँ कि सब कुछ खोकर भी ज्यों की त्यों बैठी हूँ।

'मोटेराम शास्त्री'

सन् १९२६ की घटना है। आप 'माधुरी' का सम्पादन करते थे। आप थे और पं० कृष्णविहारी मिश्र थे। आपने 'मोटेराम शास्त्री' नाम की एक कहानी लिखी। उस कहानी पर एक शास्त्री महाशय ने दोनो पर केस दायर किया। दोनो ने ५००)-५००) की जमानत दाखिल की। आप लोगो के साथ 'माधुरी' के मालिक विष्णुनारायण भी थे। उस कहानी पर विष्णुनारायणजी भी ख़ुश थे। तारीख के दिन दो बैरिस्टर देहरादून से आते थे जो नौ-नौ सौ रोज़ाना लेते थे। मेरे भाई और बहनोई भी जाते थे। कानपुर के सारे वकील और बैरिस्टर सब आ गये थे। कचहरी खचाखच भरी रहती। ख़ैर, बहस वगैरह के बाद मजिस्ट्रेट ने हुक्म सुनाया। आप दोनो बरी हो गये।

मजिस्ट्रेट साहब "मोटेराम शास्त्री" से बोले—आपको और कुछ कहना है ? अब तो सबसे बेहतर यही है कि आप चुपके से खिडकी के बाहर निकल

जाइए। जैसे ही मजिस्ट्रेट साहब ने यह कहा कि दोनों आदमी मुस्करा दिये। इसके बाद 'माधुरी' का वह अङ्क सबका सब बिक गया।

वैद्यजी घर आये तो बोले—चाहे तब 'मोटेराम शास्त्री' को कोई न जानता रहा हो, लेकिन अब दुनिया जान गई। माधुरी-आफ़िस में इस पर महीनों चर्चा रही।

कुआँ बनवाया

आज से पन्द्रह साल पहले की बात है एक दिन सुबह कहारी पानी भरने आई और घडे लेकर कुएँ पर गई। कुएँ की जगत कच्ची थी। वह फूल कर गडारी सहित कुएँ मे जा पडी। कहारी रुआँसी होकर आई और बोली—बाबूजी, आज मै गिरते-गिरते बची। चलिए, देखिए, कुएँ मे सब गिर गया। मै तो बच गई। नहीं तो मै भी अन्दर चली जाती।

आप ऊपर की बाते सुनकर, भीतर आने के बजाय भट्टे पर जाकर ४००० ईंटो के लिए आर्डर दे आये।

मै घर मे नाश्ता लिये बैठी थी। आप वहाँ से साढ़े नौ बजे के लगभग आये। मै बोली—नाश्ते के समय आप कहाँ चले गये?

आप बोले—तुमने कुएँ की हालत नहीं देखी? महरी गिरने से बची। मै बोली—पहले आप यह बताइए, आप थे कहाँ?

आप बोले—मै ईंटो के लिए कहने गया था। आख़िर तीन महीनो के बाद अच्छा हुआ हूँ तो कुछ तो तावान देना ही पडेगा।

मै बोली—कुआँ तो पंचायती था।

आप बोले—सबको न दिखाई पडे तो मै भी अन्धा हो जाऊँ। और कहीं आज तुम्हारी महरी कुएँ मे गिरी होती तो सबसे पहले तुम्हीं रोतीं। मै तुमसे यह पूछता कि सब औरतें तो है ही, तुम्हीं क्यों रो रही हो? न गाँव भर की औरते रोती, न गाँव भर के मर्दों को दिखलाई पडता। इसलिए तुम मुझसे कुछ कह नहीं सकतीं।

मै बोली—खाली ईंटों से कुआँ बन जायगा। उसमे तीन-साढ़े तीन सौ रुपए पडेंगे। कम से कम १००) रुपये का पत्थर लगेगा।

आप बोले—नहीं, नहीं।

मै बोली—मै हिसाब जोडकर बताऊँगी तो पता चलेगा। जब दरवाज़े पर ईंट आ जायगी तो उसे पूरा करना मेरा काम हो जायगा।

'मै तो यही चाहता था कि किसी तरह यह पूरा हो।'

२-३ रोज़ के बाद 'माधुरी' आफिस से बुलावा आया। आप वहाँ सपादन करने चले गये। उसे मैने बनवाया। बनवाई में ३७५) लगे। जब वे आये तो उनके सामने हिसाब रखने पर वे बोले—ग़ैर यह काम तो हो गया। मैने अगर ईंटे न रखी होती तो यह काम न होता।

मै बोली—आपकी यह आदत है। एक-न-एक बला मेरे सिर रख देते है।

तो आप बडे ज़ोर से हँसकर बोले—मुझे विश्वास रहता है कि मै जिस काम मे हाथ लगा दूँगा उसे तुम पूरा कर दोगी।

मै बोली—और मेरा काम ही क्या है ?

'हाँ, तुम बहादुर आदमी हो।'

'मै ऐसी बेवकूफ़ नही हूँ कि तुम्हारे ऊपर बोझा न लाद सकूँ, पर मुझे तुम्हारे ऊपर दया आती है।'

वे नौकरानियो से कभी काम न लेते थे। कोई बोझा उठाना हो तो वे खुद उठा लें। अगर घर मे नौकर न हो, नौकरानी ही हो तो वे अपने हाथ से अपनी धोती साफ कर लें। उनको बाबू बनना बहुत बुरा लगता। ऐसी हरकतें दूसरों को भी करते देखकर उन्हें बडा क्रोध आता। बच्चो के आलसी होने के डर से वे ज्यादा नौकर नही रखते थे। उनके दिल मे बडे-छोटे का लिहाज भी बहुत रहता।

बहनोई

मेरे बहनोई ने दूसरी शादी की, उनके यद्यपि पहली बीवी से बच्चे थे। उन्होने दूसरी शादी कर ली। और सारी संपत्ति दूसरी बीवी के नाम कर दी। कोई तीन लाख की संपत्ति उनके पास थी। इसी पर हम दोनो मे विवाद हो रहा था।

मै--उन्होंने अच्छा नहीं किया।

आप बोले—तब क्या करते ?

'और बच्चो को भी देते।'

'बच्चो के हाथ-पैर हो गये। कमाते है।'

'अगर कुछ न होता तो वे क्या करते ? तब तो बीवी बच्चो ही के ज़िम्मे पडती।'

'होने पर यह कोई नही समझता। जब न होता तो देखा जाता। फिर कौन यही निश्चित है कि उनकी बीवी की परवरिश वे कर ही देते ?'

'तभी आपने 'बेटोवाली विधवा' नाम की कहानी लिखी ?'

'मै आये दिन इसी तरह के केस देखा करता हूँ।'

'आप कैसे सब के दिलों की बातें समझ लेते है ?

'तुम तो ख़ुद लेखिका हो, समझो। बहुत कम ऐसे लडके होते है जो अपने पिता के बराबर अपनी बहनो और मा को प्यार करते हो।'

'आप तो विमाता ही के लडके थे। विमाता मे माता का कोई भी प्यार न था। पर आप तो माता ही समझते रहे।'

'क्या इसी तरह हमारे लडके भी है ? तुम देखती ही हो कि वे लोग कभी-कभी बेधडक तुम्हारी आज्ञा टाल देते है। इससे ज़्यादा बुरा मुझे कुछ नही लगता। इसी लिए मै हमेशा चाहता हूँ कि बच्चो को कुछ करने के लिए कभी न कहा जाय। इसी तरह सोच लो उन्होने दूरंदेशी की होगी। वह वकील है, समझदार है, संपत्ति भी है। फिर जिसे जीवन-काल में सबसे ज़्यादा प्यार करते है, उसे मरने के बाद किसके सहारे छोड़ें ! कोई भी शरीफ़

आदमी यही करता। मरने मे अपना वश तो होता नहीं। नहीं तो कोई जीवन-संगिनी छोडकर जाना चाह सकता है।'

मैं—बहुत से तो आदर की कौन कहे, डण्डे से स्वागत करते हैं।

'वे पशु हैं और गृहस्थ-जीवन का कोई भी रस उन्हें नहीं मिला है। नहीं तो ऐसा कौन चाहेगा। फिर दूसरो पर अपनी ज़िम्मेदारी कैसी? लेखक या तो देखा हुआ लिखता है, या जो लिख रख रहा है, उसे कभी अवश्य देखेगा। उन्होने जो कुछ किया, अच्छा किया। मै उनकी तारीफ करता हूं। हर पुरुष को ऐसा ही करना चाहिए।'

मैं—स्त्री कौन बडी चतुर है? तब भी तो इन्हीं के जिम्मे वह रहेगी। उन लोगो के भाव और बुरे हो गये होगे।

'तुम तो बच्चों की-सी बात करती हो। जब उन्होने ऐसा किया है, तो जज भी नियुक्त कर जायँगे।'

मैं—जज हर वक्त कहाँ रहेगा। घर मे तो बच्चे ही रहेंगे।

'जज अपने इशारे ही से सब कुछ कर सकता है, वह पुलिस भी दे सकता है। वह मुझसे कहते भी थे कि मैंने अपने घर के लिए एक जज भी नियुक्त किया है। उनकी बीवी को कुछ भी बोलना न पडेगा। जज सब इन्तजाम कर देगा।

मैं—तो शादी करके उन्होने क्या लाभ उठाया?

'उनकी खुशी। इन्सान अपनी तपस्या का फल भोगना चाहता है। यह क्या कि बच्चों के ही लिए सब कुछ करो। उन्हें पढा देने तक अपना धर्म है। वे तो दूसरों का प्रबन्ध कर सकते है।'

मैं—बच्चो के पास रहता तो दूसरो का हो जाता?

'उनके मरने से उनकी बीवी ही विधवा होगी, न कि बच्चे। वे तो मरने के बाद खुश होगे। अगर मेरा वश होता तो उनकी सारी सम्पत्ति उनके छोटे बच्चे और उनकी बीवी को ही देता।'

मैं—यदि सम्पत्ति न होती तो छोटे बच्चे तथा बीवी किसके ज़िम्मे जाती?'

'जिनके पास कुछ नहीं होता उन्हें दुर्दशा भी तो भोगनी पड़ती है। आँख खोलकर देखो।'

'कर्जा तो लड़को को ही देना पड़ता है।'

'जिसके पास भला सम्पत्ति होगी, उसके पास कर्जा होगा ?'

मै—कर्जा न हो तब तो ठीक है।

'मेरी बात तुम मानो। मै बिल्कुल सच कहता हूँ। उनका यह काम मुझे बहुत प्रिय लगा। मेरी निगाह में उनकी इज़्ज़त बढ गई। यदि उन्होंने ऐसा न किया होता तो मै उन्हें धोखेबाज समझता।'

१९२८

लखनऊ मे तब मै थी। एक दिन मेरे घर पर कालाकाँकर के राजा अवधेशसिह आये। उनके साथ और भी कई आदमी आये। बाते चलती रहीं। आपने बेटी को आवाज़ दी—बेटी, पान दे जा। मैने पान और इलायची भेजवा दी। जब वे चले गये तो आप अन्दर आकर बोले—कल मुझे ८ बजे कालाकाकर की कोठी पर जाना है।

मै बोली—आगन्तुक महाशय कौन थे ?

'राजा साहब ख़ुद थे ? क्या बताऊँ कल एक कहानी 'माधुरी' को ज़रूर देनी है। और एक दूसरी बला भी आ पडी।'

मैने कहा—उन लोगो को आपने कहाँ बैठाया ?

आप बोले—जहाँ मै बैठा था।

मै बोली—यह तो ठीक नही। मैने बीसो बार आप से कहा कि दो-चार कुर्सियाँ आप लाकर रख ले। इन लोगो ने क्या सोचा होगा ? और आपको कैसे अच्छा लगता है ?

आप बड़े जोर से हँसते हुए बोले—तो फिर मै राजा लोगो के लिए थोड़े ही इन्तज़ाम करता हूँ। मैं तो मज़दूर हूँ। जो मोटा-झोटा खाने-पहनने को मिला, खाया-पहना। मेरी गद्दी तो ज़मीन है। अब उन लोगो को

अच्छा न लगे तो इसके लिए मै क्या करूँ ।

मै बोली—तो इससे क्या ? अपने को तो ख़ुद चाहिए । क्या हर एक आदमी अपने को अच्छा नहीं दिखलाना चाहता ?

आप बोले—तुम्हारा कहना ठीक है, पर यह यूरोप नहीं है। यह तो हिन्दुस्तान है। यहाँ की आमदनी तो छ पैसे रोज़ की है। बहुतों को तो भरपेट रोटी भी नहीं मिलती। तुम क्या कहती हो ? वह विलासिता के सामान कहाँ से जुटा सकता है ? और अगर लोग मर-मरकर जुटाते है तो यह गरीबो के प्रति अन्याय है ।

मै बोली—महज़ आप ही के करने से सब कुछ थोडे ही ठीक हो जायगा ?

वह बोले—तो इसका मतलब यह थोडे ही होता है कि सबके साथ मैं भी कुऍ मे गिरूँ । अपना-अपना सिद्धान्त अलग होता है। मै इसी मे ख़ुश हूँ। न कोई चिन्ता, न कोई फिक्र ! हमे किसी भी चीज़ की चिन्ता नही है। कुर्सी-मेज मॅगा लूँ तो कल तुम कहोगी कालीन भी चाहिए। फिर नौकरों की चिन्ता। एक-पर-एक लगा ही रहेगा। जो इनके फेर में पडे रहते है, उन्हें इसी से फुर्सत नहीं मिलती। इसी विलासिता का परिणाम है कि हम लोगो को गुलाम होना पडा। आज कितना ही हाथ-पैर हिलाते-डुलाते है पर कुछ कर नही पाते। उन्हीं लोगों के पापो का परिणाम है कि हम लोग गुलाम है और ऊपर से पाप करते जायँ तो न जाने क्या परिणाम होगा।

मैं बोली—आप भी ज़रा-ज़रा सी बात में क्या-क्या सोच जाते है !

आप बोले—यहाँवालो को बहुत सादे ढङ्ग से गुज़र करना चाहिए। हम लोगो को अपने से छोटो को देखना है। उनको देखो और उनमें मिलने की कोशिश करो। यही हम लोगो को चाहिए।

मै बोली—आज स्वराज्य की आवाज़ लगानेवाले ये ही कुर्सी-मेज़वाले है। ग़रीबो के दिमाग़ की उपज यह नही है। नगे और भूखे क्या कर सकते हैं ?

तब आप बोले—जैसे कि मोटे आदमियों ने ही आज़ादी खोई, वैसे ही पाने की चेष्टा करने मे लगे है। कोई हमारे साथ ये एहसान नहीं कर रहे हैं। मनुष्य सब दिन नहीं पतित रह सकता। सरकारी मायाजाल यह नहीं है। आत्मा की पुकार को आदमी कहाँ तक ठुकरा सकता है? बडे-बडे चोर-डाकू भी अपने अपराध को समझ लेते हैं।

मै बोली—यह सब भाग्य की बातें है। भगवान् भी इनके साथ नहीं रहम करते। आप बहुत हाय-हाय करे तो इससे क्या? हमको कुछ मिल थोडे ही जाता है!

आप बोले—मै ही क्या रहम उनके साथ कर सकता हूँ? उनका भला तो उसी समय होगा, जब उनमे शक्ति आयेगी।

मै बोली—तब भगवान् को चाहिए कि उन ग़रीबो मे ताकत भरे।

आप बोले—भगवान् मन का भूत है, जो इन्सान को कमज़ोर कर देता है। स्वावलम्बी मनुष्य ही की दुनिया है। अंध-विश्वास मे पडने से तो रही-सही अक्ल भी मारी जाती है।

मै बोली—गान्धीजी तो दिन-रात 'ईश्वर-ईश्वर' चिल्लाते रहते है।

आप बोले—वह एक प्रतीक भर है। वह देख रहे है कि जनता अभी बहुत सचेत नही है। और फिर जो जनता सदियों से भगवान् पर विश्वास किये चली आ रही है, वह यकायक अपने विचार बदल सकती है? अगर एकाएक जनता को कोई भगवान् से अलग करना चाहे तो सम्भव भी नही। इसी से वे भी शायद भगवान् का ही सहारा लेकर चल रहे हैं।

मै बोली—आप भले न माने, दुनिया थोडे ही नास्तिक हो सकती है।

तब आप बोले—मेरा कहना झूठ नहीं है। तुम सच मानो, जो भी आज धर्म के नाम पर हो रहा है, सब अन्ध-विश्वास है। यह सब मूर्खों को बहकाने के तरीके है। तुम खुद सोच सकती हो, यह सब स्त्रियों पर माया-जाल चलता है। इसी का नाम अन्ध-विश्वास है।

मै बोली—क्या स्त्रियों के हिस्से में मूर्खता ही पडी है?

आप बोले—इसमे नाराज़ होने की तो कोई बात नहीं है। और मै यह थोडे ही कहता हूँ स्त्रियाँ जन्म से ही मूर्ख होती है। पुरुष जाति ने उन्हें मूर्खता का पाठ पढाया।

मै बोली--आप लोगो ने ऐसा क्यो किया ?

आप बोले--उसी तरह जैसे ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने हम लोगो को ? जैसे हम लोगो के मूर्ख होने से सरकार को लाभ है, वैसे ही स्त्रियो को मूर्ख बनाने मे पुरुषो को।

मै बोली--सरकार को तो खैर बहुत से लाभ हैं, पर आप लोगो को इससे क्या लाभ हुआ ? स्त्री-पुरुष तो एक-दूसरे के अङ्ग हैं। आधा अङ्ग कट जाय तो क्या आधा अङ्ग खुश रह सकता है ? तिस पर आप लोग समझदारी का दम भरते है।

आप हँसते हुए बोले--ये पुरानी बाते हैं। जो सरकारे आई, उन्होंने यहाँ की पब्लिक को बेवकूफ बनाना चाहा। पुरुष वर्ग से भी कमजोर स्त्रियाँ थीं। पुरुष तो अपने को सँभाल ले गये। पर स्त्री अपने को न सँभाल सकी। तुम देखती ही हो कि मन्दिर और मस्जिद के झगडे में गवर्नमेण्ट कितनी दिलचस्पी लेती है। उसी तरह यहाँ के पुरुष भी दिलचस्पी लेते रहे होंगे।

मै बोली--तब आप स्त्रियों को कैसे मूर्ख बनाते हैं ? पुरुष-वर्ग स्वयं मूर्ख है जो स्त्रियो को मूर्ख बनाने चला है। यह तो उसी तरह हुआ कि दूसरो के असगुन के लिए अपनी आँख फोड ले। समझदारी इसे नहीं कहते।

आप बोले--स्त्रियाँ क्यो नही युग के अनुसार हो जातीं ?

मै बोली--होंगी वे पर आप होने तो दें। आपको अपने पाप का प्रायश्चित्त स्वयं करना चाहिए।

तब आप बोले--स्त्रियो को अपनी उन्नति ख़ुद करनी चाहिए।

मै बोली--आप लोगो ने उनकी शक्ति नष्ट कर दी है। इसी वजह से उन्हें ज़्यादा मान-अपमान महसूस भी नहीं होता।

आप बोले--नहीं। यह बात तो नही है। मै बोली—है क्यो नहीं ?

यह सब बातें करते हुए उनके चेहरे पर चिन्ता के बहुत गम्भीर भाव थे। मै रह-रहकर देखती जाती। पर विवाद जारी था।

मैंने ५०) का फर्नीचर मॅगवाया। उससे कमरा सजा दिया। पर वे हमेशा ज़मीन ही पर बैठते। जमीन पर एक डैस्क रख लेते और एक डैस्क बच्चे के लिए होती। उस बच्चे को रोज़ सुबह आप पढाते। हॉ, उस कमरे मे, कोई आ जाता तो उसे ले जाते। रोज़ाना उसकी सफाई स्वयं वे करते। मै अपने दिल मे सोचती मैंने नाहक फर्नीचर मॅगवाकर और उनकी बला बढ़ा दी। झाडना-पोंछना उनका वक्त खराब करने लगा।

एक दिन उनके पास जाकर मै बोली—आप मत साफ़ किया कीजिए। मै स्वयं इसकी सफ़ाई करूॅगी।

आप बोले--नही मै स्वयं साफ़ कर लिया करूॅगा। तुम्हारी मदद की ज़रूरत नही।

मै बोली—मै आपकी क्या मदद करूॅगी!

जब मैंने झाडन छीन लिया तो आप प्यार से बोले--तुम यह सब काम मत किया करो। कोई आदमी आ जायगा तो क्या सोचेगा? अपने दिल में सोचेगा अच्छे रईस है। बीबी सफ़ाई करती है, आप खडे देख रहे है।

मै बोली—तो इसमे क्या गुनाह है?

आप बोले—आजकल की तहज़ीब के ख़िलाफ है।

मै बोली—आप की बात भी मुझे भद्दी लगती है।

आप बोले—अपना काम करने में कुछ बुराई नहीं है।

उस दिन से मै ख़ुद उसे साफ़ करने लगी। और उनसे कह देती, नौकर ने साफ़ किया है। इसी तरह जूते मे पालिश करने से भी उन्होंने मना किया था। यह सब बाते ज़रूर मामूली है, पर सोचिए कितना उनके अन्दर विवेक था। मेरे दिल मे बार-बार आता है कि वे किसी सन्त से भी कम नही थे। मेरे लिए यह बडे गर्व की बात है कि वे मेरे थे और मै उनकी हूॅ।

लखनऊ : महात्माजी के दर्शन

सन् १९२८ की बात है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी की मीटिंग थी। और प्रयाग मे ही वर्किंग कमेटी की भी मीटिंग थी। महात्मा गान्धी भी उन दिनो प्रयाग में आनेवाले थे। आपको महात्मा गान्धी से मिलने की बहुत दिनो से ख़्वाहिश थी। यह बात सुन्दरलालजी को मालूम हुई कि आपको महात्मा गान्धी से मिलने की इच्छा है। उनका पत्र आया, आप एकेडेमी की मीटिंग से दो दिन पहले आ जाइए, महात्मा गान्धी से मुलाकात कर लीजिए। आप मुझसे बोले—आज तो मैं जाऊँगा।

मै बोली—आप तो कहते थे कि चौथे दिन जाना है, फिर आज क्यो जा रहे है ?'

आप बोले—मै दो दिन पहले जा रहा हूँ, महात्माजी से मिलना चाहता हूँ।

मै बोली—तब तक क्या महात्माजी चले जायँगे ! एकेडेमी की मीटिंग मे तो जाना ही है।

आप बोले—मुमकिन है, तब तक महात्माजी चले जायँ, ज़्यादा दिन कहीं वह ठहरते भी तो नहीं।

मै बोली—तो अच्छा जाइए।

'लोगों को यह सुन कर आश्चर्य होता है कि मै अभी तक महात्माजी से नही मिला।'

वे दो दिन पहले भी गये और एकेडेमी की मीटिंग के दो दिन बाद लौटे, मगर फिर भी महात्मा गान्धी के दर्शन न कर पाये। जब घर आये, मैने कहा—दो दिन पहले तो गये और दो दिन के बाद आये, तब भी आपको महात्मा गान्धी के दर्शन नही हुए ?

आप बोले—उन बिचारे को फ़ुरसत कहाँ ? सैकडो आदमी तो उनसे मिलनेवाले ठहरे, उनको एक मिनट की भी फ़ुरसत नही, सैकडो तो उनको रोज़ाना चिट्ठियाँ देखनी पडती है।

मै बोली—आख़िर और लोग उनसे कैसे मिलते है, कि आज ही उनको काम फट पडा है, यह काम तो उनके हमेशा के है।

आप बोले—तो वह लोग हाथ धोकर दर्शन के पीछे ही पड जाते है। मै केवल दर्शन ही तो करना चाहता नहीं था। मै तो १०-५ मिनट उनसे समय लेता। और जो कुछ वह लिखते पढते है, वह तो मै कहीं न कहीं पढ ही लेता हूँ। मै सुनता हूँ कि महात्मा जी जैसे और सब बातो मे निपुण है, उसी तरह वह बात करने मे भी बहुत कुशल है, इसी आशा को पूरा करने के लिए मै गया था।

मै बोली—अफसोस ! चार दिन का समय भी गया और वह आनन्द भी न मिल पाया।

आप बोले—हॉ, इसको तो मै अपनी बदक़िस्मती कहता हूँ।

फिर उस समय के बाद सन् '३५ मे 'हिन्दी परषिद' की मीटिंग वर्धा मे हुई। उस समय आप 'हंस' के विषय मे बातचीत करने के लिए वर्धा गये, 'परिषद' को 'हंस' देना था। और उसके साथ ही साथ, हिन्दी और हिन्दुस्तानी के विषय मे भी सलाह-मशविरा करना था। उसमे महात्माजी ने स्वयं बुलाया था। तब आप गये, और चार दिन तक वर्धा मे रहे। जब वहॉ से आये, तब महात्माजी के विषय मे कहने लगे—जितना मै महात्माजी को समझता था, उससे कहीं ज़्यादा वह मुझे मिले। महात्माजी से मिलने के बाद कोई ऐसा नही होगा जो बगैर उनका हुए लौट आये। या तो वह सबके है या वह अपनी ओर सबको खींच लेते है। उनकी शक्ल-सूरत, और बातो मे इतना खिचाव है कि उन्हें जो भी देखता है, उनकी तरफ़ खामख़ाह खिंच जाता है। मै कहता हूँ कि बुरे से बुरा आदमी भी जो उनके समीप जाय तो उनका ही होकर लौटेगा ; महात्मा गान्धी के समीप कोई कितना ही झूठा जाय, मगर उनके सामने उसे सच बोलना ही पडेगा।

मैं बोली—यह कोई बात नहीं है। महात्मा गान्धी जिन्ना को क्यो नहीं ठीक कर लेते ? जिन्ना का ठीक करना आसान काम नही है।

'कोई समय आयेगा, जब जिन्ना ठीक हो जायँगे। क्योंकि महात्मा गान्धी एक पहलू के आदमी नहीं हैं।'

मैं बोली—तो क्या आप भी महात्मा गान्धी के तरफदार हो गये ?

'अरे तरफदार होने को तुम कहती हो, मैं उनका चेला हो गया। चेला तो उसी समय हुआ, जब वह गोरखपुर में आये थे।'

मैं बोली—चेले तब हुए थे, दर्शन अब कर पाये।

आप बोले—चेला होने के मानी, किसी की पूजा करना नहीं होता, बल्कि उन गुणों को अपनाना।

मैं बोली—तो आपने अपना लिये ?

आप बोले—मैंने अपना लिये। अपनाने को कहती हो, उसी के बाद तो मैंने 'प्रेमाश्रम' लिखा है। सन् '२२ में छपा है।

मैं बोली—वह तो पहले ही से लिखा जा रहा था।

आप बोले—इसके मानी यह है कि मैं महात्मा गान्धी को बिना देखे ही उनका चेला हो चुका था।

मैं बोली—तो इसमें महात्मा गान्धी की कौन ख़ास बात हुई ?

आप बोले—बात यह हुई कि जो बात वह कराना चाहते हैं, उसे मैं पहले ही कर देता हूँ। इसके मानी यह है कि मैं उनका बना बनाया कुदरती चेला हूँ।

मैं बोली—यह कोई बात नहीं है, न कोई दलील है।

आप बोले—दलील की यह कोई बात नहीं। इसके माने हैं कि दुनिया में मैं महात्मा गान्धी को सबसे बड़ा मानता हूँ। उनका भी उद्देश्य यही है कि मजदूर और काश्तकार सुखी हों, वह इन लोगों को आगे बढ़ाने के लिए आन्दोलन मचा रहे हैं। मैं लिख करके उनको उत्साह दे रहा हूँ। महात्मा गान्धी हिन्दू-मुसलमानों की एकता चाहते हैं, तो मैं भी हिन्दी और उर्दू को मिला करके हिन्दुस्तानी बनाना चाहता हूँ।

मैं बोली—आप कैसे बनाते हैं हिन्दुस्तानी ?

आप बोले—जो कुछ मै लिखता हूँ वह हिन्दुस्तानी मे लिखता हूँ।

मै बोली—तो आपके लिखने से हिन्दुस्तानी हो गई।

आप बोले—जिसको हिन्दू-मुसलमान दोनो मानें, जिसके समझे वह है हिंदुस्तानी और मेरा खयाल है कि राष्ट्रभाषा जब ब तो वह हिन्दी-उर्दू को मिलाकर।

मै बोली—यह तो हिन्दुस्तान है यहाँ तो आम भाषा चाहिए थी ?

बेटियों की शादी की है, और वह इसमें बड़ा फख्र समझते थे। हाँ मुसलमानों की स्त्रियाँ तुम्हारे यहाँ नहीं आई हैं। अब भी तुम्हारे घर की जो स्त्रियाँ निकाली जाती हैं वह मुसलमानों के ही घर जाती हैं, या चकले में जाती हैं। यह जो मुसलमानों की बढ़ी हुई कौम है, वह सब फारस से नहीं आये थे, उस समय तुम्हारे हिन्दू भाई क्यों नहीं सोचते थे कि हमें अपनी शुद्धता बनाये रखना चाहिए ?

मैं बोली—तो क्या आप मुसलमानों के हिमायती हैं ?

आप बोले—मैं किसी का हिमायती नहीं हूँ, न किसी का दुश्मन हूँ।

मैं बोली—आखिर आप राम को मानते हैं कि रहीम को ?

आप बोले—मेरे लिए राम, रहीम, बुद्ध, ईसा सभी श्रद्धा के पात्र हैं। और मैं इन सबों को महापुरुष समझता हूँ।

मैं बोली—आख़िर आप हैं क्या ?

आप बोले—मैं एक इंसान हूँ, और जो इंसानियत रखता हो, इंसान का काम करता हो, मैं वही हूँ, और उन्हीं लोगों को चाहता हूँ। मेरे दोस्त अगर हिन्दू हैं, तो मेरे कम दोस्त मुसलमान भी नहीं हैं। और इन दोनों में मेरे नज़दीक कोई ख़ास फर्क नहीं है, मेरे लिए दोनों बराबर हैं।

मैं बोली—कैसे दोनों बराबर हैं ? मुसलमान गाय की कुरबानी करते हैं और उसी कुरबानी के पीछे हज़ारों हिन्दू-मुसलमानों की जानें जाती हैं।

आप बोले—इसका दोषी एक ही वर्ग नहीं है। अगर मुसलमान कुरबानी करता है, एक बूढ़ी-टेढ़ी गाय को लेकर, जिस पर कि दोनों कौमों में झगड़ा होता है, तो जब अंग्रेज़ों के यहाँ सैकड़ों गायें और बछड़े मारे जाते हैं, तब क्यों नहीं हिन्दुओं के ख़ून में गरमी आती ? यह क़ुरबानी में गाय के लिए झगड़ा नहीं होता है, यह दोनों के अन्दर एक तरह की कुरदेन रहती है, उसी में पड़कर झगड़ा होता है। कौन-सा ऐसा देवी का मन्दिर है, जहाँ बकरों की क़ुरबानी न होती हो ? क्या बकरा जीव नहीं है ? फिर क्यों बकरे की क़ुरबानी की जाती है ? बकरे का गोश्त आप भी शौक से खाते हैं। सब

से दया की मूर्ति हिन्दू ही है, यह आप कैसे कह सकती है ? स्त्रियो पर सबसे ज़्यादा ज्यादती हिन्दू ही करते है। ज़रा-सी भूल हो गई, उसको घर से बाहर निकाल बाहर किया। हिन्दू अपने पैर में आप कुल्हाडी मारते है, उस पर कही सुनते है कि किसी हिन्दू को मुसलमान बना लिया गया, तो बड़ा शोरगुल मचाते है। और जब औरत को घर से निकाल देते है, तब वह यह नही सोचते कि आख़िर यह जायगी कहाँ ? आख़िर वह मुसलमान ही होगी, तब उसको क्यो घर मे नही रहने देते ? और औरत से जो ग़लती हो जाती है, उसकी गुनहगार अकेली औरत ही नही है, पुरुष भी है। बल्कि मै तो कहता हूँ कि पुरुष औरत से दूना गुनहगार नहीं तो ड्योढा तो ज़रूर ही है। मै कहता हूँ कि फिर स्त्री को ही क्यो बाहर निकाला जाता है, पुरुष को क्यो नही निकाला जाता ? उसका क्यो नही बहिष्कार किया जाता ? उसमें सोलहो आना स्त्री को ही क्यो गुनहगार ठहराया जाता है ? और पुरुष तो शुरू से ही स्त्रियो के साथ ज़्यादती करता आ रहा है। अपनी मरज़ी के माफ़िक क़ायदा-क़ानून भी तो पुरुष ने अपने लिए बना रखे है। बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह पुरुष ही करते है। तब आख़िर इतनी स्त्रियाँ कहाँ जायँगी ? और समाज ने सारी ज़िम्मेवारी स्त्रियो के ही सर पटक दी है, ऐसा मालूम होता है कि सारे बन्धन स्त्रियो के लिए ही है। उससे पुरुषो को कोई बहस नही है। सारे कायदा-कानून अपने से उलटे ही स्त्रियो के लिए बनाये है। अपने आपको उनके शिकंजो से बचाकर ही रखा। और तुम्हीं सोचो, स्त्री को घर से निकाल भी देगे, फिर वह मुसलमान भी न हो। वह शायद यह सोचते है कि वह दुनिया ही मे न रहे। भगवान जाने क्या चाहते हैं !

मै बोली—और रंडियाँ शहर से जो निकाली जा रही है, उनके लिए आप क्या सोचते है ?

आप बोले—उनको भी समाज चाहता होगा, कि यह शहर मे न रहें, और एकान्तवास करे। मै तो धन्यवाद देता हूँ दयानन्द को। उन्होंने आर्यसमाज का प्रचार करके, स्त्रियो का और समाज का बड़ा उद्धार

किया है। शारदा बिल जिन्होंने स्त्रियों के लिए पास कराया है, उनको भी स्त्रियों को धन्यवाद देना चाहिए।

मै बोली—हम स्त्रियाँ इन महापुरुषों को धन्यवाद दें ?

आप बोले—अगर तुम लोग धन्यवाद न दो तो इसके मानी है तुम लोग कृतघ्न हो। स्त्री जाति को आगे बढ़ाने में महात्माजी ने भी उनका पक्ष लिया है। मै कहता हूँ कि अगर हमारा समाज अब भी नहीं समझता, और स्त्रियो के साथ इन्साफ़ का वर्ताव नहीं करता, तो बहुत मुमकिन है, वह दिन जल्द ही आनेवाला हो, जब हिन्दुओं के घर की लडकियाँ, अत्याचारों से घबराकर, अपनी इच्छानुसार शादी कर लिया करेंगी।

मै बोली—वह ठीक नहीं होगा। वह हमारे दुर्भाग्य के दिन होंगे, जब हमारे घर की लडकियाँ स्वयं अपनी शादियाँ करेंगी, क्योंकि उस उम्र में जब कि शादियाँ होती हैं, लडके-लडकियों में इतनी समझ नहीं होती कि वह अपने अच्छे-बुरे का फैसला कर सकें, और धोखे-भुलावे की बहुत शङ्का रहती है। ऐसी शादियाँ देखने में आकर्षक होती हैं ; पर होती हैं वास्तव में भुलावा।

आप बोले—चाहे मैं या तुम या दुनिया भर इसको रोकने की कोशिश करें, यह रुक नहीं सकता। एक दिन आयेगा कि कोई भी शक्ति इसको रोक नही सकेगी। हवा की रफ्तार यही हमको बतला रही है। जितना ही हम सोचते है कि पश्चिमी सभ्यता से दूर रहें, उतनी ही तेज़ी के साथ वह हमारे सर के ऊपर आ रही है।

मै बोली—भगवान न करे कि उस दिन को देखने के लिए मै दुनिया में बैठी रहूँ।

आप बोले—इसकी कोई बात नही, पुरानी सभ्यता से तुम भी तो घबराती हो।

मै बोली—तो मै इस तरह उसको थोडे ही ठुकराना चाहती हूँ कि उसका नाम-निशान ही मिट जाय। जहाँ ख़राबी हो, उसमे सुधार चाहती हूँ।

आप बोले—तुम सुधार चाहती हो तो तुम्हारे लड़के उसको मिटाना ज़रूर ही चाहेंगे, इसमे घबराने की कौन-सी बात है ? जैसा समय होता है, उसी तरह कायदे-कानून भी तो बदलेंगे। सदी तो बीसवीं है और आप चाहती है, पहलेवाला युग। नहीं, बीसवीं सदी के अनुसार क़ायदे-क़ानून भी बनेंगे, और बनने चाहिए, जिसमे एकतरफ़ा डिगरी करने का किसी को हक न रह जाय।

मै बोली—तो इसमें हम स्त्रियों को सुविधा तो होगी ही। इसलिए जिन-जिन महानुभावो ने हमारे साथ उपकार किया है, और आप भी हमारे साथ ही है, उन लोगो को तो हम स्त्रियाँ धन्यवाद देंगी ही, मगर मै आपको भी धन्यवाद देती हूँ।

आप बोले—भाई मै तुम लोगो के साथ कोई उपकार तो करता नहीं हूँ। मै तो सिर्फ, मेरे बुजुर्गों ने जो अत्याचार किये है, उनका प्रायश्चित्त करता हूँ।

मैं बोली—कौन जाने किसने पाप किया, किसने पुण्य ? रोते तो हम दोनों ही हैं।

आप बोले—रोयेंगे तो दोनों साथ-साथ, चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष। क्योंकि जो हम कर्म करते है, उसको हम साथ-साथ भुगतते भी तो हैं, और हमेशा भुगतेंगे।

मैं बोली—अब अफसोस करने की क्या बात है, अब तो अफ़सोस का समय भी नहीं।

आप बोले—पहले स्त्रियो को पुरुषो ने दबाया, जब स्त्रियाँ कमज़ोर हो गई, तब उन्हीं की सन्तान हम बच्चे भी गुलाम बने। अब गुलामी का तावान हम लोगो को देना पड़ रहा है।

मै बोली—हम स्त्रियाँ अब भी पिस रही हैं।

आप बोले—वह तो पिसना ही पड़ेगा, इसका अफ़सोस छोड़ देना चाहिए।

हमारा इस तरह का वाद-विवाद कोई न कोई पहलू लेकर हमेशा ही होता था।

बेटी की शादी

सन् '२८ की बात है। बेटी की शादी करनेवाले थे। कई लड़के लखनऊ में देखे। मगर कोई भी पसन्द न आया। जिसका घर-वर अच्छा होता उसका लड़का बदसूरत होता। अगर लड़का अच्छा होता तो घर ख़ाली। एक बार मैं बोली—आप लड़का देखने गये थे, पसंद आया?

आप बोले—लड़का तो अच्छा है, पर सांवला है।

मैं बोली—तो क्या? चकले में थोड़े ही बैठाना है।

आप बोले—इससे क्या? सूरत-शक्ल तो होनी चाहिए।

मैं बोली—जिन्होंने आपको वह लड़का बताया, वे तो कहते थे कि बहुत अच्छा है।

आप बोले—मैं ही कहाँ कहता हूँ कि वह कूड़ा है। मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है।

मैं बोली—तो आपको कौन लड़का पसन्द आयेगा?

आप बोले—तुम्हीं बतलाओ, अगर तुम्हारी शादी किसी कुरूप से हुई होती तो तुम्हें पसन्द आता?

मैं बोली—जिससे मेरी शादी हुई है, वह तो मुझे पसन्द है। पहले भाता कि न भाता, दैव जाने।

दूसरा लड़का फतेहपुर देख आये। वहाँ से लौटने पर मैं पूछने लगी—देख आये?

आप बोले—देख तो आया, पर मुझे कोई भी न पसन्द आया।

एक लड़का उन्नाव में देखा। उसका घर बार अच्छा था। ज़हीन था। पढ़ने-लिखने में भी अच्छा था। बाद को मालूम हुआ कि लड़के की मा नहीं है।

आप बोले—मै उस घर मे शादी नहीं करूँगा।

मै बोली—पहले यह बताओ, मा-बाप से शादी करोगे या लडके से ?

आप बोले—तुम नहीं जानती। जाते ही बेचारी को घर-गृहस्थी देखनी पडेगी। हम बेटी को बुलाना चाहेंगे तो वे कहेंगे कि मेरा घर कौन देखे। कौन हमारे दो-चार लडकियाँ है। मै ऐसी शादी नहीं पसन्द करता।

दूसरा लडका बनारस मे था। उसे घर बुलाया। वह डी० ए० वी० मे पढाता था। लडका ख़ूबसूरत था। वह दो दिन रहा। उसको देखकर उन्होने यह महसूस किया कि लडका चंचल है। बोले—और तो सब अच्छा है। लेकिन चंचल मालूम होता है।

बाद को मालूम हुआ कि उस लडके से अपने मा-बाप से भी नही पटती है।

मै बोली—मा-बाप मूर्ख होगे, न पटती होगी; पर लड़का तो अच्छा है।

आप बोले—तुम भी मूर्ख हो। जिस लडके की मा-बाप से नहीं पटती है, उससे बीवी से कैसे पटेगी ? यह भी तो सोचो। जो लडका अपने मा-बाप को प्यार नही कर सकता, वह किसी और को क्या प्यार करेगा ?

मै बोली—पटना और बात है, प्यार करना और। मुमकिन है विचार न मिलते हों।

आप बोले—जहाँ प्यार होगा, वहाँ द्वेष आ ही नहीं सकता। मुझे ऐसी शादी नहीं करनी है।

मै बोली—जिन लड़को को छोड़ आये है, क्या वे क्वाँरे ही रहेंगे ?

आप बोले—हमारी तबियत नही है। औरो की तबियत हो जायगी। मै ऐसी शादी करना पसन्द नहीं करता।

मै बोली—तो बैठकर ढूँढिए साल-दो-साल। आप बोले—अभी हमारी लडकी की उम्र ही क्या है। अभी ४-६ साल भी हम देख सकते है।

जिस घर में हम लोग थे, उसके एक हिस्से में एक डाक्टर साहब रहते थे। उनमें-हममे घर की तरह का मेल था। देखनेवाले यही समझते थे कि ये दोनो एक ही घर के है। मेडिकल-कालेज में नौकर थे। एक रोज मैं डाक्टर से बोली—देखो, कालेज में कोई लडका है ?

मेरे कहने के १०-५ दिन बाद ही एक लडके का फ़ोटो और पता लाकर उन्होंने दिया। और बोले—देखो अम्मा, यह पसन्द हो तो तजवीज कराओ। और उसके साथ-साथ बोले—यह बी० ए० के दूसरे साल में है।

मैंने बाबूजी को फोटो दिया। और डाक्टर से मैंने कहा—जाकर विस्तार में सब बता देना।

डाक्टर—पहले फोटो को देखिए बाबू जी, बाद मे मै सब बताता हूं।

फोटो देखकर बोले—लडका तो अच्छा है। मुझसे बोले—तुम्हें कैसा लगा ?

मै बोली—मुझे तो पसंद है।

तब आप हँसकर बोले—शायद इसकी नाक में भी आपरेशन हुआ है। बेटी की भी नाक इसी तरह है। ठीक है।

डॉक्टर से बोले—और तो सब बताओ भाई।

डाक्टर बोला—तीन हज़ार रुपए सालाना की जायदाद भी उसके पास है।

बाबूजी बोले—सबसे पहले यह बताओ, लडके की मा है या नही ?

मै बोली—मा से शादी करोगे ?

'भाई मैने एक लडके को तो छोड दिया है माँ ही के बिना। अब दूसरे का क्यो न पूछूँ ?'

डाक्टर बोला—मा भी है। दो बहनें है। एक छोटा भाई है। वह भी पढ रहा है। दोनो बहनों की शादी हो चुकी है। एक प्रयाग मे व्याही गई है। दूसरी जबलपुर मे जब इनके पिता मरे तो ये कुल नौ साल के थे। इनकी उम्र अब इस समय तेईस वर्ष की है। पिता के मरने पर बहनोई ने आकर ज़मीदारी की देखभाल करना शुरू

कर दिया। ये दोनों भाई जबलपुर मे पढ़ते है। मैने आपके पूछने के पहले ही सब बाते जॉच कर ली है। तब आप बोले—इस लड़के का स्वभाव कैसा है और मा का कैसा है ?

डॉक्टर—लडका शील-स्वभाव का बहुत अच्छा है। पढने में भी जहीन है। मा का भी स्वभाव बहुत अच्छा है। मैने तो यहाँ तक उनसे कह दिया है कि उस बच्ची को मै अपनी बहन समझता हूँ। और मै तो यहाँ तक कह चुका हूँ कि अगर किसी बात की शिकायत हुई तो मै मुँह तक न दिखा सकूँगा।

तब आप बोले—हाँ, भाई बहुत दूर है। सब जॉच-पडताल कर लेना चाहिए। बाद को कोई खराबी हो तो बेचारी जीवन भर रोती रहे। और रोना क्या, उसकी तो ज़िन्दगी चौपट हो जायगी। और हम भी जब तक जीते रहेंगे, रोते रहेंगे। ये सब बातें सोच लो।

डॉक्टर—मैने तो सब जॉच कर ली हैं। आप भी पत्र लिखकर सब पूछ-पाछ लीजिए। कौन अभी शादी हुई जा रही है। आप बोले—भाई, शादी-ब्याह के बारे मे तो मेरी तबीयत आजकल बहुत डरती है। और बहुत मुश्किल हो भी गया है। आजकल के कालेज के लौडे अपने माता-पिता को तो कुछ समझते ही नही है। भला दूसरो को कौन पूछे।

डॉक्टर—बाबूजी, अभी अच्छे लड़के-लडकियो की कमी नहीं है। हॉ, कुछ है जो सिर-फिरे हो गये है।

आप बोले—कही उन्ही में से कोई मेरे सिर न पड जाय।

मै बोली—अगर किस्मत में यही लिखा होगा तो क्या करोगे ?

आप बोले—इन्सान तकदीर और तदबीर दोनो को लेकर चलता है।

मै बोली—सभी अच्छा-अच्छा करते है। मगर बुरा कौन करता है ?

आप बोले—इसका मतलब यह नही कि हम ऑख बन्द करके चले।

मैने कहा—पहले पत्र तो लिखिए।

उसके बाद लडके के बहनोई को शादी के लिए खत लिखा। ख़त छोडने

के बाद आप इधर-उधर पता लगाने लगे। मेरे भाई को इलाहाबाद ख़त लिखा। उनकी बहन जहाँ ब्याही थी, वहाँ की ख़बर लेने के लिए मेरे भाई को भेजा। भाई का खत भी दो-तीन दिन के बाद आया। लिखा था कि मुझे तो मालूम हुआ कि लडका अच्छा है। लोग उसकी तारीफ कर रहे हैं। आठ-दस रोज़ के बाद लडके के बहनोई का ख़त आया। उन्होंने पूरा जायदाद आदि का विवरण लिखकर भेजा। उसके साथ-साथ यह भी मालूम हुआ कि वे लोग इसी प्रान्त के जालौन के पास के रहनेवाले हैं। उन्होंने यह भी लिखा कि मैं इधर लखनऊ अपने एक मित्र की बीमार स्त्री देखने आनेवाला हूँ। आपके ही यहाँ ठहरूँगा। तब जो कुछ और आपको पूछना हो, आप पूछ सकते हैं। और आपने जो यह लिखा है कि मेरे बारे में जो पूछना हो, पूछो, उसके मुतल्लिक़ मुझे यही कहना है कि सूर्य को दीपक से नहीं देखा जाता। आपको तो मैं बहुत दिनों से जानता हूँ। मैं ही क्यों, लडके के पिता भी आपके उपन्यासों के शौकीन थे।

उसके ८-१० रोज़ बाद वे खुद आये। ;तीन आदमी सहित। वे हमारे घर ठहरे। उसके बाद आपको और जो बातें करनी थीं, आपने कीं। जिस रोज आये, उसी दिन आप बोले—अगर लडकी आपको देखनी हो तो आज ही दिखला सकता हूँ। बाद को न दिखा सकूँगा।

वे बोले—आपको मैंने देखा। लडकी दूसरे रंग की थोडे ही होगी। हाँ, लडके की मा के लिए फोटो की ज़रूरत होगी।

मैं बोली—मा तो आकर देख सकती हैं। वे आठ-दस रोज़ तक तीनों आदमी मेरे यहाँ रहे। फिर तीन तरह के फोटो खिचवाकर उन्हें दिये गये। एक में मैं, बेटी और बन्नू थे। एक में बेटी डाक्टर की लडकी को लिए खडी थी। एक में अकेली बेटी का फोटो खिचवाया गया। उनको तीन तरह के फोटो दिये गये। और तीनों आदमियों को विदाई देकर रुख़सत किया गया।

उनके जाने के आठ-दस रोज़ बाद फिर उनका ख़त आया,

जिसमें उन्होंने लिखा कि लडका अपने घर का मालिक है। इसलिए लडके की बहन और वह ख़ुद लडकी देखने जायगा। यह पत्र पढकर आपको बहुत क्रोध आया। घर आकर मुझसे बोले—मुझे ऐसा मालूम होता है कि यह लडका भी सिरफिरा है। क्या बाप न हो तो कोई बुजुर्ग नही रहता ? जब उसका बडा बहनोई देख गया तो फिर क्या ? उसे विश्वास करना चाहिए था। बहनोई भी कोई गँवार नहीं। अच्छा समझदार आदमी है। अगर ऐसा ही है तो मै ख़ुद उसके साथ शादी नही करूँगा। मै जाकर पत्र लिख देता हूँ। मुझे ऐसी शादी नही चाहिए। मै मालिक की शादी नही चाहता, बल्कि लडके के साथ शादी करना चाहता हूँ। जो मेरे सामने आये, लडका होकर आये। आपको जो मैने फोटो दिया है, उसे भेजिए। और अब मुझे ब्याह के बारे मे कुछ भी न लिखियेगा।

वहाँ से दूसरा ख़त आया। उन्होने लिखा कि मैने जो यह कहा था कि लडका घर का मालिक है, वह ग़लती मेरी थी। मैने आपको इसलिए लिखा था कि लडके के पिता के न होने से बात तय करने की जिम्मेदारी मेरी थी मै भी दुनिया से उसी तरह डरता हूँ, जैसे आप। आगे-पीछे और कोई बात हो तो मै अपराध से बरी रहूँ। उसी पत्र के साथ लडके की शादी की स्वीकृति का भी खत था। लडके (वासुदेवप्रसाद) ने पत्र मे यह लिखा था कि 'शादी मुझे मंजूर है। इसका ख्याल रहे कि जिस घर मे मेरी शादी हो, वह घर दिवालिया न किया जाय। क्योंकि शादी-ब्याह एक दिन का रिश्ता नही। यह हमारा उनका रिश्ता तीन पुश्तो का होगा। इसलिए आप उनको दिवालिया न कीजिएगा।' यह वासुदेवप्रसाद ने अपने बहनोई को लिखा था।

उस पत्र को पाकर आप बहुत खुश हुए और मुझसे बोले—लडका बहुत समझदार है। वह पत्र उन्होने मुझे दिया। पत्र हिन्दी मे था। मै बोली—आप उन्हें लिख दीजिए कि उनकी मा और बहनो मे जो भी आ सकती हैं देखने आयें। बाबूजी ने ख़त मे लिखा कि मै खुद चाहता हूँ कि सम-

धिन साहवा या उनकी वहन आकर देख जायँ। मेरी राय में तो समधिन साहवा आवें तो ज्यादा अच्छा हो।

ख़त जाने के १५ दिन वाद उनके वहनोई अपनी स्त्री के साथ आये। वे दो-तीन रोज़ रहने के वाद जाना चाहती थीं। मुझसे वावूजी वोले—अभी मत जाने दो। १०-१५ रोज़ रह लें तो जायँ, महज़ सूरत से क्या, साथ में रहकर उसका शील-स्वभाव भी देख ले। सूरत-शक्ल अगर वहुत अच्छी हो, और स्वभाव की ठीक न हो तो कैसा। जो वातें उन्हें न मालूम हो, तुम वता दो कि इस तरह देखो।

मै वोली—क्या उन्हें देखना नहीं आता जो मै वतलाने जाऊँ। आप वोले—वासुदेव के पत्र पढने से तो मेरे दिल में उसके प्रति अपने लडके का-सा स्नेह हो आया। चाहे शादी न हो तो भी मेरा स्नेह उस पर रहेगा।

वे वेटी के साथ ख़ूब हिल-मिलकर साथ-साथ रहीं। वेटी को मालूम तो था नहीं। इसलिए वह भी ख़ूव खुलकर रहती थी। एक दिन मैने वासुदेव की वहन से पूछा—वेटी, तुम्हें जो कुछ कहना हो, मुझसे कहो। वे वोलीं—अम्माँ, मुझे कुछ नहीं कहना है। आप विश्वास रखें। वह पत्र भी आपको न लिखा जाता; पर इतनी वडी ज़िम्मेदारी वे अपने सिर कैसे लेते?

जब मैंने वावूजी से सारी वातें कह सुनाई तो वोले—एक वात तुम और पूछ लो। मेरे एक ही वेटी है। विदा-विदा में झंझट न पडे।

मैंने उनसे कहा कि यह वात है कि विदा की शिकायत कभी न हो।

लडकी वोली—अम्माँ, इसकी शिकायत कभी नहीं होगी। वावूजी के पास जाकर वह वोली—अव हमें अपना लडका ही समझिएगा। यह मै नहीं कह रही हूँ, वल्कि मेरी मां ने मुझसे कहने को कहा है। आप वोले—यह कहने की क्या ज़रूरत? मेरे तो हुए ही तुम लोग।

'वावूजी, आपके बच्चे अभी छोटे ही हैं। आप लिख देंगे तो भैया ख़ुद पहुँचा जाया करेंगे। हां, जो पत्र मे लिखा गया था, उसे आप भूल जाइए। और आज अगर मेरे पिता जीवित होते तो आपको कोई परीशानी न होती।

उसके बाद उन लोगो को बिदा किया गया।

अब यह तै हुआ कि बरच्छा जाना चाहिए।

मैने कहा—दूर बहुत है। मेरी हिम्मत गवाही नही दे रही है। आप बोले—दूर क्या है, अगर पास मे पैसा हो तो। जब तक हम लोग है तब तक पैसे की कमी नही। यही नही, तुम्हारे और लडकियाँ भी नही है। मान लो तुमने पास मे ही किया और लडका किसी काम से दूर भी तो जा सकता है न? तब तुम्हारे लिए तो बराबर हुआ। फिर वासुदेव-सा लड़का मिलना कठिन है। पता नहीं, मेरे बच्चे इस तरह होंगे कि नहीं। मुझे तो वासुदेव अपना ही बडा लड़का लग रहा है। पत्र देखो। कैसा उदार है? लिखता है कि उस घर को दिवालिया न किया जाय। हमारा उनका सम्बन्ध तीन पुश्तो का होगा। इसका मतलब कि सब दिन का। देखती नही आज कल के लौंडों को। वे चाहते है कि किसी तरह रुपए मिलें। चाहे चोरी करने से, या डाका डालने से। अब ईश्वर का नाम लेकर मुझे जाने दो।

मै भी राज़ी हुई। आप जब वहाँ से लौटे तो मुझसे बोले—लडका बहुत अच्छा है और मेरे ही विचार के उनके पिता भी थे। हमेशा वे स्वदेशी पहनते थे। जिन दिनो बंगाल दो टुकडो मे हुआ था, उन दिनो वे भी जेल गये थे। हालाँकि उनके जेल जाने के बाद वहाँ की पब्लिक ख़ूब लड़ी। और पब्लिक ने उस लडाई मे कोई ४०००) रुपए व्यय किये। देवरी के लाट कहे जाते थे। यह सम्बन्ध बहुत अच्छा होगा। उसके बाद आप लखनऊ से सब तैयारी करके बनारस आये।

जब द्वार-पूजा का समय हुआ तो अपने बड़े भाई को भेजा। वे भी खड़े तमाशा देख रहे थे। बरातियो मे से कुछ ने इधर-उधर बताशे फेके। यह उन्हें अच्छा न लगा। मुझसे बोले—तुम दरवाज़े पर पैसे लुटा दो।

मै बोली—इस समय उन्हें लुटाना चाहिए।

आप बोले—तुम वासुदेव को छोडकर सबो को पैसो से मारो। मैने अपनी भाभी से कहा—थोड़ा अक्षत डालकर पैसे लेती आओ।

मैं बोली—आप लुटाइए।

आप बोले—नहीं। तुम ख़ुद लुटाओ।

बारात जनवासे गई। मैं उसके बाद बोली—द्वार-पूजा आपको करना चाहिये था।

आप बोले—मुझसे ये रस्में नहीं होंगी।

मैं बोली—अभी कन्यादान तो आपको करना ही होगा।

आप बोले—कन्यादान कैसा? बेजान चीज़ दान में दी जाती है। जानदार चीज़ों में तो गौ ही दी जा सकती है। फिर लड़की का दान कैसा? यह मुझे पसन्द नहीं।

मैं बोली—इसे तुम्हें करना ही होगा।

आप बोले—तो फिर मैं अपनी लड़की को दान दे दूं? यह मैं नहीं कर सकता।

मैं बोली—बच्चों की-सी बात न कीजिए। कन्यादान होता नहीं?

'तुमको करना हो करो। मैं नहीं करूंगा।'

आख़िर किसी तरह मंडप में आये। और मैंने ही कन्यादान किया। वे बैठे रहे।

जब शादी हो गई तो वासुदेव का नाई बोला—साहब, मुझे इस समय न्यौछावर चाहिए। आप बोले—कितना चाहिए बताओ? बोला—कम से कम १०) चाहिए। आपने अपनी जेब से रुपए निकालकर बेटी के सिर पर घुमाकर नाई को दे दिया। नाई ख़ुश हो गया।

जुलाई में वासुदेव का ख़त आया—अब मैं क्या पढ़ूं? पत्र पाने के बाद आप बोले—मेरी राय में तो इलाहाबाद आकर वह क़ानून पढ़े।

मैं बोली—कानून ही अच्छा होगा।

आप बोले—हाँ, घर का वह मालगुजार है। सागर में वकालत करेगा। अपनी ज़मींदारी भी देखेगा। नहीं तो बाहर जाने से ज़मींदारी में हानि होगी।

यही बात उसे लिख दी। और यह भी लिखा कि खूब मेहनत से पढ़ो।

तब से वासुदेव को लडके से भी ज़्यादा समझने लगे। उसकी ज़रूरतें बारीकी से आप देखते रहते। एक बार वह लखनऊ आया। उनको मालूम हुआ कि लूकरगंज से म्योर कालेज तक उसे आना पडता है। उसे साइकिल चाहिए। आपने मुझसे रुपए लिये और जाकर साइकिल खरीदी। जब साइकिल लाये तो बोले—ऊपर से वासुदेव को बुला दो। अपनी साइकिल देख ले। जो त्रुटि हो, बताये।

मैने ऊपर आवाज़ दी और कहा—वासुदेव, अपनी साइकिल देख लो। जो कमी हो, बताओ। वह देखकर बोला—सब ठीक है।

वे जिस चीज़ की कमी महसूस करते, फौरन ख़रीदकर भेजते।

वासुदेव उनसे डरता बहुत था। वे जितनी बाते पूछते, उन्ही का जवाब वे देते। इसपर कभी-कभी मुझसे कहते यह लडका मुझसे बहुत डरता है।

मै बोली—धुन्नू और उसमे फर्क है। वह लिहाज़ करता है।

आप बोले—मुझे तो धुन्नू और वह बराबर लगते है।

कई बार वासुदेव के पत्र आये, उनमे एकाध गलतियाँ रह गईं। आप उन गलतियो को सुधार कर, उसे रवाना कर देते। और लिखते—अपनी अँग्रेज़ी ठीक करो। जब भी इस तरह की ग़लती होती, वे पत्र वापस कर देते। एक बार मै बोली—वह अपने दिल मे क्या सोचता होगा? आप बोले—क्या सोचेगा? मै ऐसे ही धुन्नू वग़ैरह को भी लिखूँगा। वह अपना लडका नही जो उसे उसकी ग़लती न बताऊँ?

वह उर्दू नही जानता था। उसे उर्दू सिखाने की कोशिश करते।

बेटी की शादी मे इतने बडे-बड़े बटुले दिये कि खाली वह न उठा सकती।

एक दिन मै बोली—आपने इतने बड़े-बडे बेमसरफ़ बर्तन क्यो दिये?

किसी दिन बेटी को उतारना पड़ जाय तो ? बेटी कैसे उठा सकेगी ? तो आप बोले—बेटी को उतारने के लिए थोड़े ही मैंने दिये हैं। जब तक ये चीज़ें रहती हैं, तब तक याद रहता है। कई पुश्तों तक लोग याद करते हैं।

मैं बोली—तो फिर देखने के लिए दिये ?

आप बोले—और क्या ? किस काम मे आयेगा ? रुपए तो खर्च हो जाते हैं। चीजें बच रहती हैं।

जब वासुदेव आता तो उसकी घर-गृहस्थी के बारे में जरूर पूछते।

एक बार की बात है, वासुदेव बेटी को बुलाने आया। उस बार मैंने कहा—अभी विदाई नहीं करूँगी। उन्होंने मेरे सामने कुछ नहीं कहा। मेरे घर में एक पंडितजी थे, उनसे बोले—आप घर में कह दें तो अच्छा हो। खाना बनानेवाला कोई नहीं है।

जब मुझे मालूम हुआ तो मैंने आपसे कहा—यह कहते हैं।

तो आप बोले—कह दो उनसे, अभी बेटी घर-गृहस्थी देखने नहीं जायेगी। उनकी बहन कहाँ गई ?

मैं बोली—उनकी वह बहन भूपाल गई है। वहाँ उन्हें वसीका मिला है। वह इनकी मौसेरी बहन है। साल-का-साल बाहर रहेंगी तो उनका वसीका बन्द हो जायगा।

आप बोले—कितना वसीका मिलता है ?

मैं बोली—पचीस रुपए मिलते हैं।

आप बोले—उनका पता ले लो। पचीस मैं भेजा करूँगा। पता उनसे पूछ लो।

मैं बोली—साल दो साल का नहीं है, जीवन भर का है।

आप बोले—मैं अपनी ज़िन्दगी भर देता रहूँगा।

मैंने इस बात को हँसी मे उड़ा दिया और वासुदेव से ऐसा कह दिया। वासुदेव चुपके वापस गये।

लखनऊ की होली

होली की बात है—मेरे दामाद वासुदेवप्रसाद प्रयाग में वकालत पढ़ रहे थे। उनको भी होली पर बुला लिया गया था। बड़ा लड़का धुन्नू रंग के डर से बाहर भागा। वासुदेवप्रसाद और बन्नू ऊपर जाकर कोठे का दरवाज़ा बन्द करके बैठे। आप तो अपने कमरे में ही रहे। जो भी आता, रंग और अबीर से उनका स्वागत करता। उन दिनों उन्हें खाँसी आ रही थी। जब कई आदमी नहलाकर उन्हें चले गये तो मैं बोली—आपको खाँसी का डर है कि नहीं ? बोले—दोनों लड़के और दामाद सब भागे। मैं भी वैसा ही हो जाऊँ। आख़िर ये लड़के हैं कहाँ ?

मैं—धुन्नू तो बाहर भागा। और दोनों ऊपर कमरा बन्द किये बैठे हैं। आप नीचे से बोले—वासुदेवप्रसाद, बन्नू को लिये यहाँ आओ।

जब वे दोनों सामने आ गये, तब बोले—भाई, रंग से इतना डर। रंग ही तो है, और आज हिन्दू-मात्र रङ्ग खेलते हैं। तुम लोग यहाँ होते तो तुम लोगों पर भी रङ्ग पड़ता। और मैं छूट जाता। देखो, तुम लोगों के अभाव में खुद लड़का बना बैठा हूँ। और हर कोई रङ्ग से नहला जाता है।

दोपहर तक न उन्हें नहाने दिया, न ख़ुद नहाये। बोले--तुम लोगों के दिल में उत्साह होना चाहिए। मुझे तो लड़कपन में जिस तरह का उत्साह था, आज भी ज्यों-का-त्यों वैसा ही है। तुम लोग लड़कपन ही में उत्साह खो बैठे।

वासुदेव सिर झुकाये सुनता रहा। जब धुन्नू आया, तो उस पर भी फटकार पड़ी।

दरवाज़े का भय

सन् '२८ की बात है। आप गोश्त लेने बाज़ार गये। लौटे कोई साढ़े नौ बजे। दोनों बच्चे स्कूल गये थे। मैं आँगन में बैठी थी। मेरे आगे गोश्त वग़ैरह रखकर बोले—बिस्तर अन्दर रखवा दिया न ?

मै बोली—मुझे तो याद नहीं पड़ा। जाकर मैं ख़ुद रख आती हूँ।

'तुम कहाँ जाओगी। मै ख़ुद रख आता हूँ।'

आप बिस्तर रखकर कमरे का दरवाज़ा वन्द करने लगे। जैसे ही दरवाज़ा खींचा कि वह सिर पर आ गिरा। इत्तिफाक से सीख़चे लगे थे, उसके नीचे भी ढेले गिरे। दरवाज़ा सीख़चों पर गिर पड़ा और बहुत ज़ोर की आवाज़ हुई। जैसे ही दरवाज़ा गिरने को हुआ कि दोनो पल्ले खुल गये। आप भीतर हो लिये, पर पैर में चोट आ ही गई। मुझे भी चोट लगी। मुझे तो अपनी चोट महसूस न हुई। मैं दौड़ी ऊपर पहुँची। वहां देखती हूँ, आप एक कोने में खड़े कॉप रहे थे। मूर्च्छा-सी थी। मैंने उन्हें सँभाला। जब उनकी तबियत कुछ सँभली तो बोले—आज बड़ी ख़ैरियत हुई। नहीं तो हम तुम दोनो आज ख़तम हुए थे।

मै बोली—जब तक होनी है, तब तक क्या हो सकता है।

तब से वे दरवाज़े से बहुत घबराते।

लखनऊ की आतिशबाजी

सन् '२८ के लगभग की बात है। नवम्बर का महीना, स्थान लखनऊ, शायद वायसराय आये थे। आप दफ्तर से आये। मुझसे बोले—आज लखनऊ मे कोई ४००००) आतिशबाजी और रोशनी में ख़र्च होगा, शायद तुमने अपनी ज़िन्दगी मे भी न देखी होगी।

मै बोली—किसको फालतू पैसा मिला है; जो इस कदर बेरहमी से ख़र्च कर रहा है।

आप बोले—ख़र्च कौन कर रहा है? मै पूछता हूँ, चलोगी देखने, चाहो तो बच्चो को लेती चलो, सबको दिखला दो।

मै बोली—आप चलेगे?

आप बोले—हाँ, क्यो नहीं चलूँगा, गरीबो का घर फूँक तमाशा देखा जायगा। उसमे हम लोग भी तो अपनी आँखें सेंक ही लेगे, और आह भर

लूँगा, और अपनी बेहयाई की हँसी मे शायद हँस भी लूँगा, और इससे आगे, अपना बस ही क्या है।

मेरी समझ मे तब तक यह बात नहीं आई थी, कि रुपया कहाँ से आया होगा, और यह क्यो ऐसा कहते है। मै हँसकर बोली—अभी तक तो आप लेखक ही थे, अब कवि कब से हो गये जो कविता में बाते करते है ?

बोले—मै भाई कविता में तो बाते नहीं करता हूँ, मै तो यहाँ का रोना तुम्हें सुनाता हूँ।

मै बोली—यह आपकी गोल-मोल बाते मेरी समझ मे नहीं आतीं ठीक से मुझे समझा दीजिए।

आप बोले—पहले मुझे एक गिलास ठंडा पानी तो पिला दो।

मै अन्दर गई, और थोड़ा-सा सूखा मेवा, और ठंडा पानी लाकर फ़र्श पर रख दिया। और उसी पर मै बैठ गई, और तीनो बच्चे भी बैठ गये। बच्चे मेवे खाने लगे, आप चिलगोजा छील कर एक-एक अपने मुँह में डाल रहे थे। मैने चाहा कि चिलगोजा मै छील दूँ। आप बोले—नहीं, अगर तुम छील दोगी तो मै इकट्ठे खा जाऊँगा, यों मै एक-एक छीलकर ही खाऊँगा। अब सुनो आतिशबाजी की बात। जो राजे-महराजे हर साल यहाँ आते है वे कुछ न कुछ इसी लिए यहाँ रखते जाते है कि जब-जब वायसराय और युवराज यहाँ पधारें तो वह उनके स्वागत मे ख़र्च हो। और जो कमी पडती है, वह तुम्हारे यहाँ के काश्तकारो से वसूल किया जाता है। उन ग़रीबो के ख़ून की कमाई, कूडा-घास की तरह आतिशबाजी मे फूँक दी जाती है। जिस मुल्क के आदमी की कमाई औसत छः पैसे रोज़ हो, उस मुल्क मे किसी को क्या हक है, कि एक-एक शहर मे ४०-४० और ५०-५० हज़ार आतिशबाज़ी मे फूँका जाय ? जहाँ पर तन ढंकने को कपडा न हो, दोनो जून रूखी रोटियाँ भी न मिलें, उस मुल्क मे इस बेरहमी से पैसा फूँका जाय, और इसलिए कि वायसराय साहब ख़ुश होगे, और इन मोटे आदमियो को ख़िताब देगे ?

लड़कों ने जब रोशनी का नाम सुना, तब सब पकड़कर शोर मचाने लगे

कि 'चलिए बाबूजी ! चलिए !' आप उन लड़कों को शान्त करते हुए बोले—अभी नहीं, तुम जाकर खेलो, रात में रोशनी होगी। लड़के तो कुछ देर के लिए बाहर चले गये, मैं बोली—तो यह लोग पैसे देते ही क्यों है ?

आप बोले—अगर वह देंगे नहीं तो क्या वह ज़िन्दा रहने पायेंगे ? ये मोटे-मोटे आदमी उनको खा जायेंगे, या छोड़ेंगे ?

मै बोली—जब उन्हें हर हालत में मरना ही है तो कुछ करके क्यों नहीं मरते ? इससे तो कही बेहतर है कि कुछ करके मरें।

आप बोले—यहाँ ८० प्रतिशत काश्तकार हैं, २० प्रतिशत और लोग बाकी बचते हैं, जिसमें पढ़े-लिखे, मालदार, रोज़गारी सब है। अगर इनमें इतनी ही शक्ति और बुद्धि होती, तो आज यह मुट्ठी भर अंग्रेज़ हमारे देश में डेढ सौ साल से राज्य न करते होते। मगर नही, इनमें न तो शक्ति है, और न बुद्धि।

मै बोली—तो क्या सब निकम्मे हैं ?

तब आप बडी गंभीरता के साथ बोले—हाँ, यह सब देखकर तो यही कहना पडता है कि यह सब निकम्मे हैं। और शायद मुल्क इसके लिए तैयार भी नहीं है।

मैं बोली—क्या यही लोग तैयार होंगे ?

कहने लगे—इसमें न क्रोध करने की बात है, न हँसने की, बल्कि यह तो आँसू बहाने की बात है।

मै बोली—सब तो ख़ुश हैं, कोई तो आँसू नहीं बहा रहा है।

आप बोले—तो इसके माने है कि हममें इतनी जड़ता छाई हुई है कि उसका दर्द ही हम महसूस नहीं करते।

मै बोली—तो क्या इस बीमारी का कोई इलाज है, या यह मर्ज़ लाइलाज है ?

तब आप बोले—महात्मा गान्धी शायद कुछ कर जायँ, नहीं तो फिर इसी तरह सहते-सहते हालत ख़राब होती चली जायगी। जब इंसान ख़ुद मरने के लिए तैयार हो जाता है, तभी उसमें किसी दूसरे को मारने की शक्ति आती है।

मैं बोली—जब इंसान खुद ही मर जायगा, तब किसी को क्या खाकर मारेगा, उस समय तो इंसान ख़ुद ही मिट जायगा।

आप बोले—तुमको वह कहावत याद है कि नहीं—मरता क्या न करता ? वह हालत जब इंसान की हो जाती है, तब वह सब कुछ करने को तैयार हो जाता है। जब तक इंसान को थोडा-सा भी सुख मिलता जाता है, तब तक उससे सुख का मोह छोडा नहीं जाता, लालसा आगे को बनी रहती है। जब इन्सान समझ लेता है, कि मरने के सिवाय कोई चारा नही, तो वह मरने के लिए तैयार होता है।

मैं बोली—तब क्या यहाँ अंग्रेज़ वसूल करने आ रहे हैं ?

वह बोले—माना कि अंगरेज़ वसूल करने नहीं आते पर एक शहज़ोर ही तो कमज़ोर को चूस रहा है।

मैं बोली—जब स्वराज्य हो जायगा, तब क्या चूसना बन्द हो जायगा ?

आप बोले—चूसा तो थोड़ा-बहुत, हर जगह जाता है। यही शायद दुनिया का नियम हो गया है कि कमज़ोर को शहज़ोर चूसें। हाँ, रूस है जहाँ पर कि बड़ों को मार-मारकर दुरुस्त कर दिया गया, अब वहाँ गरीबो को आनन्द है। शायद यहाँ भी कुछ दिनो के बाद रूस जैसा ही हो।

मैं बोली—क्या आशा है कुछ ?

आप बोले—अभी कोई जल्दी उसकी आशा नहीं।

मैं बोली—मान लो कि जल्दी ही हो जाय. तब आप किस का साथ देंगे ?

आप बोले—मजदूरों और काश्तकारों का। मैं पहले ही सबसे कह दूँगा कि मैं तो मज़दूर हूँ। तुम फावडा चलाते हो, मैं क़लम चलाता हूँ। हम दोनों बराबर ही हैं।

मैं हँसकर बोली—इस तरह कहने से काम नही चलेगा। वह तुम्हारा विश्वास भी नहीं करेंगे।

वह बोले—तब तक सब पढ़-लिख जायँगे। क्या रूस मे लेखक नही

है ? वहाँ के लेखकों की हालत यहाँ के लेखकों की हालत से अच्छी ही नहीं, कई गुना अच्छी है। मैं तो उस दिन के लिए मनाता हूँ कि वह दिन जल्दी आये।

मैं बोली—तो क्या रूसवाले यहाँ भी आएँगे ?

वह बोले—रूसवाले यहाँ नहीं आयेंगे, बल्कि रूसवालों की शक्ति हम लोगों में आयेगी।

मैं बोली—वह लोग अगर यहाँ आते, तो शायद हमारा काम जल्दी हो जाता।

वह बोले—वह लोग यहाँ नहीं आयेंगे, हमीं लोगो में वह शक्ति आएगी। वही हमारे सुख का दिन होगा, जब यहाँ काश्तकारों और मज़दूरों का राज्य होगा। मेरा ख़याल है कि आदमियों की ज़िन्दगी औसतन दूनी हो जायगी।

मैं बोली—वह कैसे होगा ?

आप बोले—सुनो वह इस तरह होगा कि अभी हमको रात-दिन मेहनत करने पर भी भरपेट आराम से रोटियाँ नहीं मिलतीं। रात-दिन कुछ न कुछ फिक्र हमेशा रहती है।

मैं बोली—तो फिक्र हम लोग अपने आप ही तो करते हैं। मज़दूरों का राज्य होने पर क्या हमको फिक्रों से छुट्टी मिल जायगी ?

आप बोले—क्यों नहीं छुट्टी मिलेगी ? हमको आज मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद भी हमारे बीवी-बच्चों को कोई तकलीफ नहीं होगी, और इसकी ज़िम्मेदारी हमारे सिर पर नहीं, बल्कि राष्ट्र के सिर पर है तो हमारा क्या सिर फिर गया है, कि हम अपनी जान खपाकर रात-दिन मेहनत करें, और आमदनी का कुछ न कुछ हिस्सा काटकर अपने पास जमा करने की कोशिश करें ? हमको आज मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद हमारे बाल-बच्चों कोई तकलीफ़ न होने पायेगी, तो ऐसा कौन आदमी है कि आराम से खाना-पहनना नहीं चाहेगा ?

मै बोली—मै आपके सामने एक दर्जन नाम गिना सकती हूँ, जिन्होंने बुढौती मे शादी की, जब कि पहली बीवी से भी लडका लड़की दोनो मौजूद थे। वह जो कुछ कमाते थे, सोलहो आना ख़र्च कर डालते थे, और मरने के बाद उन्होने अपने कफ़न को भी नहीं छोडा था, लेकिन उनको कोई चिन्ता नही थी और भगवान के सहारे रहते थे। कई आदमियो के ऐसे नाम गिना सकती हूँ, जो काफी मालदार है, और चिन्ता फिक्र करने की कोई वजह नही है, फिर भी रात दिन कोई न कोई चिन्ता अपने सिर पर लिये रहते है।

आप बोले—अगर ऐसे ज़माने मे, जैसे ज़माने आज है, चारो तरफ़ हाहाकार मचा हुआ है, इस जमाने में कोई अपनी और अपने घरबार की चिन्ता न करता हो, और भगवान के सहारे ख़ुश-ख़ुश बैठा रहता हो, तो उसको समझ लेना चाहिए कि परले दरजे का बेहया है। बाल-बच्चो के रहते बुढापे मे शादी करे, उससे लिये इस्तेमाल करने को मेरे पास कोई शब्द ही नही। और जो कोई अपने लिए नही, दूसरो के लिए चिन्ता करे, जैसे महात्मा गान्धी, वह तो मेरी निगाह मे सबसे महान शक्ति है।

हम लोगो मे इस तरह की बात हो ही रही थी, कि लडके फिर पहुँच गये, और बोले, 'चलिए बाबूजी। समय हो गया। सब लोग तो जा रहे है।' सबको लेकर गये, साथ में मै भी थी। सब लोग तो ख़ुश-ख़ुश आतिशबाज़ी देख रहे थे, आप ऐसे अनमने एक किनारे बैठे हुए थे, कि उनको देखकर मालूम होता था, जैसे इनके अपने ही घर की सम्पत्ति फूँकी जा रही हो।

एकाध घण्टे के बाद सबको वापिस ले आये। लडके नही आना चाहते थे, बोले—'मेरे सर मे दर्द हो रहा है,' चले तो आये, मगर आतिशबाजी के फूँकने का महीनो रंज रहा। पचीसो बार घर में उन्होने इसकी समालोचना की, हमारे मुल्क का पैसा ऐसी बेरहमी से ख़र्च होता है कि हाथ मलकर रह जाना पड़ता है। मगर अपना बस ही क्या है।'

मै बोली—तो आप रोकने की कोशिश क्यो नहीं करते ?

'अरे भाई, मेरे बस की बात होती तो मैं आज ज़मीन ही पर क्यों रहता, आकाश में न उड़ा करता ? मगर अफ़सोस तो यही है कि अपना कोई बस नहीं है।'

मैं बोली—जहाँ कोई अपना बस नहीं, वहां अफसोस करना बेकार है।

वह बोले—चाहे कुछ भी हो, जिस बात का हमको दर्द होता है वह जल्दी भूला नहीं जा सकता।

मैं बोली—बहुत लोगों ने आतिशबाजी देखी होगी, और ख़ुश हुए होंगे, आतिशबाज़ी की समालोचना भी की होगी, कि कैसी अच्छी थी, और आप बैठे-बैठे आतिशबाज़ी फूँकने की समालोचना कर रहे हैं।

आप बोले—इसी का नाम तो जड़ता है, वही जड़ता तो हम लोगों में छाई हुई है, कि अपना घर फूँक तमाशा देखें और ख़ुश हों।

मैं बोली—वह आपसे ज्यादा समझदार हैं, जो ख़ुश हो रहे होंगे। और आप तो अपना दूना नुकसान कर रहे हैं। एक तो आतिशबाज़ी में रुपया फूँका जाय और आप रात-दिन उसकी चिन्ता करें। लोग बड़े मजे की कहावत कहते हैं—रहिमन चुप हो बैठिए, देख दिनन को फेर, जब नीके दिन आयहैं बनत न लगिहै बेर।

आप बोले—यहाँ तुम्हारे जैसे दिमाग के आदमी रहे होंगे, तभी तो यहाँ की आज़ादी छिनी होगी। मुझे तो लक्ष्मणजी की एक चौपाई बहुत अच्छी लगती है, "कायर मन कर एक अधारा . दैव दैव आलसी पुकारा।"

मैं बोली—तो क्या किया जाय, हथेली पर सरसों भी तो नहीं जमेगी।

आप बोले—तो तुम्हारे विचारों में तो यह है कि ख़ामोश होकर बैठा जाय।

मैं बोली—सोच करने से कुछ हाथ नहीं आता, कौन मुफ्त की बक-बक करे।

मैं उठकर चली आई।

१९२९ : होली

कई मुसलमान लेखक आप से होली मिलने आये। साथ में फूलों का हार था और अबीर भी। आप कमरे में बैठे हुए थे। उन लोगों ने आपको गुलाल लगाकर पान दिया। उस अबीर को उन लोगों को लगाकर भर-अंक मिले। बड़ी देर तक वे लोग बैठे रहे। उसके बाद उन्होंने सबके साथ बैठकर खाना खाया। खाते समय तीनों आदमियों में बातें चल रही थीं। मेरी एक 'कुर्बानी' नाम की कहानी निकली थी। उस पर उन लोगों ने उन्हें बधाइयाँ दी थीं। और हार और उर्दू में परचा दिया था जब उन्हें पहुँचाकर लौटे तो उसी हार और उसी गुलाल से मुझसे होली खेले।

मैं बोली—आप ने बड़ी देर लगा दी।

आप हँसते हुए बोले—काम तुम करो। बधाई मुझे मिले।

मैं बोली—आख़िर है क्या, बताओ न !

आप बोले—तुमने जो 'कुर्बानी' नाम की कहानी लिखी है, उसी पर उन लोगों ने मुझे बधाई दी है।

मैं हँसती हुई बोली—फिर देखो, मैं अब की ऐसी कहानी लिखूँगी, जिससे आपकी बदनामी हो। समझे न !

आपने हँसकर कहा—इसमें चिढ की क्या बात है ? पुरुष बड़े हैं। उन्हें सब कुछ मिलता है।

मैं बोली—उस पर आपको गालियाँ भी मिलेंगी। मुझे संतोष हो गया कि चलो दूसरी कहानी नहीं लिखनी पड़ेगी। उसी पर मुझे लोग विधर्मी बना डालेंगे।

आप बोले—हिन्दुओं की बात तो निराली होती है।

मैंने पूछा—आप हिन्दू हैं या मुसलमान ?

आपने हँसकर जवाब दिया—न मैं हिन्दू हूँ, न मुसलमान।

मैंने कहा—नहीं यह बात नहीं है। आप हिन्दू तो हुई हैं।

आपने कहा—जिस धर्म में रहकर लोग दूसरे का छुआ पानी नहीं पी सकते, उस धर्म मे मेरे लिए गुंजाइश कहां ? मेरी समझ में नहीं आता कि हिन्दू धर्म किस पर टिका हुआ है ?

मैं उन पर व्यङ्ग करती हुई बोली—स्त्रियों के हाथ में।

आप बोले—हिन्दू-धर्म सबसे ज़्यादा स्त्रियों ही को चौपट कर रहा है। जरा-सी गलती स्त्रियों से हुई, उन्हें हिन्दू-समाज ने बहिष्कृत किया। सबसे ज्यादा हिन्दू स्त्रियां चकलेखाने में है। सबसे ज़्यादा हिन्दू स्त्रियां मुसलमान होती हैं। ये आठ करोड मुसलमान बाहर के नहीं हैं, घर के ही है। ये सब तुम्हारी ही बहनें हैं। और मैं यह भी कहता हूँ कि ऐसे तंग धर्म में रहना भी नहीं चाहिए। पहली बार जब हिन्दुओं के मौजूदा धर्म की नींव पडी तब पुरुष कर्त्ता-धर्ता थे। उन्होंने अपने लिए सारी सुविधाएँ रख लीं, हिन्दू स्त्रियों को छोटे से दायरे के अन्दर बंद कर दिया, फिर वह कैसे उदार विचार का होता। वे स्त्रियां न देवियां थीं, न मिट्टी का लोंदा। जो-जो अच्छाइयां या ख़राबियां पुरुषों में होती हैं वे ही सब स्त्रियों मे भी पाई जाती हैं। तो जब तक कि दोनों बराबर-बराबर न बँटी हों, तब तक कैसे कल्याण होगा ? पुरुषों की वे सुविधाएँ स्त्रियों को भी मिलनी चाहिएँ। थोडी-थोडी गलतियों में अपनी बेटी-बहनों को निकाल देते है। फिर वे कहीं न कहीं तो ज़रूर जायँगी। हिन्दुओं की कोशिश तो यह होती है कि उन स्त्रियों को दुनियां ही से विदा कर दिया जाय। सरकार के भय से ज़रा चुप रहते है। उधर मुसलमानों का धर्म बहुत विशाल है। उनमें सबको रखने की ताकत है। इधर हिन्दू लोग खुद अपने लिए गड्ढा खोदते हैं तब उसमें कौन गिरेगा ? वही गिरेंगे भी। मान लो एक गर्भवती औरत को कोई निकाल दे तो वह कहां जायगी ? यह समझ लो, एक औरत को निकालते समय दो को तुमने मुसलमान कर दिया। फिर उसके जितने बच्चे होते जायँगे, सब मुसलमान ही तो होंगे। तुम्हारे यहाँ जब स्त्री और पुरुष में समानता नहीं है, तब अन्य धर्मवालों में कब संभव है ? बिलकुल असम्भव है। मगर हिन्दू लोग अपनी हठधर्मी नहीं

छोड़ते। फिर मै तो कहता हूँ कि अगर हिन्दू ऐसी ही हठधर्मी मे पडे रहे तो जब इनके घर की लड़कियाँ ख़ुद दूसरे के घर मे शादी करना पसन्द करेंगी, तो क्या तुम समझती हो यह नुकसान थोडा है। फिर इन लोगो मे तो मूढता-सी आ गई है। देखो ज़रा-सी कुर्बानी के पीछे सैकडो आदमी साल मे मरते है।

मै बोली—आख़िर ज़्यादा हिन्दू न!

आप बोले—चाहे कोई हो। मरते तो है तो तुम्हारे ही भाई-बन्द न! तुम्हीं मे से निकलकर वे मुसलमान हुए है, और यह सब तुम्हारी मूर्खता का तावान है। फिर मै तो कहता हूँ, 'गाय के पीछे आदमी की कुर्बानी होना अच्छा है? और वह गाय तो तुम्हारी और मुसलमानो दोनो की है। वह भी इसी जगह पैदा होते है और मरते है। जिस-जिस चीज़ से उसका हानि-लाभ होगा, उसी से तुम्हारा भी होगा। अगर तुम ठढे दिल से समझा दो तो दूसरी बात है। अगर तुमसे समझाते न बने तो उसे छोड दो। यहाँ तो झगडा करने का मर्ज़ है।

मैं बोली—आप समझदार है तो ख़ुद क्यो नही समझा देते।

वे बोले—जिनको मै समझाता हूँ वे ख़ुद समझदार है। वे गाय की कुर्बानी ख़ुद नही करते।

मैने कहा—कौन फिर करते है? किसे समझाया जाय?

आप बोले—उन लोगो को समझाना है, जिनकी रोज़ी इन्हीं झगडो पर चलती है। इसमे पडा, मुल्ला और नेता शरीक रहते है। उन्हीं को इसमे ज्यादा मज़ा आता है। इस झगड़े मे जनता का क्या हाल होगा, इससे उन्हें कोई बहस नहीं। उनको तो वाहवाही मिलनी चाहिए और मौज उडाने के लिए पैसे। जितना हम लोग पंडो से परेशान है, उतना ही समझदार लोग मुल्लाओ से।

मै बोली—तब आप लोग क्यो नही उनको निकाल बाहर करते?

आप बोले—कोई समय आयेगा, जब वे लोग बाहर ही निकाल दिये जायँगे।

अंग्रेजों के यहाँ हजारों बछड़े काट-काटकर भेज दिये जाते हैं। उनसे कोई नहीं कहता कि इन बछड़ों को मत भेजो। न बेचें तो जबरन कोई थोड़े ही छीन लेगा। मगर नहीं, उनसे कौर दबती है। जहाँ लड़ना है, वहाँ नहीं लड़ते।

मैं बोली—हम लोगों की पूजा की चीज गाय है।

आप बोले—तुम लोग कौन कम हो मुसलमानों से। तुम लोग भी तो भेड़-बकरे देवी को बलि चढ़ाते हो। क्या उस बकरे की जान नहीं होती? इसी से मैं कहता हूँ, कोई धर्म न अच्छा होता है, न बुरा। उन्हीं हिंदुओं को मैं कहता हूँ जो गाय के पीछे प्राण देते हैं, वही हिंदू अपने मा-बाप को रोटियाँ नहीं दे सकते हैं। वही हिंदू घर की बेटी-बहन को निकाल देते हैं। यह क्या इंसानियत से दूर करनेवाली बातें नहीं हैं? फिर भी लोग नाज़ से कहते हैं, गऊ हमारे पूजने की चीज़ है। जो मा को रोटी न दे सके, वह गाय को क्या चारा देगा?

मैं बोली—यहाँ सैकड़ों आदमी गाय के पीछे प्रतिवर्ष कुरबान होते हैं। गाय के पीछे।

आप बोले—रानी, पागल न हो तुम, सुनो। वह गाय के पीछे नहीं कुर्बान होते, बल्कि वे अपनी कुरेदन के पीछे कुर्बान होते हैं। उनके अंदर जो कुरेदन रहती है, उसी को मौका पाकर दोनों निकालना चाहते हैं।

मैं बोली—आप किस मज़हब को अच्छा समझते हैं?

आप बोले—अवश्य मेरे लिए कोई मजहब नहीं। राम, रहीम, बुद्ध, ईसा सभी बराबर हैं। इन महापुरुषों ने जो कुछ किया सब ठीक किया। उनके अनुयायियों ने उसको उलटा किया। कोई धर्म ऐसा नहीं है कि जिसमें इंसान से हैवान होना पड़े। इसी से मैं कहता हूँ, मेरा कोई ख़ास मज़हब नहीं है। सबको मानता भी हूँ। इस तरह के जो नहीं हैं, उनसे मुझे कोई मुहब्बत नहीं। यही मेरा धर्म समझो।

ड्योढ़े दर्जे में

सन् '२९ की बात है। मै प्रयाग से लौट रही थी। मेरे साथ बन्नू था, आप थे। हम तीनों इन्टर-क्लास से आ रहे थे। चैत का महीना था, अष्टमी थी। गाडियो मे बेहद भीड थी। जब बहुत-से देहाती मुसाफ़िर हमारे डिब्बे में घुस आये तो आप बोले—यह ड्योढा दर्जा है, किराया ज़्यादा लगेगा।

देहाती लोग बोले—क्या करें बाबूजी, दो रोज से पढे है।

आप बोले—तुम लोग कहाँ से आ रहे हो, कहाँ जाओगे ?

'हम लोग शीतलाजी के दर्शन करने गये थे।' देहातियो ने कहा।

आप बोले—शीतलाजी के दर्शन करने से तुम्हें क्या मिला ? सच बताओ, तुम लोगो का कितना-कितना ख़र्चा हुआ है ?

'एक-एक आदमी के कम-से-कम १५)।' देहातियों ने कहा।

आप बोले—इसका यह मतलब कि तुम लोगो ने चार-चार महीने के खाने का गल्ला बेंच दिया। इससे अच्छा होता कि देवीजी की पूजा तुम घर पर ही कर लेते। देवीजी सब जगह रहती हे। वहां भी तुम पूजा कर सकते थे। देवी-देवता तभी ख़ुश होते है जब तुम आराम से रहो।

'क्या करें मनौती माने थे। अगर देवीजी के यहाँ न जाते तो नाराज़ न होती !' देहातियो ने कहा।

गाडी बेहद भरी थी। सांस लेना कठिन था। गर्मी भी पड़ने लगी थी। अगला स्टेशन जब आया तो मै बोली—इनसे कह दीजिए उतर जायँ। इन उपदेशो का पालन इनसे नही होगा।

आप बोले—तो बिना समझाये भी तो काम नही चलने का।

मै बोली—फिर से समझा लेना। मेरा तो दम घुटा जा रहा है।

आप बोले—इन्हीं के लिए तो जेल जाती हो, लड़ाई लडती हो और इन्ही को हटा रही हो। मुझे तो इन गरीबो पर दया आती है। बेचारे भूखो धर्म के पीछे मर रहे हैं।

मै बोली—जो बेवकूफी करेगा, वह भूखो न मरेगा तो और क्या होगा ?

आप बोले—क्या करें। सदियों से अन्ध विश्वास के पीछे पडे हैं।

मैं बोली—जो खुद ही मरने के लिए तैयार है, उन्हें कोई जिन्दा रख सकता है ? इनके ऊपर जबरन कोई कानून लगा दिया जाय तो इनमें समझ आ सकती है।

तब आप बोले—धीरे-धीरे समझ लेंगे। यद्यपि अभी काफी देर है। कोई काम जबरन किया जायगा तो मरने-मारने को तैयार हो जायेंगे।

मै बोली—तो गाडी मे बैठे-बैठे नही सीख जायेंगे।

तो फिर बोले—आखिर तब कब समझाया जाय ?

मै बोली—आप इन्ही के लिए तो पोथा-का-पोथा लिख रहे है।

'ये उपन्यास लेकर थोडे ही पढते हैं। हॉ, उन उपन्यासो के फिल्म तैयार कर गॉव-गॉव मुफ्त दिखलाये जाते तो लोग देखते।'—आप बोले।

मै बोली—पहले आप लिख डालिए। फिर फिल्म तैयार करवाइएगा।

हममें ये बातें हो रही थी कि तब तक रेलवे-पुलीस का आदमी आया। उन सबो को धमकी देने लगा और कहने लगा कि ड्योढा है। और किराया लाओ।

उस पुलीसमैन की हरकत देखकर आपको बडा क्रोध आया। और बोले—तुम लोग आदमी हो या पशु ?

पशु क्यों हूँ। तीसरे दर्जे का किराया दिया और ड्योढे में आकर बैठे है।'

'तीसरे मे जगह थी जो उसमें बैठते ? किराया तो तुमने ले लिया। यह भी देखा कि गाडी मे जगह है या नही ? आदमियो को पशु बना रखा है, तुम लोगो ने। मै इनके पीछे लडूँगा। यह राहजनी कि किराया ले लें और गाडी मे किसी को भी जगह नही। चलो। दो, इनको तीसरे दर्जे मे जगह। और उन आदमियों से कहा कि चलो। मैं तुम्हारे साथ चलता हूं। और उन आदमियो को लिये हुए पुलीसमैन के साथ आप उतर पड़े।

पुलीसमैन ने उन आदमियों को किसी तरह एक-एक करके भेजा। जब आप लौट कर आये तो मुझसे बोले—देखा इन आदमियों को ?

मैं बोली—आप क्यों लड़ने लगे ?

आप बोले—मैं क्या कोई भी इस तरह की हरकत नहीं देख सकता। और इस तरह के अत्याचार देखकर कुछ न बोले तो मैं कहूँगा कि उसके अन्दर गर्मी नहीं है।

मैं बोली— कांग्रेस के आदमी जो नेता कहे जाते हैं, वे 'ए' 'बी' में मौज से रहते हैं। यह पता भी नहीं रखते कि 'सी' क्लासवालों को क्या आराम तकलीफ है।

आप बोले—अगर यहां के सभी आदमी ज़िम्मेदार ही होते तो इस तरह का मुल्क न होता। हमारी इसी कमी से सरकार राज कर रही है। मुट्ठी भर अंग्रेज़ पैंतिस करोड़ आदमियों पर राज्य करें. इसके माने क्या है ? हममें चरित्रबल, आत्मबल कुछ भी नहीं है। उसी का तावान हम भोग रहे हैं और रो रहे हैं।

मैं बोली—यह एक दिन में थोड़े ही सँभलेगा ?

आप बोले—तो क्या सब हाथ-पर-हाथ धरे लोग बैठे रहें, तब भी तो अच्छा न होगा ?

मैं बोली—होगा। जब होगा।

वे बोले—तो तुम नाहक जेल गईं, कांग्रेस के पीछे मरती रहीं। यह आजादी का पौधा इमली के दरख्त की तरह है। बाबा लगाता है तो पोता फल खाता है।

रायसाहबी

मैं लखनऊ में थी। हेली साहब गवर्नर होकर आये थे। उन्होंने अपने एक मित्र से, जो हिन्दुस्तानी थे, कहा—धनपतरायजी को आप पत्र लिखें। मैं उनको रायसाहबी देना चाहता हूँ, क्योंकि वे भारत के सबसे बड़े राइटर

हैं। जिनसे गवर्नर साहब ने कहा, वे इनकी किताबों के बड़े भक्त थे। उन्होंने एक पत्र लिखा और लिखा कि गवर्नर साहब आपको रायसाहबी का ख़िताब देना चाहते हैं। आप उनसे मिलिए।

वह पत्र लेकर आप अन्दर आये, मुझसे बोले—गवर्नर साहब का मेरे पास पत्र आया है।

मैंने पूछा—क्या लिखा है?

'साहब बहादुर मुझे रायबहादुरी देना चाहते हैं।'

मैं—उन्हीं का ख़त है कि किसी और से लिखवाया है।

'हाँ, किसी और से लिखवाया है।'

'कौन महाशय हैं?'

'हैं एक महाशय, सर का ख़िताब उन्हें भी मिला है।'

'लीजिए शौक से रायसाहबी।' मैं बोली—खाली रायसाहबी देंगे कि और भी कुछ?'

'इशारा तो और भी कुछ के लिए है।'

'तब लीजिए न।'

'तो क्या देना चाहते हैं, बता दूँ? तब मैं जनता का आदमी न रहकर एक पिट्ठू रह जाऊँगा।

मैं—कैसा पिट्ठू?

'उसी तरह, जैसे और लोग हैं। अभी तक मेरा सारा काम जनता के लिए हुआ है। तब गवर्नमेण्ट मुझसे जो लिखवायेगी, लिखना पड़ेगा। तुम मंज़ूर करो, तो ले लूँ।'

मैं—ज़रूर लीजिये।

'तुम्हारा निर्णय हो तो मैं लिखूँ।'

मैंने सोचा, कहीं सचमुच न लिख दें बोली—बड़ा मँहगा सौदा है।

तब आप बोले—हाँ मैं ऐसा ख़ुद न करूँगा।

'उनको क्या जवाब दीजिएगा।'

'उनको धन्यवाद लिख दूँगा और लिख दूँगा कि मैं जनता का तुच्छ सेवक हूँ। अगर जनता की रायसाहबी मिलेगी तो सिर आँखों पर। गवर्नमेण्ट की रायसाहबी की इच्छा नहीं। गवर्नर साहब को मेरी तरफ़ से धन्यवाद दे दीजिएगा।

लखनऊ : महिला-आश्रम

सन् '२९ की बात है। महीनों से रात को मुझे हल्का-हल्का बुख़ार आता था। सुबह ४ बजे उतर जाता था।

कांग्रेस का ज़माना था। सुबह से १२ बजे तक घर के खाने-पीने का काम करती। १२ बजे के बाद महिलाश्रम चली जाती। आप बार-बार मुझे मेहनत करने से रोकते। डाक्टरों का कहना था कि मेहनत करने से बुख़ार हो आता है।

मैं उस बुखार को छिपाना चाहती थी। अगर बुख़ार की हालत जान जाते तो कांग्रेस का काम रुक जाता।

जुलाई का महीना था। शराब की पिकेटिंग हो रही थी। मैं ५०-६० औरतों को लिये तीन-चार दिन गई। वहां से लौटने पर नहाती थी।

चौथे दिन मुझे तेज़ी से बुख़ार चढ़ आया। दस दिन और दस रात तक बुख़ार रहा। आपको यह देखकर क्रोध आया।

उन दिनों देहातों में मोहनलाल सक्सेना दौरा करने जाते थे। आये तो तीन दिन तक आप भी उन्हीं के साथ दौरा करते रहे। चौथे दिन जब देखा कि मेरा बुख़ार नहीं उतरा। मैं बोली—आप तीन दिनों तक कहां थे?

आप बोले—जहां से तुम बुख़ार लेकर आईं, वहां का काम करने गया था।

मैं बोली—आप तीन रोज़ गायब रहे।

'अगर ग़ायब न रहता तो काम कैसे चलता।'

मैं बोली—मेरे अच्छी होने पर आप जाते। घर में छोटे-छोटे बच्चे, मैं बीमार।

आप बोले—जब कोई मरने पर तुला हो तो मैं उसे ज़िन्दा रख सकता हूँ!

मैं बोली—मरने पर कौन तुला है? हाँ, जिम्मेदारी समझना हर एक का कर्तव्य है।

'इसके माने कि तुम मरती रहो और मैं बैठे-बैठे देखा करूँ?'

मैं बोली—और मैं क्या करती? ये ६०-७० औरतें कैसे काम करतीं? उनमें समझदार और ज़िम्मेदार तो दो ही तीन औरतें हैं। वे तो आराम से अपने घर रहें और वे सब नौकरानियाँ हैं, जो काम करती रहें, जिनको अभी तक यह भी नहीं मालूम है कि स्वराज्य में क्या मिलेगा? अभी तक तो यह समझ रही हैं कि ये काम कर रही हैं, मैं भी कर रही हूँ।

आप बोले—इसके माने यह कि मरता भी रहे तो काम करता रहे।

'जब मर रही हूँ तो खाट पर पड़ी नहीं हूँ? रोज़ाना वे आती हैं और देख जाती हैं।'

'तुम्हें देखने आती हैं?'

'हाँ, पर हमदर्दी के मारे नहीं। यह समझकर कि आराम तो नहीं कर रही है?'

'इसके माने यह कि वे तुमको बेवकूफ बनाती हैं।'

मैं बोली—वे बेवकूफ नहीं बनाती हैं। उन्हीं को क्या गरज़ पड़ी है कि वे सब काम करें। मुझे तो उन बेचारियों पर दया आती है। न वे कुछ जानती हैं, न समझती हैं, फिर भी हमारे साथ मरने को तैयार रहती हैं। वे बराबर हमारे साथ सिर खपाती हैं। बहुत-सी तो इतनी ग़रीब हैं कि उन्हें खाने को नहीं रहता। फिर जब काम ठीक-ठीक न होता रहेगा तो बदनामी तो नाम-वालियों की होगी। नेकनामी मिलेगी तब भी हमीं लूटेंगी।

'अच्छा तो आराम से सोओ न।'

दसवें रोज़ जब मेरा बुख़ार उतरा तो मैंने जूस लिया। तभी वे आईं और मुझे पकड़ ले गईं।

आप उनसे बोले—दो-चार रोज़ इन्हें आराम कर लेने दो। फिर ये बीमार पड जायँगी।

स्त्रियाँ—इसके माने यह कि हम भी अपने घर आराम करने जायँ। क्या हमारे घर कोई ब्याह-शादी है?

मै बोली—तुम तो नाराज़ होती हो। मै फिर काम करूँगी। आराम के मारे थोड़े ही जान बचा रही थी। एकाध रोज़ ज़रा आराम कर लेने दो।

स्त्रियाँ—आप जब तक आराम करेगी, तब तक हम भी घर रहेंगी। उन स्त्रियो के साथ तो हम से काम न हो सकेगा।

मै बोली—दया करो। देख तो रही हो। मै चारपाई पर पडी हूँ। आज तो जूस लिया है।

स्त्रियाँ—अच्छा जब आप काम करने जायँ तो हमे बुला लें।

मै बोली—बहनो, रूठो नही। मै सुबह आऊँगी। अभी तो मुझसे चला भी नहीं जा रहा है।

बोलीं—हम आप से रूठती नहीं है। वहाँ हमे लोग कहते है कि ये तनख्वाह पाती हैं। हम कैसे काम करे आप ही बताइए। दिन भर कांग्रेस का काम करती है। रात को बेसन पीसती है, धोई बनाती है, तब हमारा काम चलता है। उस पर जिसे देखिए, वही डॉट बैठता है। अब तो हमने यही सोच लिया कि आप काम न करेगी तो हम घर पर बैठ जायँगी।

मै बोली—बहनो, जब तक मै लखनऊ में हूँ, तब तक मेरी लाज रखना।

उसी समय मै कपड़े पहनकर पैदल उनके साथ चली। क्योंकि सबों के लिए चार ताँगे लगते।

आप बैठे ही थे। आपने देखा। 'मै जा रही हूँ,' यह कहती हुई मैं चली गई। दो ही तीन दिन काम कर पाई थी कि फिर मुझे बुख़ार चढा। मै खुद कपड़े भी नहीं उतार पाई। नौकर ने मेरा जूता खोला। और तीन दिन और तीन रात मुझे बुख़ार चढ़ा रहा। इस पर आप मुझ पर बहुत नाराज़ होने

लगे। बोले—क्या प्राण देने पर उतारू हो? मै सोचता हू तुम ऐसी ही रही तो महीने दो महीने मे मर जाओगी।

मै बोली—आप खुद भी तो देख रहे है। क्या करूँ। कोठरी मे बन्द होना चाहूँ तो भी बन्द नही हो सकती। उस दिन तो आप ने सबकी बातें सुनीं। मै मज़बूर होकर गई। इसके आगे मेरे पास कोई भी दवा नहीं है।

आप बोले—अब महीना-दो-महीना तुम खाट पर पडी रहो। तब तो लोग समझेंगे कि तुम भली नही हो।

मै बोली—बहाना वहां चलता है, जहां लोग जबर्दस्ती काम करवाते है। जो काम अपनी ज़िम्मेदारी समझकर किया जाता है, उससे कैसे मुँह मोड़ूँ?

आप बोले—इसमे ज़िम्मेदारी की क्या बात है? महात्माजी से थोडे ही कोई बढ जायगा। जब वे बीमार होते है तो उनसे कोई नही मिलने पाता।

मै बोली—क्या मैं महात्मा गान्धी हूँ?

आप बोले—आदमी तो हई हो। महात्माजी की ज़रूरत सारे हिन्दुस्तान को है तो तुम्हारी तुम्हारे घरवालो को ही है। अगर तुम न मानोगी तो मै मिलनेवालियो को रोक दूँगा।

मै बोली—यह मेरे साथ अत्याचार होगा।

आप बोले—उसी तरह का अत्याचार होगा, जैसे तुम कलम तोडकर फेंक देती हो। जैसे तुम्हें मेरी ज़रूरत है, वैसे ही मुझे भी तुम्हारी जरूरत है।

इसके बाद मै १०-१२ रोज़ तक पडी रही।

उसी साल अप्रैल मे हम दोनो बनारस आये। उन्होने 'माधुरी' का काम छोड दिया।

महिला-आश्रमः स्त्री और पुरुष

एक बार कांग्रेस की मीटिंग हो रही थी। उसमे काम करनेवाले १४० पुरुष थे, उनमे आप भी थे। स्त्रियां केवल १० थीं। तिस पर पुरुषो की शिकायत थी कि स्त्रियाँ अधिक तादाद मे है।

आप बोले—तो यह भूल है।

मैं—तभी से स्त्रियाँ महिलाश्रम से प्रसन्न नहीं हैं। उनका कहना है कि हम लोग बहुत हैं। थोड़े लोग काम करें। हमारी तकलीफें तो पुरुषों के ध्यान में भी नहीं आतीं। छः महीने हुए, कांग्रेस दफ़्तर ग़ैरकानूनी करार दे दिया गया। तब से सारा बोझ महिलाश्रम पर ही है। अब उनको सोचना चाहिए कि आज स्त्रियाँ न होतीं तो काम कैसे बढ़ता।

'तभी न मैंने कहा कि उनकी भूल थी।'

'आप बताये न, स्त्रियाँ कैसे आगे बढ़ें?'

'अधिकार भी बड़ी मँहगी चीज़ है। बलिदान करो न उसके लिए! दया से कोई चीज़ मिल भी जाय तो अच्छा नहीं और स्थायी भी नहीं होती। अपने पौरुष से ली हुई चीज़ अच्छी होती है।'

मैं—हमको अपाहिज बनानेवाला है कौन?

'इसकी शिकायत तुम न करो। वह समय ही ऐसा था। पहले का रोना रोने से काम नहीं चलेगा। अब सँभलो।'

मैं—उस पुरानी हालत में भी हम-तुम दोनों साथ थे और आज भी साथ देने को तैयार हैं। तब आप कैसे कहते हैं कि माँगने से नहीं मिलता। तुम्हीं अपना बलिदान करो!

तब बोले—जो अब तक स्त्रियों के साथ बराबरी का बर्ताव नहीं बरत पाये हैं, वे इतनी जल्द उदार नहीं हो सकते। आज पुरुष स्त्रियों पर इस बात से बहुत प्रसन्न हैं कि आज स्त्रियाँ मैदान में न आतीं तो कांग्रेस तो ख़तम ही थी।

'तब स्त्रियों के गुरु पुरुष कैसे हुए? स्त्रियाँ भला कब अपने कर्तव्य से विमुख हुईं?'

'जब स्त्रियाँ अपने को पुरुषों से अलग समझने लगेंगी तो याद रखो, संसार भयंकर हो जायगा।'

'तब नाज किस बात पर? जहाँ ही देखिए, पुरुष आगे कदम बढ़ाये रहते हैं।'

'नहीं, वे तुम्हारी दया के पात्र हैं। और तुम लोग उन पर क्रोध मत करो। जिसे तुमने अपने हाथ से बनाया, वह तुम्हारे हाथ से कैसे ख़राब होंगे ?

'इसके माने तो यह हैं कि हत्या के वल खेत खाते हैं।'

'और क्या समझती हो ? जो जितना ही बड़ा होता है, वह उतना ही गंभीर होता है। उसी के ऊपर दुनिया टिकती है। इसी से मनु भगवान ने कहा है—गुरु बाप से एक हज़ार गुना भी अधिक पूज्य है। इसके योग्य क्या सहज ही हो जाओगी ?'

मैं—इसके आगे क्या कहूँ। लड़ाई तो जब है, जब कोई बराबर का लड़नेवाला हो। इसी वास्ते हम अपना सिर झुकाये चले जाती हैं। और घुट-घुटकर मरती भी हैं।

'इसी से तुम लोगों को शक्ति का स्थान मिला है।'

मैं—पुरुषों को भुलावा देना खूब आता है।

'स्त्री-पुरुष का अलगौझा कैसा ? स्त्रियों के अलगाव में तो हम जीवित भी नहीं रह सकते।'

मैं—पुरुष तो पहले ही स्त्रियों पर डण्डा लेकर उठते हैं।

'वह पशुबल है। जिसकी दुनिया में कोई वकत नहीं। देव-दानव में झगड़ा होने पर दानव हमेशा जीतते हैं, क्योंकि वे जायज़-नाजायज़ सब कुछ कर सकते हैं, जहाँ कोई नीति नहीं, कोई धर्म नहीं। उस समय देव हमेशा बैठा रहता है, क्योंकि ओछा वह, जो ओछे के मुँह लगे। इसी वास्ते वह देव हमेशा ही ऊँचा रहेगा। जो दानव है, उससे शिकायत क्या की जाय। इसी तरह स्त्री और पुरुष हैं। पुरुषों को स्त्रियाँ मिटाना नहीं चाहतीं तो खुद नहीं मिटेंगी तो होगा क्या ? मगर हाँ, वे हमेशा पूजनीय हैं। यह उन्हीं के योग्य भी है।

मैंने कहा 'खूब' और वहाँ से उठ आई।

उनके दिल में स्त्री-जाति के प्रति श्रद्धा थी। वे स्त्रियों को पुरुष से बड़ा

समझते थे। अगर मैं गाँव मे रहती और शाम को बाहर बैठना चाहती तो आप बाहर मुझे देखते ही अपने लिये झट दूसरी कुर्सी लाने चले जाते। अगर गर्मी मे शाम को वे छत पर होते और मैं भी जा पड़ती तो आप फौरन दूसरी कुर्सी के लिए नीचे चले जाते। अगर वे खाना खाने बैठते तो पानी ख़ुद ले लेते। मेरे लिए भी गिलास मे पानी रख देते। मेरी आड में जब नौकर न रहता तो अपनी चारपाई बिछाते हुए मेरी भी बिछा देते। अगर मैं घर मे अकेली खाना पकाती होती तो उसी जगह चौके के पास वे रात भर बैठे रहते। जब मैं खाना पका चुकती, तो मुझे लिये हुए वे अपने कमरे मे जाते। मुझे पढ़ने के लिए कोई अच्छी चीज़ देकर तब आप लिखना शुरू करते। खाना खाते हुए मुझे उनके पास बैठना ही पड़ता। चाहे कोई भी पकाता। उनको अकेले खाना अच्छा न लगता था। वे खाते समय काफ़ी गप-शप करते थे। 'लीडर' रोज़ पढ़कर वे मुझे सुनाते। अगर मैं पास न होती तो मुझे बुला लेते। और उसे पढ़कर, हिन्दी मे अनुवाद कर मुझे सुनाते जिसमे मैं अँग्रेज़ी न जानने की चिन्ता न करूँ। इसलिए मैं कभी उर्दू और अँग्रेज़ी न पढ़ लेने के कष्ट का अनुभव न करती। मुझे शहर ही मे अगर कहीं जाना होता, वे मेरे साथ वहाँ तक जाते। दरवाज़े तक मुझे पहुँचाकर वापस आते।

मेरे जेल जाने के पहले की परिस्थिति : लखनऊ।

पहले जब मैं कॉंग्रेस मे काम करने लगी, जुलाई का महीना था। मैं चुपके-चुपके काम करती। मैं क्या काम करती यह घर मे कभी ज़ाहिर न करती। क्योंकि मुझे डर था कि उनको मालूम होने पर वे मेरा घर से बाहर निकलना मुशकिल कर देंगे और बहुत मुमकिन था कि वे जल्दी से जल्दी जेल चले जाते। क्योंकि वह पहले ही से जेल जाने के लिए तैयार थे। जब-जब बाते होती तब-तब यही कहते थे कि अबकी बार मुझे जेल अवश्य जाना है, फिर अब तुम लोगों को खाने की भी कमी नहीं है, और कुछ नहीं होगा

तो मेरी किताबों की रॉयलटी तो मिल ही जायगी। मैं प्रेस मैनेजर को लिखता जाऊँगा तो वह तुमको कम-से-कम सौ तो दे ही देंगे।

मैं बोली—अभी तक तुम्हारी रॉयलटी की सौ कौडी तो मिली नहीं, सौ रुपए तो बहुत बडी चीज है।

'अरे भाई जब तक काम चलता रहता है, तब तक रुपयों की तरफ किसी की निगाह भी तो नहीं जाती।'

मैं कम-से-कम एक दिन में दो मुहल्लों की मीटिङ्ग अटेंड करती थी और भाषण देती थी। पर मैंने अखबारों में अपना नाम देने की रोक लगा दी थी। मैंने इस डर से रोक नहीं लगाई थी कि गवर्नमेंएट मुझे गिरफ्तार करेगी बल्कि इसलिए कि एक दो स्त्रियों में यह वहम हो गया था कि मैं उनसे आगे हूँ और मैं जो काम करती हूँ, उसमें मेरा नाम होता है। मेरी आत्मा इस बात को गवारा नहीं करती थी कि मेरा नाम हो और जो दिन भर मेरे साथ और मुझसे ज्यादा काम करें उनका न हो। इसको मैं पहले से बुरा समझती थी और अब भी समझती हूँ। साथ ही उससे काम की रफ्तार कम होने का खतरा भी था। इसके बदले में मुझको उन स्त्रियों से खास सहानुभूति थी जो कि मेरी चीज थी। और काम, बिना भाव विवेक के बडी तेज़ी के साथ सब करने को तैयार रहती थी। दूसरे मैं उनसे यह छिपाना चाहती थी कि मैं उस आन्दोलन के काम को बढ़ाना चाहती हूँ। मगर उनको इसका हाल कांग्रेस के दफ्तर से मालूम हो जाता था। मैं जब रात को घर लौटती तो बहुत डरते-डरते घर में आती और आते ही घर के कामों में लग जाती। घण्टे दो घण्टे उनके साथ भी गपशप करती। उन्हीं दिनों मुझे हलका-हलका बुख़ार भी रात को हो जाता था। पर मैं बीमारी को छिपाती। इसी तरह हमारा काम चलता था। इस सब का कारण यह था कि मैं उनको जेल न जाने देकर खुद जाना चाहती थी, और आख़िर हुआ भी वही। हालाँकि जब कभी उनको मेरी चालाकी मालूम होती तो वह मेरे ऊपर झुँझलाते, कभी-कभी मुझसे झगडा

भी कर बैठते थे। मैंने जो कुछ काम किया वह देश-सेवा के लिए न कि अपने स्वार्थ के लिए।

हार

अगर वे कहीं जल्से में जाते तो वहाँ जो उन्हें हार वग़ैरह मिलता तो लौटते ही उसे वे मुझे पहना देते। और कहते—लो यह हार।

मैं—यह हार तो जनता की तरफ़ से मिला होने के कारण बड़ा कीमती है। जनता से आपको मिला। आप ने उसे उठाकर दूसरे को दे दिया। यह क्या? यह तो ऐसा लग रहा है कि हार का मूल्य आपने नहीं समझा।

आप बोले—नहीं, उसने मुझे भेंट किया। वह भेंट की हुई चीज़ मेरी हो गई। मै जिसका पुजारी हूँ, उसे मैंने चढा दिया। इसका मूल्य है। अब और भी बढ गया। मैं तुम्हें अपने से कम नहीं समझता।

मैं—मतलब यह कि जनता द्वारा दिया हुआ कर्तव्य का बोझ आपने मेरे सिर डाल दिया। मैं अगर इस बोझ को अपने दुर्बल कन्धों पर न सँभाल सकूँ तो?

'मै तो समझता हूँ कि किसी बोझ को बिना तुम्हारे सहारे के नही उठा सकता। फिर मैं तो तुमसे अलग अपने को समझता ही नही। मै तो यहाँ तक समझता हूँ कि कोई पुरुष बिना स्त्रियों के कुछ भी नहीं कर सकता। जब तक स्त्रियों का हाथ किसी काम मे न लगेगा, तब तक कोई भी काम पूरा नही पड सकता। जब घर-घर की स्त्रियाँ, पुरुष हिन्दुस्तान की तरक्की में लगेगे, तभी कल्याण होगा।'

मै—खुशामद करना हो तो आपको बुला ले। स्त्रियो को तो इस तरह की बातो से और अभिमान हो जायगा।

'मेरा विश्वास है कि चाहे औरों को हो या न हो, पर तुमको तो कतई नहीं हो सकता।'

मै—मै कोई देवी नहीं हूँ। मुझे भी गर्व हो सकता है।

'मुझे मालूम है। तुम्हारे गर्व से कल्याण ही हो सकता है। ऐसा गर्व तो होना ही चाहिए। अगर वैसा गर्व मुल्क भर में हो जाय तो हम आदमी बन जायँगे। जो अपने को बलिदान कर दूसरे का गर्व बढ़ाता है उसका गर्व मान्य है।'

नमक कानून

सन् १९३० की, लखनऊ बात है। महात्मा गान्धी नमक कानून तोड़ने डांडी गये थे। सब शहरों में महात्मा गान्धी की जय की धूम मची हुई थी। उन दिनों हम लोग भी लखनऊ में थे। वह 'माधुरी' का सम्पादन करते थे। अप्रैल का महीना था। मेरे दरवाजे पर अमीनुद्दौला पार्क था। उसी जगह रोज स्वयसेवक आकर नमक बनाते और ऐसा मालूम होता था कि सारा लखनऊ उसी जगह उमड़ा आता था। उन्हीं के साथ-साथ पुलिस मय हथियार के पहुँच जाती थी। कई युवकों को अपने हाथ में कुरते और टोपियाँ पहनाकर नमक बनाने को भेजते। उनको मैं अपने हाथों से हार पहनाती, और जब वह मेरे पैर छूने लगते तो बरबस मेरी आँखों से आँसू ढुलक जाते। मैं भी उसी उमङ्ग में सीने से लगाकर आशीर्वाद देती, बेटा विजयी हो। इसी तरह तीन महीने तक यह काम चलता रहा। इसके बाद हममें और उनमें बातें होती थीं। वह बराबर कहते थे, रानी! मेरे जेल जाने का समय आ गया है। मैं उनको जेल नहीं जाने देना चाहती थी, क्योंकि उनकी सेहत ठीक नहीं थी। मैं सोचती कि अगर यह जेल जायँगे तो इनकी क्या हालत होगी। उसका ख्याल ही मुझे सिहरा देता था। मगर उनके सामने उसका विरोध भी नहीं कर सकती थी, क्योंकि इसमें कायरता थी। सभी के पुत्र और पति और भाई सबके प्यारे होते हैं, तब सभी अपने-अपने को छिपाकर रखना चाहें, तब काम करनेवाले कहाँ से आयेंगे, इसकी चिन्ता मुझे थी। अब मैं स्वयं सोचती कि बच्चे जेल जाने के काबिल थे ही नहीं और इनको जेल जाने देना चाहती नहीं थी, तब सवाल आता कि आखिर जेल जाये तो कौन? उसमें आगे बढ़ना मेरा काम था।

२० जुलाई को स्वरूपरानी नेहरू लखनऊ आई थीं। और उनका भाषण सुनने मैं गई थी। हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े आदमी मेरे ख्याल से सभी जेलों में जा चुके थे। जवाहरलालजी भी जेल मे थे। माता स्वरूपरानी नेहरू के भाषण मे वह जोर था, वह दर्द था, वह गरमी कि जो शायद मुर्दों मे भी जान डाल सकती थी। मुझ जैसी मुर्दादिल को भी कुछ गर्मी मिली और मैंने भी अपने कर्तव्य की तरफ़ क़दम बढाया। माता स्वरूपरानी नेहरू ने स्त्रियो के सामने उनका कर्तव्य बताया, उसमे बहुत सी स्त्रियों ने हस्ताक्षर किये, और उसमे मैंने भी अपना नाम दिया। उसी दिन से मैंने भी काम करना शुरू किया। पहले महिला-आश्रम नही था, उन्हीं दिनो ग्यारह स्त्रियो ने मिलकर महिला-आश्रम कायम किया। सब स्त्रियाँ बारह बजते-बजते आश्रम मे पहुँच जाती थीं, उनमें मैं और मेरी लडकी भी रहती थी। पहले शुरू-शुरू का काम था। स्त्रियों मे काफ़ी घबराहट थी। मुझे भी काफी घबराहट होती थी। मुझे अकेले घर लौटना होता, तब मैं घबराई हुई रास्ते से चलती। पर कही वह मुझे बाज़ार मे देख लेते तो वह मेरे साथ हो लेते। कहते कि तुम इस कदर घबरा क्यो जाती हो? मैं झेप जाती और कहती, मैं क्या करूँ? मेरा अकेले मे जी घबराता है। वह कहते, इसमें घबराने की कौन-सी बात है। तब मैं कहती कि मान लो कोई बदमाश मिल जाय तो क्या होगा। तब वह कहते कि मान लो कोई बदमाश है ही, तो तुम्हारा क्या बिगाड लेगा। तुम चुपके से अपने घर चली आना। तब वह मुझे दरवाज़े तक लौटकर पहुँचा जाते। फिर लौटकर बाज़ार से सामान लेने जाते। इसी तरह दो-ढाई साल तक चलता रहा।

जेल में

सन् १९३१ नवम्बर का महीना था, ११ वीं तारीख। आप तीन दिन पहले ही बनारस गये हुए थे। ८ बजे का समय था। एक बहिन महिला-आश्रम से आई और मुझसे बोली—

चलिए आपको कांग्रेस दफ्तर में बुलाया है। मुझे नहीं मालूम काम क्या है। वहां जाने पर मालूम हुआ कि विदेशी कपड़ों की दुकानों पर हमारे १० स्वयसेवक गिरफ्तार हो चुके हैं, और व्यापारी लोग विदेशी कपड़ों की गांठों पर मोहर नहीं करा रहे हैं। अब आप लोग जाइए तब कहीं उन लोगों में गरमी आयेगी।

मैं ११ बहिनों के साथ एक मोटर पर गई और कुछ बहनों को लौटती मोटर पर आने के लिए बुला गई। वहां जाने पर हमने पिकेटिङ्ग करना शुरू किया और कोई १५, २० मिनट के बाद पुलिस इन्सपेक्टर आया। मुझसे बोला—आपको हम गिरफ्तार कर रहे हैं। मैं बोली—पहले वारन्ट दिखलाओ।

इन्सपेक्टर—वारन्ट की कोई जरूरत नहीं, नये कानून के अनुसार।

मैं अपनी छओं बहिनों से बोली—महात्मा गान्धी की जय के नारे लगाओ। हम लोग गिरफ्तार हो गई हैं। चलिए।

हम लोग महात्मा गान्धी और भारतमाता की जय के नारे लगाते हुए लारी पर बैठ गये। सात बहिनें हम थीं, एक इन्सपेक्टर, ७ कान्स्टेबिल बैठ गये। सब बहिनें राष्ट्रीय गीत गाती हुई चलीं। थोड़ी दूर जाने पर पुलिस इन्सपेक्टर लारी रुकवाकर उतर गया, फिर भी हमारा गाना उसी तरह होता रहा। मुझे ख्याल आया कि मेरी गिरफ्तारी के पहले कोई ५०-६० स्त्रियों को पुलिस शहर से बाहर बीहड़ स्थानों में छोड़ आई थी। जब लारी से इन्सपेक्टर उतर गया, तब मैंने देखा कि मेरी लारी पर जो सिपाही बैठे थे, उनकी आंखों में आंसू थे। मेरा ख्याल है कि उनके दिल के अन्दर दर्द भी था। मुझसे बोले—माताजी, यहां हमको बाईस-बाईस रुपये मिलते हैं, अगर हमको बाहर दूसरा कोई १०) भी देता तो हम इस पाप की नौकरी को कभी छोड़ देते।

मैं बोली—बेटा इसकी कोई बात नहीं है, जब तक तुम नौकरी करते हो, तब तक तुम्हारा यह कर्तव्य हो जाता है कि ईमानदारी के साथ अपना कर्तव्य करो, क्योंकि एक तरह की यह भी बेईमानी है कि तुम हमारे साथ

रियायत करो। जैसे हम अपने नेता की बात मानकर जेल जाते है, उसी तरह तुम्हारा भी कर्तव्य है। तुम लोग यह ज़रूर करना कि हम लोगो को कही बाहर न छोड़कर जेल मे ही छोडना।

सिपाही आँखो में आँसू भरकर बोला—माताजी ! यदि आप लोग इतनी उदार न होतीं तो जेल ही क्यो जाती, हम आपको जेल मे ही ले जाकर छोडेगे। दुख तो इस बात का है कि जिन माताओ और वहनो की हमें पूजा करनी चाहिए थी, उन्हीं को आज इस पापी पेट के लिए जेल लिये जा रहे है।

मै बोली—बेटा ! तुम लोगो को ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह हमें अपना कर्तव्य करने के लिए शक्ति दे। तुम अब भी मेरे बेटे हो और मै तुम्हारी मा हूँ। हाँ रास्ते दोनो के अलग-अलग है।

यही कहते-कहते हम जेल के फाटक के पास पहुँच गये। वहाँ इन्सपेक्टर पहले ही से मौजूद था। सिपाही लोग भी आँखो से आँसू पोछते हुए लारी से उतरे और हम सात स्त्रियाँ भी लारी से उतरी।

जेल के दफ़्तर मे गईं। वहीं सबसे नाम-गाँव पूछा गया। जेलर ने सबकें नाम-गाँव लिखने के बाद, जिन बहिनो के पास जेवरात थे, उनको उतरवा-कर रखवा लिया और हम बहिनो को जेल मे ले जाने के लिए, जमादारिन से कहा। मै जेलर साहब से बोली—आप कांग्रेस दफ़्तर मे फोन करा दीजिए कि हम लोग जेल के अन्दर आ गई है।

जेलर ने कहा—बहुत अच्छा, मै किये देता हूँ।

मै—धन्यवाद।

जेल के अन्दर जब मै गई तब दोपहर के दो बजे थे। जेल मे बहिनों को हमारे आने की पहले ही से ख़बर मिल चुकी थी, वह हमारे स्वागत के लिए आँचलो मे फूल भरे, हाथो मे माला लिये पहले ही से खडी थीं। हम,जैसे ही पहुँचे वैसे ही वे गले मे माला डालकर, फूल बरसाकर इस तरह मिली, मानो मुद्दतो से विछुडी हुई परिचित बहने मिली हो। थोडी देर मे

वहाँ ख़ासी भीड इकट्ठा हो गई। वह थोडी ही देर में देश की सारी बातें सुन लेना चाहती थी। इसी तरह बाहर की बातें बताते-बताते ५ बज गये। ५ बजने के बाद कोई चार-पाँच सौ आदमी और मेरी लडकी और बच्चे भी पहुँचे। फिर मै दफ्तर मे बुलाई गई। हम सब बहिने फाटक पर आई। मेरे घर से कपडे वगैरह और मेरी रोज की ज़रूरी चीज़े लेकर आये थे। मेरा छोटा बच्चा ९ साल और कुछ महीने का था। स्कूल जाते समय वह मुझसे कहकर जाता कि अम्माँ तुम बाहर कांग्रेस का काम करने न जाना, नहीं तो गिरफ्तार हो जाओगी। तुम घर पर नहीं रहतीं तो घर अच्छा नही लगता। रोजाना तो मै उसको उपदेश देती थी कि मान लो मैं गिरफ्तार हो गई तो तुम क्या करोगे। क्या मुझसे माफी मँगवाओगे? तब वह नन्हीं-नन्ही दोनो बाहें गले मे डालकर और मेरे सीने मे मुँह छिपाकर कहता, नहीं अम्माँ माफी नहीं मँगवाऊँगा। आज उसी को अपने सामने देखकर मै ख़ुद रो पडी। आंसुओं को छिपाती मेरी आखें बच्चो के सामने न उठती थी। डर यह था कि मेरे छिपे हुए आंसू मेरे बच्चे देख न ले। एक बहिन मेरे बच्चो के साथ मिलने को गई थी। उन बहिन को मैने अपने बच्चों को सौंपा 'जब तक मेरे पतिजी न आ जायँ, तब तक आप इन्ही के पास रहियेगा।' उस वक्त अपने बच्चो को दूसरों के हाथों में सौंपते हुए जो दर्द मेरे दिल के अन्दर उठा, उसको बहुत-बहुत कोशिश करते हुए भी छिपा नही पाती थी। आज भी मै उस दर्द को महसूस करती हूँ अपने पति की मृत्यु पर और अपने जीवित रहने पर। क्या उनको हम लोगों को छोडते समय कम दर्द रहा होगा? मगर नहीं, समय सबको सब तरफ नचाता है और इन्सान विवश होकर रहता है, और उसी मे ग़ोते खाता रह जाता है। सब दर्दों को भुलाते हुए भी मनुष्य उन्हें भुला नही पाता है। यह मेरी ही नही सभी मनुष्यो की कमज़ोरी है। अब भी मै उन सब बातों को याद करती हूँ तो आंखो मे आँसू छलछला आते हैं।

दूसरे दिन मेरे पति घर आये। उनको पहिले ही मेरे जेल जाने की

खबर मिल चुकी थी, वह मुझसे मिलने जेल मे आये। मै दफ्तर में बुलाई गई। आप फाटक पर खड़े थे। मुझे देखते ही उनकी आँखें भर आई। 'अच्छा तुम जेल मे आ गई ?'

मैने कहा—'हाँ मै तो आ गई हूँ। कहिए आप तो अच्छे थे ?' आप बोले हाँ—'मै अच्छा हूँ, तुम अपनी कहो, तुम कैसी हो ?' मै ख़ुद अपना खुशी का चेहरा बनाती हुई बोली—हाँ मै तो अच्छी हूँ। यहाँ हमारे जेलर काफी आराम दे रहे है। मुझे कोई कष्ट नहीं है।' उसके बाद वह मुझसे मिले। मैने उनको घर की बाते बतलाई और कहा कि अच्छी तरह से रहिएगा। बच्चो का ख्याल रखिएगा।

इन सब बातो के बाद वह अपनी स्वाभाविक हँसी मे हँसकर बोले—तुम तो इधर कैद हुई, उधर मुझे भी बन्दी बना दिया।

मुझे उनकी बनारस की बात याद आई, जो उन्होने प्रेस के विषय मे कही थी कि हम तुम दोनो एक नाव के यात्री है, हमारा तुम्हारा ध्येय अलग नहीं हो सकता। मै बोली—इसका निर्णय तो आप सात साल पहले ही कर चुके है। फिर आप बोले—अच्छा उसी को तुमने पूरा किया है ?

मै बोली—पूरा तो नही किया, हाँ पूरा करने की कोशिश करती हूँ। मगर मै तुम्हारे बग़ैर अकेली कैसे कर सकती हूँ ? मै घर पर रहती तो शायद सारा घर चौपट हो जाता। मै वहाँ भी आराम करती थी, आप की कृपा से यहाँ भी आराम ही है। घर पर तो बहुत काम है। यहां तो मै आराम से हूँ।

इसी तरह छ: बार वह मुझसे मिलने गये, मगर मै देखती थी, कि वह मुझे जेल मे देखकर खुश न थे। मै देखती थी कि वह मुझे देख आँखों में आँसू भरे रहते थे। जिस समय मै छूटनेवाली थी, मुझे उस तारीख के एक दिन पहले ही छोड़ दिया गया। छूटकर मै अकेली ही घर पहुँची। उस समय आप दफ़्तर में थे। जब वह शाम को घर आये तो मुझे देखकर मुस्करा दिये। मैने उठकर उनके पैर छूए, मुझे उठाकर सीने से लगाते हुए उनकी आँखें

सजल हो गई । मुझसे बोले—'क्या तुम बीमार थीं ?' गला तो मेरा भी भर आया था। मै बोली, मै तो काफी अच्छी हूँ। आप बीमार थे क्या ? आप बोले, 'मै बीमार क्यों होने लगा। मै तो घर में आराम से बैठा था, मुझे तो बीमार होने को कोई वजह ही नहीं थी।'

हमारी छोटी भावज, बच्चे आदि बैठे ही थे। मेरी छोटी भावज बोली—आप कहते है कि मैं आराम से बैठा था। जिस दिन से आप जेल गईं, उस दिन से कभी आपके चेहरे पर किसी ने हँसी तक तो देखी नहीं। आप झेंपते हुए बोले—'आप भी खूब है।' मेरी भावज बोली—'मै झूठ नही बोलती, मै तो सच कह रही हूँ।' इसमे सब बच्चों ने मिलकर हाँ में हाँ मिलाई।

मेरी भावज उठकर फल और मेवे ले आई। सब लोग खाते जाते थे और मेरी ग़ैरहाज़िरी में जो जो बातें हुई थी, मुझसे बतलाते जाते थे। ऐसा मालूम होता था कि घर में नया जीवन आ गया है। मगर एक दूसरे की तन्दुरुस्ती की तरफ देखते हुए हम दोनों खुश न थे, क्योंकि ७ पौंड मेरा वजन घटा था और १४ पौंड उनका। रात को जब सब लोग हट गये तब मैने पूछा कि आखिर आपकी हालत क्या है।

'कुछ नहीं अच्छा तो हूं,' आप बोले।

मै बोली—अच्छे तो नही है, जैसा मै छोड गई थी वैसे भी नहीं है।

आप बोले—वैसा कैसे रह सकता था ? तुम उधर जेल मे थीं, इधर मै जेल का अनुभव कर रहा था।

मै बोली—जिस डर को मै कई महीने पहले आपसे छिपाने की कोशिश करती थी, अब देखती हूँ कि वह आपने घर बैठे ही पूरा दिया। यह मेरे साथ क्या तुमने अन्याय नही किया ?

आप बोले—चाहे मैने न्याय किया, चाहे अन्याय, मगर इन्सान तो इन्सान ही रहेगा, वह कैसे अपनी तबियत को बदल देगा ? मै तुम्हारी बातों में आ जाता था। मगर तुम मुझसे छिपा-छिपाकर काम करती थी, क्या तुमने यह पाप नही किया ? तुम कौन हट्टी-कट्टी थी, दायमुल मरीज ! यह

कहो कि तुम ख़ैरियत से जेल से लौट आईं। मुझे तो रात-दिन यही चिन्ता रहती थी कि शायद तुम्हारी लाश ही जेल से निकलेगी। तुमको याद है कि नही जब तुम्हारे जेल जाने के पहले मैंने तुम्हारा नाम वर्किंग कमेटी मे देखा था, तभी मुझे मालूम हो गया था कि तुम जेल जाने को तैयार हो। बल्कि मैंने मोहनलाल सक्सेना से जाकर कहा था कि इनका नाम आपने व्यर्थ दिया है। तब उन्होंने अपनी मजबूरी जाहिर करते हुए कहा कि मैं क्या करूँ साहब। इनको स्त्रियो ने चुना। उस समय तुमने कहा था कि मै जेल जाने के लिए तैयार नहीं हूँ। मै तो बहुत बचकर रहूँगी। जब जेल जाने की बारी आई, तब मै घर पर भी मौजूद नहीं। तुम पहले ही से जेल मे कूद पड़ीं।

मै बोली—७०० स्त्रियो का लोभ भी तो नहीं छोड़ा जा सकता। मै भी मजबूर थी।

वह बोले—क्या यह तुम्हारी चोरी नहीं है ? जहाँ-जहाँ काम होता था, पुलिस की लारी तुम्हारे साथ घूमती थी। और तुम मुझे हमेशा बहाना दे करके निकल जाती थीं। यहाँ तक तुमने रोक दिया था कि तुम्हारा नाम तक अख़बारो मे न जाय। क्या यह धोका नहीं था ?

मै बोली—मै डरती थी कि आप मुझे रोक देंगे और खुद जायँगे। इसको धोका भी कहा जा सकता है और पाप भी हो सकता है। मगर मै मजबूर थी, मेरे दिल के अन्दर एक प्रकार की बेचैनी रहती थीं कि आख़िर मेरे घर से जेल कौन जाय, और जाना चाहिए ही था। बच्चे इस काबिल होते तो मै पहले ही उनको भेजती। आपकी भी तो तन्दुरुस्ती अच्छी न थी कि आप जायँ।

आप बोले—तुम जेल गईं तो मै अच्छा हूँ न ?

'अच्छा-बुरा तो वही होता है जो ईश्वर चाहता है।'

आप बोले—तो फिर पहले ही से ईश्वर पर क्यो न रहीं ?

'पहले ईश्वर पर इसलिए नहीं रही कि तकदीर और तदबीर दोनो साथ-साथ चलते है।'

आप बोले—ख़ैर ठीक है।

मैं बोली—हाँ जो कुछ हो, सभी ठीक है।

उस दिन रात के दो-ढाई बजे तक इसी तरह की बातें होती रहीं।

× × ×

जब मै जेल से लौटी, और दूसरे दिन उनके कमरे में गई, तो वहाँ मैंने देखा कि मेरा फोटो लगा है और उसको एक चन्दन की माला और एक फूल की माला पहनाई गयी है।

मै बोली—यहाँ आपने मेरा फोटो क्यो लगाया ? यहाँ लोग आते जाते है, यहाँ क्यो लगा दिया ? इसको यहाँ नहीं लगाना चाहिए था, क्योंकि यहाँ हर तरह के लोग मिलने-जुलने आते है। यह अच्छा नहीं मालूम होता, इसे मुझे उतारकर दे दीजिए।

आप हँसकर बोले—यह क्या हटाने के लिए लगाया है ?

मैं बोली—यह अच्छा नहीं लगता साहब, कोई देख लेगा।

'तो क्या मैने उसको छिपाकर रखा है ? देखने के लिए तो है ही।'

मैं बोली—यह तो एक तरह से मुझे शर्म मालूम होती है।

'न मालूम तुम्हें क्यो शर्म मालूम होती है, मुझे तो कोई शर्म नहीं मालूम होती। तुम्हारे कमरे में मेरा फोटो भी तो लगा है। तो मेरे ही कमरे में तुम्हारी फ़ोटो तुम्हें क्यों बुरी लगती है ?'

मैं बोली—मर्दों के कमरो में औरतो के फोटो अच्छे नहीं लगते।

'इसमें बुरा लगने की कोई बात नहीं है। तो तुम्हारी फोटो कहाँ लगे, कि तुमको बुरी न लगे, अच्छी लगे, और तुमको शर्म भी न लगे ?'

मै बोली—मेरा फोटो मेरे कमरे में रहे। मेरा भाई लगावे, मेरे बेटे लगावें तो मुझे बुरा न लगेगा।'

आप बोले—मै तो समझता हूँ कि तुम्हारा फोटो लगाने का सबसे ज़्यादा अधिकार मुझे है। ख़ैर यह जो दो नाम तुमने लगाये, यह तो कुछ

नहीं, मगर मेरी उमर का कोई दूसरा पुरुष तुम्हारा फ़ोटो लगावे और उसकी उपासना करे, तो शायद मै उसका जानी दुश्मन हो जाऊँ।

मै बोली—इसमें उपासक होने की कौन-सी बात है? आप अपने मित्रों के फ़ोटो नहीं लगाते हैं?

आप बोले—मित्रो का फोटो तो मै लगा सकता हूँ, मगर मित्रों की बीबी का फोटो लगाने का मुझे कोई हक नहीं है। एक मा, बेटी, बहन छोड़कर।

'इसी मेल के शायद तीसरे लोग भी हो सकते है।'

'तुम खुद सोच सकती हो कि तुम्हारी तरह की किसी दूसरी औरत की फोटो मैं अपने कमरे में लगा लूँ तो क्या तुमको बुरा नहीं लगेगा?'

मै बोली—मै तो समझूँगी कि मा-बहिन समझकर लगाया होगा, मैं तो कभी भूल से भी ख्याल नही करूँगी।

आप बोले—तुम दो हो सकती हो। या तो तुम बिलकुल बेवकूफ हो, या पागल, या तो तीसरी बात सोचने की तुममे शक्ति ही नहीं है।

मै बोली—अच्छा साहब, मै पागल हूँ, बेवकूफ हूँ, सब कुछ हूँ। मेरा फ़ोटो मुझे उतारकर दे दीजिए, यह मुझे अच्छा नहीं लगता।

आप बोले—फोटो तो मैने लगाया है, उतारने के लिए नही। या तो तुम भी हमारा फोटो उतारकर दे दो।

मै खीझकर बोली—जाओ जी, जाकर हँसी कराओ, मुझे क्या करना है। जो लोग आएँगे, आपसे मज़ाक करेंगे, मै क्या सुनने को बैठी रहूँगी?

आप बोले—तुम्हारी बला से, मै ऐसा नाज़ुक नहीं हूँ कि इन सबों से डरूँगा, और न मै ऐसा हूँ कि मज़ाक़ नहीं कर सकता। तुम इसकी फिकर छोड़ दो। मज़ाक से तुम्हारी ही नानी मरती है, मेरी नहीं।

मै बोली—मर्दों को मज़ाक क्यो बुरी लगने लगी, हम औरतों को मज़ाक़ बुरी लगती है। मै देखता हूँ कि मज़ाक से सबसे ज़्यादा तुम्हारी नानी मरती है।

मैं खीझकर वहा से चली आई।

सन् '३१ : 'सी-क्लास' आन्दोलन

नमक कानून तोड़ा जा रहा था। कइयों को आपने अपने पैसों से खादी का कुर्त्ता, टोपी, धोती पहनाकर मेरे हाथ से उसके गले में हार पहनवाकर लखनऊ के गूँगे नवाव के पार्क में भेजा। भेजते हुए कहते थे—जाओ बहादुरो, नमक-कानून तोड़ो। मैं भी जल्दी पहुँचता हूँ। उन लोगों को हार पहनाते हुए मेरी आँखों में आँसू आ जाते। कभी-कभी वहाँ मार भी पड़ जाती। उस समय का वह दृश्य आज भी आँखों में आँसू ला देता है। आप भी कई वार चलने को तैयार हुए। पर मेरे अनुरोध को वे टालते नहीं थे। जव-जव भी जेल जाने का प्रस्ताव आता, मैं स्वीकार न करती। उनकी तन्दुरुस्ती सालों से गिरी हुई थी। फिर भी उनका दिल विलकुल युवा का-सा था। मुझे यही लगता कि जेल में इनकी तन्दुरुस्ती बहुत ख़राव हो जायगी। उनकी यह वातें सुनकर मैं आगे निकली। उन्हें जेल में मैं नहीं देख सकती थी।

एक दिन की वात है—मैं महिलाश्रम गई थी, वहाँ वहुत-सी वहनों ने सलाह करके मुझे कप्तानी का पद दे दिया। मैं क्या करती। ७०० स्त्रियों का आग्रह कैसे टालती। मैंने उन्हें धन्यवाद दिया। उसी समय वावू मोहनलाल सक्सेना ने मुझे वर्किङ्ग-कमेटी का मेम्वर भी वनाया। वहाँ पर जो भी कार-रवाइयाँ हुईं, उन्हें अंग्रेज़ी मे उन्हें नोट किया। मेरे साथ जो वालटियर मेरे घर पर पहुँचाने आया, उसी के द्वारा वावूजी को लिखा कि इसे उर्दू और हिन्दी में तर्जुमा करने का अधिकार है आपको।

वह आदमी लौट गया तो आप मेरे पास आये और वोले—तुमको मालूम है, यह कप्तानगिरी तथा वर्किंग-कमेटी की मेम्वरी तुम्हें जेल ले जायगी।

मैं—मेरा कुछ बस नहीं उन लोगों के सामने चलता था। वे दूसरों को पसन्द ही नही करती थी। फिर वे कोई नौकर नहीं। जो अपनी जिम्मेदारी अधिक समझता है, उसे उतना भार दिया ही जाता है और उसे लेना भी चाहिए। और भाई, दो में एक को तो करना ही पड़ेगा।

आप बोले—मै भी अब जेल जाने की तैयारी में हूँ।

मै—मै कहाँ जेल पहुँच रही हूँ।

मुझसे इतनी बातें करने के उपरान्त आप कांग्रेस-आफ़िस जाकर मोहनलाल सक्सेना से बोले—भाई, यह तुमने क्या किया? जिन्हें तुमने कप्तान और वर्किंग-कमेटी का मेम्बर बनाया है, वह अगर जेल गईं तो उनकी महज़ लाश बचेगी। वे हमेशा अपनी ताकत के बाद काम करती आई है।

सक्सेना—उन्हें तो स्त्रियो ने चुना है। मेरा क्या बस था? हाँ, वे उतनी स्त्रियो का आग्रह टाल न सकीं।

जब मै जेल गई तो आप घर पर न थे। दूसरे दिन पहुँचे। घर पर मेरी लडकी, दोनो बच्चे तथा नौकर थे। दूसरे दिन सबको साथ लेकर जेल मे मेरे पास पहुँचे, उनकी ऑखे ऑसुओ से भरी थीं।

मैने उनसे कहा—मै बड़े आराम से हूँ।

उन्होने कहा—ठीक है।

जब-जब मिलने के लिए वे जेल गये, तब-तब उनकी यही हालत रही। कई मित्रो की बधाइयाँ आईं, तार आये। कई मित्र सामने बधाई देते हुए बोले—भाई, आप ख़ूब रहे। बीबी जेल मे और आप बधाई लेने घर बैठे।

'मैने तो अपनी सबसे अमूल्य चीज़ भेट की है।'

जब तक मै जेल मे थी, प्रति सप्ताह वे इतनी चीज़े यह समझकर भेजते थे कि सबके काम आये। जब मै छूटकर आई तो मालूम हुआ कि वे तभी से न हँसे, भरपेट शायद खाना भी न खाया। वज़न तो ड्योढा मुझसे उनका घटा। उन्हीं दिनो सी० क्लास के कैदियो पर मार पड़ती थी, भरपेट खाना नही मिलता था, न कम्बल ओढने-बिछाने को मिलता था। इसका घोर दुःख मुझे था। एक दिन मैं अपने घर मे इसका ज़िक्र कर रही थी कि कितना बड़ा अन्याय है। ए० बी० वाले तो सब सुविधाएँ पावें और सी० क्लास के बेचारे वालंटियर को इतने दुःख। मेरी समझ मे नहीं आता, ये

ए० बी० वाले कैसे इसे तोड नही डालते। वहाँ पर भी ज्यों-के-त्यों रईस। मेरी समझ में इस रईसी से द्वेष फैलेगा।

आप बोले—इसी रईसी ने ही तो हिन्दुस्तान को ग़ारत किया है।

मैं—इसका आंदोलन करने का मेरा निश्चय है।

आप बोले—इस बार मुझे जाने दो।

मै उन सी० क्लास की कैदियों की हालत से सिहर उठी। और बाबूजी से बोली कि आप इसी में चले जायँगे। एक आदमी के किये क्या होगा। बहुत ज़ोरों का आन्दोलन चाहिए। लेकिन इसके लिए कांग्रेस-दफ्तर तैयार नहीं है। मै इस विषय में कांग्रेसवालों से बातें कर चुकी हूँ। मैं कौंसिल के सामने जुलूस लेकर जाना चाहती थी। लेकिन कांग्रेसवाले कहते हैं कि हज-रतगंज में दो बार गोलियाँ चल चुकी हैं। आन्दोलन करने का अभी मौका नहीं है। मैंने वहाँ तो कहा, लेकिन आपसे मै पहले न कह सकी। उसके दो ही तीन दिन बाद हम ७५० स्त्रियाँ इकट्ठा हुईं, उनमे लीड करनेवाली केवल चार स्त्रियाँ थी। जुलूस के दिन गोली-डण्डों के भय से मैंने अपने घर में ख़बर तक न दी। जब हमारा जुलूस हज़रतगंज पहुँचा तो एक तरफ पब्लिक थी, दूसरी तरफ़ पुलिस। बीच में स्त्रियों का लम्बा जुलूस। वहाँ जब हमारा जुलूस पहुँचा तो लोग एसेंबली बन्दकर अपने-अपने घर भाग गये। हम लोगों ने ज़ोरों से कहा कि आप आज भले बन्द कर दें। देखें कब तक बन्द रहती है। हम कल फिर आयेंगे। आपको जिस तरह तैयार होना हो, तैयार रहें। सुबह फिर हम लोग वैसे ही जुलूस बनाकर चले। हम लोगों के रास्ते में ४०० कांस्टेबिल हाथ मे हथियार लिये और ४ लारियाँ वहाँ खड़ी थीं। इसका पता आपको 'माधुरी' आफिस में लगा। वहाँ से दस-पांच को लेकर आप हम लोगों को देखने आये। पर करते क्या? वहाँ तो पुलीस के दल ने जुलूस को रोक दिया था। मेरी राय यह हुई कि ९-९ स्त्रियाँ जत्था बनाकर चलें। पहले जत्थे में मैं भी रही। मोहनलाल सक्सेना बोले—आप तो अभी लौटी हैं, आप पीछे ही रहें। मैं बोली—यह मेरी मर्यादा के बाहर की बात है।

नीचे ज़मीन जलती थी, ऊपर सूर्य तप रहा था। बहुत देर खड़े रहने के बाद होम-मेम्बर छतारी ने पूछा—आपका मंशा क्या है?

'सी० क्लास के कैदियो के साथ आदमियत का व्यवहार किया जाय। पशुओ का-सा नहीं।'

छतारी—अच्छी बात है।

'अगर आप न कर सके, तो साफ़ कहिए। हमने तै किया है कि एसेंबली अगर इस सवाल को अपने हाथ मे नहीं लेती तो उसे तोड़ देना चाहिए।'

'आप कल पता ले लें। इसका इन्तज़ाम फौरन किया जायगा।'

'कल ही सही।'

हमारा जुलूस किसी तरह वापस आया। आप भी थे। मै महिलाश्रम गई, क्योंकि शाम को पब्लिक-मीटिंग थी। कांग्रेस का स्टेज गैरकानूनी करार दे दिया गया था। मुझसे उनसे मुलाकात भी नहीं हुई। मीटिंग अमीनाबाद पार्क मे थी। १२,००० पब्लिक थी। कई पुरुषों के भाषण हुए। मेरा भी नाम ऐलान किया गया। मेरा नाम सुनते ही आप दहल गये। मैं स्टेज पर आई। और करती ही क्या। मैने भाषण बहुत गरम दिया। उन भाषणों का असर इतना हुआ कि पचासो के करीब स्वयंसेवक अपने नाम लिखाने को तुरंत तैयार हो गये। जब मै बाहर निकली तो आप मुझसे मिले और बोले—मनाओ ख़ुदा को कि ख़ैर हुई। नहीं तो तुम अब तक सेंट्रल जेल या अस्पताल में होतीं। तुमको मालूम नहीं कि कांग्रेस गैर-कानूनी क़रार दे दी गई।

'मुझे मालूम क्यों नही था।'

'मालूम होते हुए आग उगल रही थी?'

मैं—मै क्या करती। जब बोलने खडी हुई तो चुप रहती? जब मरना ही है तो कुछ कर जाना चाहिए था।'

'तुम मुझे हमेशा धोखा देती रहती हो। जब-जब मै तैयार होता हूँ, तुम पहले ही तैयार हो जाती हो। और मै रुक जाता हूँ।'

'दो में एक ही आदमी तो जा सकता है। हम इतने मालदार नहीं कि हमारे बच्चे हमारे बिना ही सुखी रह सकेंगे। फिर आप साहित्य के ज़रिये तो अपना काम कर ही रहे हैं। ख़ामोश थोड़े ही बैठे हैं। मैं घर में बैठी-बैठी क्या करूँ। आप घर में बैठकर और ज़रूरी काम कर रहे हैं। सब यश आप ही ले लेंगे ?

'जब कभी जस बँटने लगेगा तो सब मैं तुम्हें दे दूँगा।'

मैं बोली—बड़े दानी आप रहे। ऐसा दिल तो स्त्रियों को मिला है कि काम करके छिप जाती हैं। बच्चे हमें हों, तकलीफ हम भोगें। नाम आपका हो।'

हम दोनों में इस तरह के विनोद चलते रहते थे।

× × ×

म्युनिसिपैलिटी से रंडियों के निकाले जाने का प्रस्ताव पास हो चुका था। मैं सोचने लगी कि आख़िर ये जायेंगी कहाँ और इनका पेशा क्या होगा ? ये ऐसी घृणास्पद हैं कि दुनिया में रहने के लिए इनको जगह नहीं है। आख़िर ये हमारी ही बीच की तो हैं। मैं इन्हीं चिन्ताओं में मशगूल थी। पाप करने में क्या इन्हीं का हिस्सा होता है ? पुरुष-समाज क्या इससे बाहर है ? यह अत्याचार तो उन्हीं लोगों की प्रेरणा का फल है। आप उसी समय मेरे कमरे में आये और मुझे उदास देखकर बोले—कैसी तबियत है ?

मैं बोली—स्त्रियों की तबियत होती ही क्या है ?

बोले—आख़िर बात क्या है ?

मैं बोली—पूछकर क्या कीजिएगा ? ईश्वर ने पुरुषों को स्त्रियों की ज़िम्मेदारी दी है। वे चाहे जो कर सकते हैं। मेरी समझ में बिलकुल नहीं आता कि परमात्मा स्त्रियों को क्यों जन्म देता है। दुनिया में आकर वे क्या सुख उठाती हैं, मेरी समझ में नहीं आता। शायद पुरुषों के पैरों तले रौंदी जाने के लिए ही वे संसार में आती हैं। और हमेशा उन्हीं सबकी वे सेवा भी करती हैं। अगर मेरा वश होता तो मैं स्त्री मात्र को संसार से अलग कर देती। न रहता बाँस, न बाजती बाँसुरी।

आप ज़ोर से हँसते हुए बोले—आख़िर बात क्या है ?

उसी जगह अख़बार था। उनके सामने कर दिया। बोली—देखिए अपने लोगों की करामात।

आप उसको पढकर कुछ गम्भीर हो गये। बोले—रानी, यह न तुम्हारे वश की बात है, न मेरे। और इन बातो मे रखा ही क्या है ? व्यर्थ में तुम खुद दुःखी होती हो। और उसका दोष मुझ पर देने लगती हो। तुम यह जानती हो कि मेरे वश मे यह सब कुछ नहीं है।

मै बोली—आप इस पर लिख और बोल तो सकते ही है। यह क्या कि जो बात बुरी लगे, उसे वैसा मानकर बैठ जाय।

आप बोले—लिखने के मामले मे तो मै कभी पीछे नहीं रहा हूँ। इन्ही की गुत्थियाँ सुलझाने के लिए मैने सेवा-सदन लिखा। और भी कहानियाँ और लेख मैने लिखे है। अमल करना न करना तो उन लोगो के हाथ में है। तुम सारा का सारा दोष मेरे सिर मढ देती हो। खुद परेशान होती हो और मेरे ऊपर बिगडती हो।

मैने पूछा—कोई उपाय हो तो बतलाइए। यह बात सुनकर मेरा चित्त बहुत उद्विग्न हो उठा है।

आप बोले—जब तक हिन्दुस्तान आज़ाद नहीं होता, तब तक इनकी गुत्थियाँ नहीं सुलझ सकतीं या तो फिर कोई बडा महात्मा पैदा हो कि जो इन गुत्थियो को सुलझा दे। सदियों से बिगडा हुआ ज़माना इतनी जल्दी कैसे सुधर जायगा।

मै बोली—पुरुषवर्ग यह क्यो समझता है कि दुनिया मे उन्हीं लोगों के रहने की जगह है। उन लोगो को पहले वे ही लोग घर से निकाल लाते है। वे लोग उन्हीं लोगो के ख़राब करने की वजह से ख़राब होती है। फिर आख़िर वे दुनिया से कहाँ जायँ ? मरने पर भी तो छुटकारा नहीं।

आपने कहा—मालूम होता है मैने यह हालत बना रखी है ?

मै बोली—मुझे तुम पर गुस्सा नहीं आ रहा है। मुझे गुस्सा आ रहा

दुनिया की अनीति पर और आप पर तो इसलिए बिगड रही हूँ कि आप इसे सुनकर कोई उद्योग करें।

आप बोले—तुम विश्वास मानो यह मेरे वश के बाहर की बात है। समाज से लडने के लिए स्त्रियाँ जितनी विवश हैं, उससे कम विवश पुरुष नहीं हैं। अपना वश ही नहीं है तो क्या किया जाय।

मैं बोली—गान्धी जी भी इस पर कभी कुछ नहीं लिखते।

आप बोले—जिन विषयों पर बोलते हैं उन्हीं को कहाँ लोग मान लेते हैं?

मैं बोली—अब तो शायद वे ही इन अभागिनों का कुछ उपकार कर सकें।

मेरे कहने पर वे हँसने लगे। मुझे और भी क्रोध आया। मैंने कहा, आप हँसते क्यों हैं। मुझे बेचारियों पर दया आ रही है और आप हँसते हैं।

आप बोले—लाचारी की बात है। ज़्यादा सिर खपाना ठीक नहीं।

मैं बोली—ऐसे समाज को तो खत्म कर देना चाहिए। मालूम नहीं भगवान् है कि नहीं? है तो ऐसे अत्याचार कैसे देखता है? और फिर वह भी तो शायद पुरुष ही है।

आप बोले—इसी लिए मैं कहता हूँ कि स्त्रियों के साथ भगवान् ने भी अत्याचार किया है। जो भी कठिनाई के काम थे, वे तुम लोगों के जिम्मे कर दिये। और तब भी सबसे ज्यादा तुम्हीं लोग ईश्वर के चक्कर में पडी रहती हो। तभी न कहता हूँ, नास्तिक हो जाओ।

मैंने कहा—जले पर नमक मत छिडको।

आप बोले—तुम तो पागल हो गई हो।

'तो ये कायदे-क़ानून ईश्वर ने थोडे ही बनाये हैं। आप ही लोगों के बनाये हैं।'

आप बोले—यह सब तो होता ही रहेगा।

बोली—यह बहुत पुरानी बात है, कुछ आज की नहीं।

आप बोले—बहुत दिनों से हो रहा है, बहुत दिनों तक होता भी रहेगा।

हम लोगों के मान का यह नहीं। फिर भी मै कहता हूँ ये रंडियाँ हिन्दुओं के माथे पर कलङ्क-स्वरूप है ?

'न मालूम ये बातें कैसे आई ।'

आप बोले—रामायण में तुलसीदास ने भी तुम लोगो पर आक्षेप किया है। उन्हें क्यो नह कोसती ?

मै बोली—तो उनका यश ही कहाँ गाती हूँ। फिर तुलसीदास को वैसा स्त्री ने ही बनाया। तुलसीदास ने क्रोध मे आकर वैसा लिखा है। स्त्रियो के प्रति किसी ने न्याय नहीं किया है।

आप बोले—होगा कोई बिरला ही महात्मा।

मै बोली—जाने कब कौन होगा ! शायद इस युग में कुछ सुधार हो।

आप बोले—गान्धी-युग मे भी इसका सुधार न हुआ तो फिर सौ वर्ष के लिए इसे गया ही समझो।

मै बोली—कौन जाने कैसी हालत होगी, बुरी या भली ?

आप बोले—हालत तो अच्छी होनी चाहिए। तुम्हारी तरह औरो को भी क्रोध आता ही होगा।

सुख के दिन बीत गये। वे कहाँ चले गये, पता नही। जाने फिर लौटेंगे या नहीं ? यह संसार भूलभुलैया है। कैसे मै समझूँ कि वे कहाँ जमा होते है ? अगर जमा होते होते तो फिर उन्हें वापस होना चाहिए था।

मै उन पर कर्तव्य और अकर्तव्य सब डाल देती थी। मै उनसे ज़िद करती थी। अब यह मेरी समझ मे आता है कि मै कितनी नादान थी। वही मै अब हूँ। शायद अब किसी के सामने मुँह खोलने को नही तैयार हूँ। मेरा ख़याल था कि मै सब कुछ हूँ। क्यो न समझती ? मेरे लिए उन्हें छोड़कर और था ही कौन ? आख़िर मै अपने सुख-दु.ख की गाथा किससे कहती ? क्योंकि एक तरह से वे ही मेरी नाव खेनेवाले थे। मै सारा बोझ उन्ही पर रख देती थी। शायद इसी लिए मेरा उन पर सारा अधिकार था। हम सारी बातें सबसे नहीं कह सकते। दूसरे तो दूसरे ही है। वे अपने थे। तभी

शायद उन्हें मेरी चिन्ता हर तरह रहती थी। और इसी लिए मैं मुँह भी फुलाती थी। अब तो जैसे बदल गई हूँ। बदलूँ क्यों न, जब समय बदल गया तो क्यों न बदलूँ ? वैसे ही कैसे रह सकती हूँ ? जब नाव चलानेवाला नहीं रहा तो यात्री की सुरक्षा कैसे हो सकती है ? उसी तरह मैं भी डूबी हुई हूँ। देखने में तो मैं बैठी हूँ, पर डूबी हूँ। करीब-करीब उसी तरह की हूँ। मगर मेरा दिल उसी समय टूट गया, जिस समय उन्होंने दम तोड़ा।

दिल्ली : होली

कई साल की बात है। मैं इलाहाबाद गई हुई थी। मेरी भाभी होली के दिन मुझे रोकना चाहती थीं।

आप बोले—मैं अकेला हूँ, कैसे छोड़ जाऊँ ? हाँ, मैं दिल्ली जानेवाला हूँ। दिल्लीवालों ने मुझे बुलाया है। वहाँ से दो-तीन दिन बाद लौटूँगा, तब आप दोनों होली खूब खेलें।

जब हम दोनों दिल्ली गये, तो वहाँ खूब होली रही। वहाँ सारे कपड़े उनके ख़राब हो गये। जब वहाँ से इलाहाबाद पहुँचे तो बारह बजे थे। आप बोले—आओ महादेवी से मिलते चलें। उनके दरवाजे पर हम दोनों पहुँचे। मैं अन्दर गई। आप तांगे पर थे। मैं फौरन लौटना चाहती थी, मगर महादेवी मुझे रोकना चाहती थीं। बोलीं—मैं उन्हें भी बुला रही हूँ।

जब एक देवी उन्हें बुलाने गई तो आप उनसे विनीत स्वर में बोले—जाकर उनको भेजिए।

वे महादेवी के पास इस ख़बर को लेकर आईं।

महादेवी ने कहा—वे खुद आकर लिवा ले जायें। हम इन्हें जाने नहीं देंगी।

इसी तरह दो घंटे तक वे तांगे पर बैठे रहे। बाद में खुद उतरकर आये और बोले—अब भी न जाने दीजिएगा ?

सब एक स्वर से हँसीं और बोलीं—आपकी हार तो हुई।

'मै तो आप लोगो से कभी से हारा हूँ।'

मैं—तो आप पहले क्यो नहीं आये ?

'मै सोचता था, इन्हें जल्दी फ़ुर्सत हो जायगी।'

देवियाँ—आप अपनी चालाकी मे थे।

इसके बाद उन लोगो ने नाश्ता करवाया। हम लोग स्टेशन से ही खा-पीकर चले थे। नाश्ता करने की तबियत न थी। उन लोगो ने वही पुरानी धमकी फिर दी। आपको मजबूरन खाना पडा।

उसके पहले मै प्रयाग महिला सम्मेलन मे गई थी और वे उसका मार्ग-व्यय मुझे दे रही थी। मै ले नही रही थी। वे उलहना देती हुई बोलीं—बाबूजी, देखिए ये मार्ग-व्यय नही ले रही है।

'इनको ज़रूरत हा क्या रहती है। मै आप लोगो के बीच मे बोलूँ ही क्या ? आप सब एक है।'

लखनऊ : विश्वमित्र का एक लेख

हम अक्सर साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक विषयो पर विवाद करते। उनसे मै स्त्रियो का पक्ष हमेशा लिया करती थी। कभी-कभी मै स्त्रियों पर पुरुषो द्वारा लिखे गये लेखो को पढकर झल्ला पड़ती थी और उनसे कहती कि आप इनका जवाब दीजिए। नही तो मै ख़ुद इनका जवाब दूँगी। तब आप ख़ुद अगर न लिखते तो मुझे रोकते थे। स्त्रियो का ख़ुद अपनी सफ़ाई देना अच्छा न होगा, मुझसे कहते। मै कहती—फिर कौन जवाब देगा ?

एक बार मैने 'विश्वमित्र' मे स्त्रियो पर एक लेख पढा। यह कोई १५ साल की बात है। न मालूम क्यो वे महाशय स्त्रियो पर झल्लाये हुए थे। मै उसे पढ़कर उनसे बोली कि इसका जवाब आप लिखिए, नहीं तो मै ख़ुद लिखूँगी। तब आप बोले—बहुत-सी औरते है, लिखेगी।

मै—आपके ऐसा कहने पर मुझे दु.ख होता है। जो उस तकलीफ़ को महसूस करे, वह क्यो उसे छोड दे।

'पुरुष का जवाब देना अच्छा होगा, न कि तुम्हारा।'

'पुरुषों में सबसे बड़े लेखक तो आप हैं। फिर क्यों जवाब नहीं देते ?'

तब आप बोले—मैं किसी को बुला दूँ, जैसा तुम कहना वह लिख देगा। शास्त्रीजी को बुला दूँ ?

मैं—बुला दीजिए।

वह पड़ोस में थे ही। आये। आते-आते बोले—कहिए, मेरी क्या ज़रूरत पड़ी ?

आप बोले—आपने आपको बुलाया है।

मैं वह पत्रिका हाथ में लिये हुए थी। मैं उनके हाथ में पत्रिका देती हुई बोली—ज़रा इस लेख को देखिए। उस लेख का शीर्षक था—'आज-कल हमारी देवियाँ किधर जा रही हैं ?'

मैं—ख़ूब पढ़कर इस पर लेख लिखिए। न लिख सकिए तो बताइए। इन महाशय ने जरा भी ठंडे दिल से लिखा होता तो इन्हें मालूम हो जाता कि देवियाँ जा रही हैं, या देवता जा रहे हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि देवियाँ लिखनेवाली कम हैं, देवता बहुत हैं। इस वजह से बाजी उनके हाथ रह सकती है। और ठंडे दिल से सोचते तो पता चलता कि उनका मूल कारण देवियाँ है, कि देव। आज कल भी उन्नति का मूल कारण देवियाँ ही हैं। अगर १०० में १०० बुरे पुरुष निकलेंगे तो स्त्रियाँ महज पाँच निकलेंगी। यह मैं जरूर कह सकती हूँ कि मुगल-राज्य के बाद से स्त्रियों पर अधिक अत्याचार होने का कारण वे कमज़ोर बन गई हैं। इसमें महज़ समय का दोष है। जैसा समय आनेवाला होता है, उसी तरह हमारी बुद्धि भी हो जाती है। फिर इसमें दोष किसको दूँ ? मगर इन्होंने बिलकुल पक्षपात से लिखा है। इसी तरह सारा दोष स्त्रियाँ उन पर मढ़ दें तो अनर्थ हो जायगा। और समाज के लिए यह बहुत ही हानिकारक होगा। जन्म से मरण तक स्त्रियों के ही हाथ पुरुष रहते हैं। मा के रूप में, बहन के रूप में, स्त्री के रूप में, बेटी के रूप में स्त्री ही सेवा करती है। कौन ऐसा समय है, जब

वे स्त्रियों से अलग रहते हैं ? जाति एक ही है। क्या स्त्री-जाति पुरुष-मात्र से दुश्मनी कर ले तो वह जीवित रह सकती है ? ये महाशय शायद स्त्री से नहीं पैदा हुए, या स्त्रियों का प्यार इन्हें नहीं मिला।

मैंने देखा इन बातों को सुनते-सुनते आपकी आँखों में आँसू छल-छला आये।

शास्त्रीजी को भी बुरा लगा और वे कहने लगे कि मैं इसका मुँहतोड़ उत्तर लिखता हूँ।

आप बोले—आप जल्दी से लिख दीजिये। मैं 'माधुरी' में उसे निकाल दूँ।

मैं—कौन जाने। आप लोग भी तो पुरुष हैं! 'चाँद' में न भेजिए ?

शास्त्रीजी बोले—आप तो ऐसा कहती हैं, जैसे हम सब के सब मतिभ्रष्ट हों!

आप बोले—भाई सज़ा तो हमें भुगतनी पड़ी। वह तो लिखकर दूर हो गया।

चार-पाँच दिनों के बाद शास्त्रीजी उसे लिखकर लाये। मैंने कहा—पहले आप इसे सुना दीजिए।

तो आप बोले—लिखा तो गया ही है, पढ़ लीजियेगा।

मैं—अगर इसमें एक शब्द कटा तो आप जानें।

लेख तो मुझे बहुत अच्छा लगा। वह लेख 'माधुरी' में निकला। पुरुषों में बड़ा ही हल्ला रहा ; मगर किसी को जवाब देने की हिम्मत न पड़ी। स्त्रियों ने बधाई भी दी, उस लेखक को। मैंने पण्डितजी को धन्यवाद दिया। 'माधुरी' ने पुरस्कार दिया।

× × ×

मैं लखनऊ में थी। जो महाराजिन हमारे यहाँ खाना पकाती थी, वह एक दिन शाम को खाना पकाने नहीं आई। जब वह सुबह आई तो मैं बोली—रात कहाँ रह गई ?

महराजिन रो रही थी। बोली—मेरा लड़का कभी से ग़ायब है।

मैंने पूछा—तलाश किया, कहाँ गया ?

महराजिन बोली—कल जब मैं आपके यहाँ खाना पकाने आई तब सुबह था। कल मैंने सारा शहर ढूँढ डाला, मगर कहीं पता नहीं लगता। कुछ लोगों से पता चलता है कि दो तीन लड़कों के साथ कहीं भागा है।

जब मेरी और महराजिन की बात चल रही थी, उस समय आप कमरे में काम कर रहे थे। महराजिन की और मेरी बातें सुनकर वे भी बाहर आ गये। क्योंकि उन्हें मुझसे ज्यादा उसकी चिंता रहती है। क्योंकि उस हालत में खाना मुझे पकाना पड़ता था।

बाहर निकलकर आप बोले—कल कहाँ रह गई थी ?

वह उनके सामने भी रोती हुई बोली—बाबूजी मेरा लड़का जाने कहाँ खो गया ? मैं इसी के लिए रात-दिन मरती हूँ। और यह इस तरह गायब हो जाता है। मानो उसका मुझसे कोई नाता न हो।

आप बोले—जब वह इस तरह का नालायक है तो तुम्हीं क्यों मरती हो ? जाने दो। जब उस बदमाश को ख्याल नहीं होता कि मैं ही विधवा मा के लिए सब कुछ हूँ, तब तुम्हीं क्यों जान देती हो ? कमाओ, खाओ, पड़ी रहो। वह तुमको कभी भी आराम नहीं दे सकता। तुम्हें तकलीफ ही देने के लिए वह पैदा हुआ है।

महाराजिन बोली—माँ की तबियत है, नहीं मानती। कल से चला गया है, रात-दिन बीत गया, मुँह में पानी तक नहीं गया। कुछ भी खाने की इच्छा नहीं होती।

आप बोले—यह तुम्हारी बेवकूफी है। क्योंकि वह तो अपनी ख़ुशी से गया है और ख़ुश भी होगा। तुम नाहक मरती हो।

मैं बोली—उसकी तरह यह तो अपनी तबियत नहीं बना सकती न ! यह मा ठहरी, बेटे की तकलीफ नहीं सही जाती।

आप बोले—ये तो मा है ठीक, पर उसकी भी तो तबियत वैसी ही होनी चाहिए। वह तो इनके अगले जन्म का दुश्मन है। वह दुश्मनी का बदला

लडका होकर पूरा कर रहा है। वह जब देखता है कि मा इस तरह परेशान हो रही है, तब भी बदमाशी करना नहीं छोडता और उसकी हिम्मत आगे ही को बढ़ी जा रही है। मै तो कहता हूँ महराजिन तुम आराम से रहो। लौटकर आये तो घर मे रहने भी मत दो। वह ख़ुद ठीक हो जायगा।

मै बोली—मा इतनी जल्दी ऐसी बन भी तो नही पाती।

आप बोले—जब ऐसे बेटे हो तो ऐसी मा बनना चाहिए। बग़ैर बने काम नहीं चल सकता। लडको की हिम्मत तब और आगे बढ जाती है। मा अगर कडे दिल की हो जाय तो वह लडका भी ठीक हो जायगा। और इसी तरह रो-रोकर मरना है तो मेरे ख्याल में वह ठीक नहीं होगा।

मै बोली—सभी लडके ऐसे नहीं होते।

आप बोले—आजकल के ज़माने मे अक्सर ऐसे ही लडके दिखाई पड़ते है। देखते हो पन्द्रह-सोलह का हो गया, पर उसकी यह हरकत। माताओ की ज़िन्दगी यही करते बीतती है। जैसे कालेजो मे बहुत से लडके पढते है तो उन्हें यही ख़याल होता है कि हम ऊँचे-से-ऊँचे पद पर जायँगे। मगर सौ मे दो ही चार को ऊँचे पद मिलते है। उसी तरह दो ही चार माताओ के बच्चे अच्छे निकलते है। जैसे शेष लडके निकलने के बाद ठोकरें ही खाते है उसी तरह ज्यादातर माताएँ लडको के पीछे रात-दिन मरती है। मै तो कहता हूँ ऐसे लडको को जल्दी से जल्दी मर जाना चाहिए।

मैने कहा—नहीं, यह बात नही है। मा की तबियत है। ख़ुदगर्ज़ी तो मर्दो मे होती है। स्त्रियो मे जिस दिन ये बातें आ जायँगी उस दिन यह दुनिया दुनिया नही रह जायगी। यह मा का ही प्रेम है जो हमेशा बेचारियो को रुलाता रहता है। उसे कमाकर इन्हें खिलाना चाहिए था।

, आप बोले—जब भूखो मरेगा तो खुद आ जायगा। इनकी बात मानता होता, भला होता, तो प्रेम करती। यह सब होते हुए भी उसी के पीछे परेशान है। कहती सब कुछ हो, पर आशा ही लेकर मरती हो।

महराजिन को मालूम हो गया था कि बाबूजी के दफ़्तर मे एक ज्योतिषी

है। मुझसे बोली—आप उस ज्योतिषी से पुछवा देतीं तो कुछ पता चल जाता।

मैंने कहा—हाँ, पुछवा दूँगी। महाराजिन बोली—मैंने सुना है कि हैं।

मैंने ज्योतिषी से पुछवाने की सभी जिम्मेदारी अपने सिर ले ली। उसी समय जाकर बोली—आप अपने दफ्तर में ज़रा उनसे पूछिएगा।

आप बोले—तुम्हें भी ज्योतिषियों और पण्डितों का चक्कर लग गया?

मैं बोली—मैं मानूँ या न मानूँ। वे पूछती हैं, उन्हें बतला दीजिए। आपको अपने साथ लेते जायँ, उनसे पूछ देखेंगी।

आप बोले—कहीं कुछ नहीं होगा।

मैंने कहा—नहीं, वादा कर दिया है, पुछवाना पड़ेगा।

आप बोले—ख़ैर, मेरे साथ ही चली चलें।

मैंने कहा—खाकर आपके साथ चली जाओ।

'बहिनजी, मेरी तबियत बिल्कुल नहीं है खाने की,' महराजिन बोली।

आपने कहा—खा लो महराजिन।

आप अपने साथ महराजिन को ले गये। जो कुछ महराजिन ने कहा, उसे पण्डित को समझा दिया और पण्डित का कहना महराजिन को। उसके साथ-साथ ज्योतिषी की तारीफ कर दी। ज्योतिषी ने बताया था कि दो-तीन दिन में आप-से-आप तेरा लड़का आ जायगा, जब महराजिन चलने लगी तो उसे किराये के लिए दो आने भी पैसे भी दिये। तीसरे दिन महराजिन का लड़का सचमुच आ गया। महराजिन को ख़ुशी हुई।

मैं दूसरे के भी ज़िम्मे का काम अपने ऊपर ले लेती थी। चाहे काम अच्छा हो, चाहे बुरा। मेरे ले चुकने पर वह काम को पूरा कर ही देते। मैं अक्सर ऐसा ही किया करती थी। मैंने कभी दिल में ऐसा भी नहीं सोचा कि वे मेरी बात मानेंगे या नहीं। और क्यों ऐसा ख्याल हो जब कि हमेशा मेरी इच्छा पूरी होती गयी। वे करने को तैयार भी हो जाते थे, मामूली से मामूली बात और बुरी-से-बुरी बात, इसी लिए मैंने कभी सोचा ही नहीं कि कौन काम

करूँ और कौन काम न करूँ। शायद वे इसीलिए मेरा कहना न टालते। जिससे मैं महसूस न करूँ कि मै नही कर सकती। शायद उन्हें मेरी हार प्रिय न थी। या प्रेम से करते रहे हो जिससे मैं दुखी न होऊँ। अपनी बात वे छोड भी देते थे ; मगर वे मेरी बात नामंजूर नहीं करते थे। मुझे इस लम्बे जीवन में याद नही आता कि मैंने कोई काम करने को कहा हो और उन्होने उसे न किया हो।

मेरा स्वभाव अभिमानी था। और मेरी यह आदत बढती ही गई। मैं जल्दी किसी से अपने दिल की बात न कहती। यहाँ तक कि अपनी ज़रूरत भी किसी से न बतलाती। क्योंकि अगर कोई न मानता तो मेरी आत्मा रो पडती। मेरी आत्मा तो यों ही रोती है। मै अपने उन दिनो की याद करती हूँ तो दिल भर आता है। मैं यह सब बाते इस ख्याल से नही लिख रही हूँ कि पढकर पाठक दुखी हो। मै यह सोचकर लिख रही हूँ कि मै ऐसी कैसे बन गई। मै बन गई कुछ तो स्वभावतः, और कुछ आपने मुझे बनाया। ज़्यादातर सबके घर स्त्रियाँ आती है। बहुत हुआ तो पति के घर की मालकिन बन गईं। मगर मै घर की मालकिन न होकर उनके हृदय की मालकिन थी। क्योंकि मै अपनी इच्छा के अनुसार ही उनसे सब कुछ करवाती थी। मै यह नहीं कहती कि इसमे मेरी विशेषता थी। इसमे मेरा कुछ नहीं, सारा बडप्पन मेरे स्वामी का था।

× × ×

मेरे घर मे एक नौकरानी बूढी बारिन थी। मेरे ही घर का काम करती, रात-दिन मेरे ही घर मे रहती। उस बारिन के चार बेटे जवान थे, एक बेटी थी। मगर बुढ़िया को कोई खिला नही सकता था और जब उसका महीना पूरा होता, उसका कोई न कोई लड़का आकर उसकी तन्ख्वाह ले जाता। एक दिन मै और वे बैठे थे। चंद मिनट पहले ही उसका लडका रुपया लेकर गया था। आप बड़े अफसोस के साथ बोले—इस बुढिया के लड़के आदमी

है कि शैतान ? मेरी समझ मे नहीं आता कि यह बूढ़ी मा काम करे और इसके जवान-जवान लडके तन्ख्वाह लेने पहुँच जायँ।

मै बोली—आप आखिर कहना क्या चाहते है ?

आप बोले—मैं यह कहता हूँ कि ये जवान लडके बुढिया की कमाई लेने क्यों आते हैं ? खुद देना चाहिए। बडे बेहया हैं, सालों को शरम भी नही आती।

मैं बोली—शरम क्यों आये ? शरम तो अच्छे-अच्छों को नहीं आती। ये तो जाहिल ही हैं।

आप बोले—तो यह देती क्यो है बुढ़िया ?

मै बोली—आकर रोते होंगे, इसी पर दे देती होगी। वह तो मा ठहरी। कैसे तकलीफ दे सकती है। आपने एक कहानी भी तो लिखी थी 'बेटोंवाली विधवा।' आप तो इस विषय में पहले ही अपने विचार प्रकट कर चुके हैं, फिर मुझसे क्यों पूछते हे।

आप बोले—मैं समझता था ज्यादा खुदगर्जी अँग्रेज़ी ही पढे-लिखों में आ गई है। अब इन सबों का हाल देखकर दग रह जाना पडता है। पहले मैं देखता था छोटे लोगो में मा की इज्जत होती थी, उसकी जगह पर यह उलटा ही दिखाई पड रहा है। उस बेचारी को रोटी भी देनेवाला कोई नही है। ये तो जवान हो गये हैं। जैसे बचपन में चूस-चूसकर उसका दूध पीते थे, अब जवान होने पर उसी का पैसा चूसने को तैयार हैं। अब इनमें और पशुओ में क्या फर्क है। जैसे कुतिया के सामने रोटी फेक दो तो उसका बच्चा रोटी छीनकर खा जायगा। उसे यह खयाल न होगा कि मा भूखी है। तो फिर भला इनमे और पशु में क्या फर्क रहा। इन बातो को बहुत दिनों में मनुष्य जाति सीख सकी थी, मगर अब स्वार्थ इस प्रकार बढ रहा है कि फिर उसी स्थान पर मनुष्य लौटा जा रहा है।

मै बोली—आपको नई-नई बातें याद आ जाती है।

आप बोले—नही जी, मै देखता हूँ उस बेचारी से बडी बाल्टी नहीं

उठती, सुबह जब वह पानी लाती है तो उसके हाथ काँपते रहते हैं। या मैं खुद अपना काम कर लेता हूँ या उधर ही आकर नहा लेता हूँ। शाम के वक्त मैं खुद चारपाई छत पर डाल लेता हूँ। मुझे उसकी हालत पर दया आती है। मगर इन भूतों को दया छू भी नहीं गई है। तुम इन लोगों को मना क्यों नहीं कर देती हो?

मुझे इस तरह दूसरे के घर का न्याय बूझने पर क्रोध-सा आ गया।

मैं बोली—मुझसे नहीं कहते बनता। आप ही समझा दीजिए। आप इन लोगों को समझाना जितना आसान समझते हैं, उतना है नहीं। इनके जीवन में जो महत्त्व लड़कों का है, वह किसी का नहीं। ये किसी और के समझाने से न समझेंगी।

आपने कहा—तभी तो लड़के बहुत शरीफ़ हो रहे हैं न! 'मोर पिया मोर नाँव न पूछै, मोरि सुहागिन नाँव' यही दशा इसकी है।

मैंने कहा—'राँड माँडै खुशी।'

उस दिन देर तक हम लोगों में वाद-विवाद होता रहा।

आप बोले—स्त्रियों में एक बात यह भी तो है कि शौहर जीता रहे, माने या न माने; पर वह स्त्री भाग्यवती समझी जाती है। कहते हैं कि वह बड़ी सुखी है। जिसका पति न हो, वह अभागिन समझी जाती है। उस बेचारी को अभागिन कहेंगे।

मैं बोली—आपकी इस बात का खण्डन तो मैं ही कर देती हूँ। जिसका पति मर गया वह तो सचमुच अभागिन है।

आप बोले—तुम ग़लती पर हो।

मैं बोली—मैं ग़लती पर नहीं हूँ, आप हैं।

आप बोले—मैं इसको नहीं मानता।

मैंने कहा—आपके न मानने से क्या होता है?

आप बोले—मान लो कोई आदमी अपनी स्त्री के रहते दूसरी स्त्री से शादी कर लेता है और पहली की बात तक नहीं पूछता। दिल में यह मनाता

हो कि मर जाय तो अच्छा है। तुम्हीं बताओ उसके जीवन में क्या है? उसको तुम सुखी समझती हो। तुम समझो, मैं तो नहीं समझूँगा। मैं उसे ही सुखी समझूँगा, जिसका पति मर गया है। कम से कम उसमें जो प्रेम था, अपनापा था, वह तो उसके साथ है। उसके लिए अब क्या रहा? उस सधवा के हाथ तो कुछ नहीं लगा? जलना और नफरत, बस! उस विधवा को तड़पन है, जलन है, मगर विधवा के दिल के अन्दर जो अपनापा और प्रेम के अकुर जमा हो गये हैं, वही उसकी स्थायी सम्पत्ति है। उसके मरने पर ही वह दूर हो सकेगा। जो उसके दिल के अन्दर स्मृति है, वही उसके जीवन की स्थायी और अमूल्य वस्तु है। जिसके जीवन में ये चीजें मिल जायँ उसे और किस चीज़ की ज़रूरत? अब उसका अन्दाज़ लगाओ, जिसे घर मे जीवित पति जला रहा है।

मुझे क्या मालूम था कि इन बातो को याद करके एक दिन मुझे रोना पड़ेगा। उनके संबध की सारी स्मृतियों को मन में सँजोकर संतोष करना पड़ेगा। वाह री किस्मत, तू सब कुछ करवाती है। तेरे हाथ का खिलौना सभी को बनना पड़ता है। मेरे स्वामी ने कहा था कि स्थायी चीज स्मृति ही होती है और कुछ नही होता। केवल वही चीज़ स्थायी है। एक दिन वे थे जब दुनिया भर के वाद-विवाद पर घंटो बहस होती। उस समय वे बातें व्यर्थ की बहस मालूम होती थी। आज उन्ही को सोच-सोच-कर लिखने बैठी हूँ। हालांकि उन बातों को सोचकर हृदय पर छुरियाँ-सी चल जाती है। मगर फिर भी उन्हें याद किये बिना नहीं रहा जाता। उनको सोचने मे जो एक झलक-सी दिखाई पड जाती है, वह बीते हुए सुखों की एक स्मृति है। मुझे विवश होकर लिखना पड रहा है। मै यह सोचकर नहीं लिख रही हूँ कि इसमे पाठको का कोई मनोरजन होगा; या कोई तथ्य निकलेगा। मै क्यो लिखती हूँ, क्यो सोचती हूँ, खुद नहीं जानती। हाँ यह जानती हूँ कि इनको सोचने में कोई सार और कोई तथ्य अवश्य होगा। तभी तो लिखती हूँ। क्योंकि जब आदमी को रोने की इच्छा होती

है तब उसको दु:ख की घटनाएँ याद करने मे मज़ा आता है। तभी तो वह याद करता है और सोचता है।

बड़े चचेरे भाई साहब का देहान्त

सन बत्तीस की बात है। आपके बडे चचेरे भाई साहब का देहान्त हुआ। आपको उनके देहान्त से बडा आघात पहुँचा। पहले उनकी बीमारी का तार गया।

उनके चूतड पर दो-तीन फोडे हुए थे। जिससे वे बैठ न सकते थे। मुझसे बोले—मेरा बिस्तरा तैयार करो। आज सुबह की गाडी से मै जाऊँगा, चाहे लेटे ही लेटे जाना पडे। हाँ, फोडा फूट गया तो देखा जायगा। क्या करूँ। या तुम्हीं न चली जाओ। वे मुझसे कुछ कहना चाहते होंगे।

मै—तो मुझे कैसे वे बतायेंगे। फिर आप भी तो बीमारी की हालत में अकेले पड जायँगे।

दूसरे दिन दूसरा तार पहुँचा कि उनका स्वर्गवास हो गया। आप रोते हुए बोले—दोनो बच्चो को क्या होगा। अभी बहुत छोटे हैं। घर में दो विधवाएँ।

उसके चौथे दिन जब आप बनारस चलने लगे तो मुझसे बोले—बिना वारंट की गिरफ़्तारी हो रही है। तुम पहले की जेल गई हुई हो, शायद इस बार बिना वारंट के तुम पकड ली जाओ। मैं तुमसे यह इसलिए कह रहा हूँ कि जब तक मै न आ जाऊँ, तब तक तुम घर से निकलना मत। और भी एक मुसीबत आ जायगी।

मै—हर्गिज़ मै नहीं जाऊँगी।

बनारस आने पर मुझे मालूम हुआ कि आप को देखकर उनकी दोनों भौजाइयाँ जब रोने लगीं तो आप बोले—न रो, भाभी। तुम्हारे लिए मैं हूँ। मरे तो भैया हैं। बच्चो से यह कभी न कहना कि तुम्हारे बाबू मर गये। मै अब तक तीन बच्चो का पिता था, अब पाँच बच्चो का पिता हूँ।

जो भी ज़रूरत पड़े, फौरन मुझे ख़बर करना। फिर मैं अब यहाँ चला आनेवाला हूँ। मैं इस काम-क्रिया को बहुत कम पसन्द करता हूँ। इसे मामूली ढग से ही करना। और १००) रुपए बैंक से निकालकर उन्हें देते गये। बोले—मैं जा रहा हूँ। उनकी गिरफ्तारी का बहुत अन्देशा है।

'आज' का लेख

काशी की एक घटना है। आपका एक लेख 'आज' में छपा। उस पर काशी के हिन्दू नाराज़ हुए। यहां हिन्दू-सभा का उस समय ज़ोर था। कांग्रेसी भी हिन्दू-सभा का पक्ष लेते थे। कई महाशय आये और बोले—आपने जो लेख लिखा है, उससे काशी के हिन्दू आपसे बहुत नाराज़ हैं। उन आनेवालों में अधिकतर कांग्रेसी थे।

बाबूजी जब अन्दर आये तो मैं बोली—ये लोग क्या कह रहे हैं?

'कुछ नही, जी। वह लेख बड़ा सुन्दर है।'

मैं—मारने की धमकी आखिर क्यों दे रहे हैं?

'यह सब हिन्दू-सभावालों का काम है।'

'ये सब तो कांग्रेसी थे।'

'आज कल ये लोग भी उसी के पक्षपाती हैं।'

'ऐसा लेख आप क्यों लिखते हैं कि लोग दुश्मन बनें। कभी गवर्नमेण्ट, कभी पब्लिक, कोई-न-कोई तुम्हारा दुश्मन रहता ही है। आप ढाई हड्डी के तो आदमी हैं।'

'लेखक को पब्लिक और गवर्नमेंट अपना गुलाम समझती है। आखिर लेखक भी कोई चीज है। वह सभी की मर्जी के मुताबिक लिखे तो लेखक कैसा? लेखक का भी अस्तित्व है। गवर्नमेंट जेल मे डालती है, पब्लिक मारने की धमकी देती है, इससे लेखक डर जाय और लिखना बंद कर दे?'

मैं—सब कुछ करे, मगर अपनी जान का दुश्मन न तैयार करे।

आप बोले—लेखक जो कुछ लिखता है, अपनी कुरेदन से लिखता है।

'यह बात तो ठीक है ; लेकिन रोज़ का झगडा ठीक नहीं।'

'यह दुनिया ही झगडे की है। यहाँ घबराकर भागने से काम नहीं चलता। यहाँ मैदान मे डटे रहना चाहिए।'

मै—वह लोग कभी कांग्रेसी, कभी हिन्दू-सभाई कैसे हो जाते है ?

'तो मै क्या हो जाऊँ ?'

मै—वैसा न होने से तो और भी बुरा होगा। मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि आप बिना सिद्धान्त के हो जायँ। वे सब तो कह रहे हैं कि अब तुम मुसलमान ही गये। पर उनको क्या। आप मुसलमान नहीं ईसाई हो जायँ।

'इन लोगो का भ्रम है। ये लोग कभी अपने हृदय का दरवाज़ा खुला नहीं रखते। मै ही कहाँ तक इनको समझाऊँ। देखती तो हो इन लोगो को, ये हर जगह अपना पैर अडाते है, चाहे उसे समझे, चाहे न समझे।

मै—तो उन्हें आपने समझाया था ?

'समझता तो इंसान है तब जब समझने की कोशिश करे। और तुम्हें क्यों चिन्ता होती जाती है ?'

'दुश्मनो के बीच में रहकर क्या किसी को चिन्ता नहीं होती ?'

'मै बिलकुल निश्चित रहता हूँ, नहीं तो कुछ कर ही न पाऊँ। मै तो दिल से दोनो को मानता हूँ। कोई लेखक इस तरह की बातों पर ध्यान दे और डरे तो वह अपने विचार जनता को दे चुका। वह जनता का नेतृत्व तब क्या ख़ाक करेगा।'

'जब जनता आपके विचारो को सुनेगी ही नहीं, पढ़ेगी ही नहीं, पढकर घृणा करेगी, तब आपके विचारो से क्या फायदा ?'

'लेखक हर आदमी की बात कैसे सोच सकता है? वह तो जी-हुज़ूरी हुई। लेखक उसमे कहाँ रहा। लेखक किसी की परवाह किये बिना ही अपने विचार देगा और हृदय से जनता उन विचारो को लेगी भी। और फिर जनता भेड भी तो है। जिसे माना, उसी के इशारे पर चलती रही, यह तो

अच्छी बात नहीं। मेरी राय है, जनता स्वय अपना भला-बुरा निर्णय करे। यहाँ तो लोगों को लीडरी की पडी रहती है, तब भला वे कैसे जनता के हित ही की बात सोचें। हिन्दू-मुसलमान की लडाइयों में तो ये अपनी लीडरी चमकाते है।'

मैं—तो फिर इन्हें ठीक कैसे किया जाय ?

'जब ईश्वर को मंजूर होगा, तभी ये झगडे ख़तम होंगे। और तभी हम स्वराज पायेंगे, इसके पहले क्या आशा। और वह स्वराज्य ही कैसा जिसमें हम दोनों लड़ते रहे। गान्धी इस युग का सबसे बडा पण्डित है। उसका दिल दोनों के लिए बराबर है। वह आदमियत पहले देखता है। जब आदमी आदमी न रहा, तो मज़हब क्या और किसका ?'

मैं—लेकिन गान्धी तो सर्वप्रिय है।

'तुम जानती नहीं हो। उनको तो लोग गालियां तक देते है। खुद गान्धी का लडका मुसलमान हुआ, और इस बात को लेकर कस्तूरी बाई ने रोना पीटना मचाया। उस पर गान्धीजी ने खूब समझाया और बराबर कहते रहे कि भाई मजहब के कारण उसमें क्या नई बात हो गई। गान्धीजी का व्यवहार सबके साथ बराबर का है। उन्होंने मेहतर की लडकी को अपनी लडकी से भी ज्यादा प्यार से अपनी थाली में खिलाया-पिलाया, पाला-पोसा।

मैं—क्या आप गान्धी बनना चाहते है ?

'गान्धी भी आदमी हैं। कोशिश से सभी गान्धी हो सकते है। उनमें शक्तियां हैं। पहले उनका जीवन बहुत ऊँचा नही था और तब लोग उन्हें महात्मा भी नहीं कहते थे। वे अपनी कोशिश से महात्मा हुए। किसी ने उन्हें महात्मा नहीं बनाया।

मैं—आप भी महात्मा बनने ही के कारण रोज़ झगड़ा खडा किये रहते। क्या झगडों से ही लोग महात्मा होते हैं ?

'मैं भी काम करता हूँ। गान्धीजी भी काम करते है। उन पर भी मुसीबतें पडती है ; पर उन्होंने कभी परवाह की ? यही जीवन है।'

'गान्धीजी बीमार पड़ते हैं तो सारे आदमी बौखला जाते हैं। यहाँ मरने पर भी कोई साँस नहीं लेता।'

'इसका कारण यह है कि हमारा दायरा छोटा है। गान्धीजी सारी दुनिया के आदमी हैं। इसलिए सभी उन्हें प्यार करते हैं।

मैं—तो आप भी अब घर-बार छोड़कर महात्माजी बनिए न।

'मैं अगर घर-बार छोड़कर पब्लिक का आदमी हो जाऊँ तो रोने का दिन न आये।'

मैं—तो क्या बुरा है। अभी आप रात-रात भर कलम चलाते रहते हैं।

'कलम चलाना तो मज़दूरी का काम है। न चलाऊँ तो क्या खाक खाऊँ, महात्मा गान्धी भी तो खाना ही पाते हैं।

'यहाँ किसने हाथी-घोड़ा रख लिया? मेरी समझ में वह सबसे अच्छा है।'

'हाँ, कोशिश मेरी यही है।'

× × ×

मैं—स्त्रियों की आज़ादी पर आप क्या विचार रखते हैं?

'मैं दोनों में समानता चाहता हूँ।'

'समानता का आन्दोलन आप क्यों नहीं करते।'

'मैं उन ताकतों को साहित्य में भरना चाहता हूँ।'

'जनता क्या वह पढ़ती है?'

'इसके माने यह थोड़े ही है कि जनता की अशिक्षा के कारण साहित्य में इसको भरा ही न जाय। धीरे-धीरे सभी अपने रास्ते पर आ जायेंगे। तुम्हें मालूम है, रूस की वर्तमान दशा का चित्रण २०० वर्ष पहले वहाँ के लेखकों ने लिख मारा।'

'तब तक तो मैं देख भी न सकूँगी।'

'तुम तत्काल फल चाहती हो। बहुत सम्भव है कि हम देख लें। इधर २५ वर्षों में ही ज़माना बहुत आगे निकल गया।'

मैं—समाज तो ज्यों-का-त्यों है।

'तुम कैसे कहती हो कि समाज वैसे ही है। तुम्हारी अम्मां के भी ख्याल में जेल जाना आया था? तुम क्यों जेल पहुँच गई? तुम्हीं क्या, बीस हज़ार स्त्रियाँ जेल गई हैं। और फिर कैसे समाज आगे बढ़ता। मैं देखता हूँ, स्त्रियों मे काफी हलचल है। यह समाज के शुभ लक्षण हैं।'

मैं—अभी तो बहुत पुरुष स्त्रियों को पर्दे में रखना उचित समझते हैं।

'बहुत दिनों की आदत एक दिन में कैसे छूटे?'

मैं—हमारी जनता अधिक तादाद में देहातों में रहती है। उनमें तो वही सब पुरानी बातें हैं।

'उनको हटाना तुम्हीं लोगों का काम है।'

मैं—हम हई कितनी हैं।

'छोटी-सी चिनगारी जंगल को ख़ाक कर देती है। जब-जब जिस किसी देश की तरक्की हुई है, तो कुछ ही लोगों के हाथों। यहां भी जो कुछ सुधार हो रहा है, थोड़े ही आदमियों से।'

मैं—अभी तो गाँववाले हम लोगों को, जब कांग्रेस का चन्दा मांगने हम लोग जाती हैं, तो गालियां देते हैं। वे देहात की ही नहीं, शहर की भी होती हैं।

'जनता को उठानेवाला जब मिट जाता है, तभी वह सम्मान पाता है। स्त्रियाँ तुम्हें गालियां देती हैं तो बुरा क्यों लगता है। तारीफ तो तब है, जब तुम लोग उन गालियों को प्यार की बातें समझो। और उन्हीं में मिल जाने की कोशिश करो।'

मैं—आप चन्दा मांग सकते हैं?

'मैंने कोशिश ज़रूर की है, पर भाई, मैं तो असफल रहा।'

'हम लोग १०-१० हज़ार रुपये माहवार चन्दा लाई हैं। आपकी उन दोनों कापियों का चन्दा मैंने ही उगाहा था।'

'इसमें क्या शक, सदा स्त्रियाँ अपने काम मे सफल रही हैं। वे दूसरों पर अपना प्रभाव डाल सकती हैं।'

मैं—बहुत-से पुरुष भी हैं, जिन्हें लाखों चन्दा मिला है।

'वे माँगना जानते हैं। और यह बहुत अच्छा फ़न है। मैं देखता हूँ तुम रोज़ाना भाषण कर लेती हो; पर मैं तो भाषण नहीं दे पाता।'

मैं—भाषण क्या देती हूँ, अपना गला छुड़ाती हूँ।

'अपना काम तो निकाल लेती हो।'

अक्तूबर १९३२, धनतेरस

हम लोग बेनिया पर थे। तीन दिन दिवाली बाकी थी। धनतेरस थी। 'जागरण' निकल रहा था। 'जागरण' के सम्पादन में इतने व्यस्त थे कि उन्हें दीवाली की खबर तक न थी। तेरस के दिन कोई तीन ही बजे प्रेस से लौटे। बोले—परसों शायद दीवाली है।

मै बोली—आपको आज मालूम हो रहा है?

आप बोले—आज बाज़ार की दूकानें सजी हैं तेरस होने की वजह से। सब लोग अपने-अपने घरों की सफ़ाई करवा रहे हैं। क्या तुम्हारा घर वैसे ही पड़ा रहेगा?

मै बोली—आपको 'जागरण' और 'हंस' से छुट्टी मिले तब तो कोई दूसरा काम होगा।

आप हँसते हुए बोले—क्या तुम मुझ पर नाराज़ हो गई हो। मै ऐसा भूल गया कि कुछ पूछो मत। मुझे तो बिलकुल याद ही न रहा। ऊपर से तुम रूठी हुई हो, वाह!

मै बोली—तुम्हें रूठने की परवाह ही क्या है? मैंने कई दिन पहले ही आपसे कहा था कि दीवाली आ गई है तब आपने कहा था मुझे फुरसत ही नही है। 'जागरण' जल्दी निकालना है।

'उस दिन से फिर मुझे बिलकुल ही स्मरण नहीं हुआ। तुम भी चुप्पी लगाकर बैठ रही।'

मे बोली—मै आपसे कह चुकी थी, फिर क्या कहती।

आप बोले—काम मे पड जाने से मुझे याद नहीं रहा। आज बाज़ार

सजी देखकर ख़याल हुआ कि धनतेरस होगी। बड़ी गलती हुई, मकान की सफ़ाई हो जानी चाहिए थी। अच्छा तो अब क्यों देर करती हो ? तुम रुपए दे दो। मैं चूना वगैरह तो मँगवा लूँ। मकान ही कौन बहुत दूर है। सब मकान पर मँगवाकर इसी वक्त चले चलेंगे। आज के दिन कोई नया बर्तन मँगवा लो। तुम रुपए दे दो, मैं सामान ला दूँगा। तुम तैयार रहो, मैं एक्का लेता आऊँगा, चली चलना। काफी मज़दूर कर लेंगे। एक दिन में सब हो जायगा। शाम को अपने घर में आराम से दीवाली मनाना। नहीं तो दूसरे के मकान में रोशनी करोगी ?

मैं बोली—एक रात-दिन में आप क्या-क्या कर लेंगे।

आप बोले—नहीं जी, क्या कहती हो, सब हो जायगा। तुम सब सामान तो मँगवा लो। अब देर न करो, शाम हो रही है। तब जल्दी में कुछ न हो पायेगा।

हम दोनों में बातें हो ही रही थीं कि मेरी बहन का लड़का भी आ गया। वह काशी विश्वविद्यालय में पढ़ता था। जब उसने सुना कि घर जाने की तैयारी हो रही है, तो बोला—ठीक है तो मौसी, चीज़ों का नाम लिखवा दो। मैं और धुन्नू सामान खरीदकर आते हैं।

आप हँसकर बोले—चलो, ये भी मेरी राय के ठहरे। अच्छा अब तुम जल्दी करो। उसे सामान नोट करवाओ।

मैंने उसे सामान लिखवाया। आप एक्का लेने गये। हम लोग दिन रहे गाँव पहुँच गये। दोनों लड़के बाज़ार चले गये। मैं अपने मकान को खोलकर उसकी सफाई कराने लगी। सुबह १५-१६ मज़दूर काम करने के लिए बुलवाये गये। रात को जब लड़के चूना लेकर आये तो उसे पानी में डाल दिया गया। सुबह ही से घर की सफेदी होने लगी। कुछ लोग दरवाज़ों और खिड़कियों को रङ्ग लगाने लगे। वे सुबह से दिन भर मज़दूरों के साथ काम करते रहे। मकान के बहुत हिस्से में रंग वगैरह लगा दिया। शाम को बच्चों के साथ वे दीये चुनने लगे। जब रोशनी कर चुके तब दरवाज़ों पर

बहुत से काश्तकार और दूसरे लोग आकर बैठ गये। तब आप दीवाली त्यौहार मनाने का महत्त्व लोगों को समझाने लगे। इसके मनाने के कायदे क्या है। इस तरह की बहुत सी बाते लोगो को उन्हीं की भाषा मे बता रहे थे। क्या इस तरह के उत्साह को आप मामूली कहेंगे?

वह दिन मेरे लिए कितने सुख और सौभाग्य के थे। मै घरवाली थी। भाग्यवती थी। मेरे पास सब कुछ था। उनके चले जाने से चीज़े तो सब कुछ है, पर वे नहीं है; इसलिए मेरे लिए अब कुछ भी नही रहा। जब मेरे 'वे' ही नही रहे, तब और क्या कहूँ? बाकी मेरे लिए हो ही क्या सकता है? इन सब बातों को सोचते-सोचते दिल से एक आह निकलती है।

जब उन्हें दौड-दौडकर चिराग़ रखते देखती थी, तब मुझे हँसी आती थी। वे बच्चो की तरह दौड रहे थे।

मै बोली—आज तो आप ऐसे लगे हुए है कि आपमे बच्चो से भी ज्यादा उत्साह नज़र आ रहा है।

आप बोले—आजकल के लडकों मे वैसा उत्साह कहां?

मै बोली—आजकल के लडके क्या दीवाली और होली मनाने के लिए लिखते और पढते है। वे लोग सोचते होगे इसमे रखा ही क्या है?

आप बोले—कुछ नही जी! आजकल के लौंडो मे उत्साह नहीं है। त्यौहारों व खुशी के मौकों पर खुश होना जीवन के लक्षण हैं। जिसमें जितना ही जीवन रहता है, वह उतना ही खुश रहता है।

ऐन होली के पहले गाँव जाते हैं। सन् १९३२-३३

होली के एक दिन पहले जब खाना खा-पी चुके और पकवान भी बन चुका तो आप बोले—चलो कल गांव न हो आये?

मै बोली—पहले से तो आपने कहा नहीं। कल सुबह होली है, कहाँ तक सामान बांधकर ले चलूँगी। आपने पहले क्यों नहीं कहा? अब कौन-कौन से सामान बाधूं?

आप बोले—उसमें हर्ज ही क्या है ? सामान बनाने के लिए तो यहीं से जाता। अब गया तो और भी अच्छा है। गांव में बड़ा अच्छा रहेगा। देखा, बेटी बीमार थी, अच्छी हो गई। बच्चा भी अच्छा है। चलो गाँव चले चलें। सुबह एकाध इक्के बुलवा लिये जायेंगे। सब आराम से पहुँच जायेंगे। घर जब पास ही है, तब बाहर होली क्यों करें ? आदमी दूर-दूर से अपने घर पर त्योहार करने आता है।

मैं बोली—ऐन होली के दिन रास्ते भर बड़ी परेशानी होगी।

आप बोले—तो क्या ? रंग से डरती क्यों हो ?

मैं बोली—खाली रंग ही थोड़े है, गालियां भी तो बकेंगे।

आप बोले—एक घण्टे के लिए पर्दा कर लेना।

मैं बोली—इसके माने यह कि चला ज़रूर जायगा।

ख़ैर मैं राज़ी हो गई। सुबह उस दिन आप पांच ही बजे उठे। पाख़ाने से लोटकर, हाथ-मुँह धोकर आप सीधे जाकर एक्का बुला लाये।

मुझसे बोले—सब सामान तो रख ही चुकी हो।

मैं बोली—अभी तो बिस्तर बांधना बाकी ही है।

मुझे बिस्तर बाँधते हुए देखकर बोले—हटो, मै बिस्तर बांध दूँगा।

मै बोली—क्यो नहीं बँधेगा।

आप बोले—ज़रा-ज़रा से तो हाथ हैं।

मैंने कहा—आप हा के कौन बहुत लम्बे-चौड़े है।

उन्होंने मेरे हाथ से बिस्तर छीनकर खुद बांधा। बिस्तर बँधवाकर एक्के-वाले को बुलवाया। घर मे ताला लगवाने लगे। होली का दिन था ही। सामान सब साथ ही गया था। आठ बजे के पहले हम लोग मकान पहुँच गये। मैं उधर खाना पकवाने लगी। आप दरवाजे पर बैठकर रात को भांडों का नाच होने के लिए इन्तज़ाम कर रहे थे। शाम को मैंने देखा गांव भर के काश्तकार आदि सभी दरवाज़ों पर जमा हैं। लोगो ने जुटकर भांडों का नाच देखा। लोगों के लिए भांग वगैरह का भी प्रबन्ध किया गया था। ऐसा

उत्साह छाया था कि क्या कहूँ। बेटी के बच्चे को गोद मे लिये-इधर-उधर टहल रहे थे। अन्दर आकर बोले—तुम क्यो नही देखती हो? सच कहता हूँ, बडी अच्छी नकल कर रहा है।

मै बोली—तबियत ही नहीं कहती तो क्या करूँ?

आप बोले—सारे गांव की स्त्रियाँ तो आकर तुम्हारे दरवाज़े पर देख रही है और तुम्हें अच्छा ही नहीं लगता।

जब उनका हठ नही टला तो मज़बूरन मुझे जाना पड़ा। रंग से लथा-पथ थे। बच्चे का भी चेहरा अबीर से भरा था। मैने कहा—लडके को भी रंग मे सराबोर कर दिया।

आप हँसते हुए बोले—होली की यही तो बहार है। दिन भर इसी तरह लगा रहा। रात को भी १२ बज गये। वह जीवन क्या था, यही बार-बार मुझे सोच आता है। अब तो जैसे रात ही रात है, जो कटने में ही नही आती। न तो अब वह समय रह गया, न वह उत्साह ही। हाँ, आनन्द के वही अनुभव कुछ-कुछ स्मरण हैं। उन्हीं को सोचती हुई दिन-रात काट देती हूँ। आनन्द अब कहाँ लौटेगा? हृदय की तड़पन बढ जाती है। वही तडपन एक अपनी स्थायी चीज़ है। जिसको शायद ईश्वर भी छीन नही सकता।

प्रेस में हड़ताल : फरवरी १९३३

मेरे प्रेस में हडताल हो गई थी। आप वहां से आये और सुस्त-से बैठे रहे। मै उन्हें उदास देखकर पूछ बैठी कि आपकी तबियत कैसी है?

आप बोले—तबियत तो बहुत अच्छी है।

मै बोली—तो उदास क्यो हैं?

आप बोले—इस प्रेस के कारण मुझे बडी परेशानी रहती है।

मैं बोली—क्या है? बताओ न।

'क्या बताऊँ, मैनेजर और मज़दूरो मे पटती ही नही।'

'वे काम ठीक से न करते होंगे। मैनेजर बेचारा क्या करे।'

'भाई मैनेजर भी तो अपने को खुदा से कम नहीं समझता।'

'खुदा क्यों समझेगा अपने को ? अगर ठीक-ठीक काम न करावे तो आप भी उस पर बिगड़ेंगे।'

'ज़रा-सी बात पर तो लोगों को गैरहाज़िर करता है, पैसे काटता है।'

'तो फिर उसका क्या दोष ?'

'नहीं, मैनेजर की सब शरारत है। कभी घड़ी को सुस्त कर देता है, कभी तेज़ कर देता है। मैंने एकान्त में भी बीसों बार समझा दिया है कि बाबा, ऐसा मत किया कर, पर माने तब न। फिर प्रेस में तो तरह-तरह के घाटे हैं। क्या इन्हीं मज़दूरों के बल पर घाटे पूरे होंगे ? हम लोगों को तो ज्यादा रुपये मिलते हैं, पर ख़र्च भर को पूरा नहीं पड़ता। तब गरीबों को कैसे पूरा पड़ेगा ? पैसों की मुसीबत तो उन लोगों के सिर पर है। इन लोगों की तनख्वाह तब नहीं कटती, जब ये लोग हफ्तों गायब रहते हैं, तब क्यों मज़दूरों की ही तनख्वाह, चार मिनट देर से आयें तो कट जाय ? ज़रा भी गलती कहीं हुई कि चट निकालकर दूसरे को बुला लिया। हमारे यहाँ पढ़ा-लिखा समाज सबसे ज़्यादा खुदगर्ज हो गया है।'

'एक के पीछे आप सारे समाज को बदनाम कर रहे हैं।'

'मेरा कहना तुम सच मानो।'

'तो आप फिर अपने को दोष दीजिए। मैनेजर को क्यों दोषी ठहराते हैं ?'

आप बोले—मैं तो कभी नहीं अपने छोटों से लड़ता हूँ। हर जगह यही अत्याचार है। अगर ये अपने से छोटों को बराबर का समझें तो झगड़ा हड़ताल कभी कुछ न हो। हरकतों से तो इनकी हड़ताल हो, पर बदनामी और हार मेरी हो। अब जब तक हड़ताल ख़तम न होगी, तब तक सारा काम रुका। तबियत उधर लगी रहती है, काम क्या होगा ख़ाक ?'

मैं बोली—आप की तरह मैनेजर भी बैठा रहेगा। ये मज़दूर भी किसी से कम थोड़े ही हैं।

आप बोले—नहीं जी, ये मज़दूरों से बढ़कर है। देखता हूँ बराबर नुक़सान हो रहा है, पर बोलता नहीं हूँ। काम लेने के ढंग भी होते हैं।

मैं बोली—तो आप ही न मैनेजरी करें।

'मेरे कहने का यह मतलब थोड़े ही है कि ये लोग बैठे रहते हैं। पर काम ठीक ढंग से होना चाहिए।'

'मैंने कब कहा कि आप प्रेस खोलें। सब रुपया लगा दिया गया; पर लाभ नहीं नज़र आता। उस पर भी रात-दिन की खिचखिच। सारी बाहर की आमदनी भी इसी में लगी जा रही है।'

'मेरे भाग्य की बात तुम थोड़े ही मेट सकती हो। यों तुम एक पाई किसी को देने से रही। इसी बहाने दस-बीस की रोज़ी चलती है।'

मैं बोली—खूब। रॉड मॉड़ै ही ख़ुश। तब आप नाहक़ क्यों झींकते हैं?'

'मैं झींकता तो हूँ इसलिए कि आख़िर अब वे मज़दूर कैसे रहेंगे?'

'आपसे क्या मतलब? वे रह लेंगे।'

'क्यों नहीं? अफ़सोस करने की बात है ही।'

आप बोले—सुबह से हड़ताल कर दी है। उन्हीं को थोड़े ही कष्ट होगा। एक-एक के पीछे दस-दस आदमी हैं। सब भुगतेंगे।

मैं बोली—तो क्या सब का दु:ख आप अपने ही सिर मढ लेंगे। अगर ऐसा ही था तो आप उन्हें बुलाकर ख़ुद समझा देते।

आप बोले—अभी उनके सिर पर भूत सवार है। वे किसी की सुन सकते हैं?

मैं बोली—वे ख़ुद सँभल जायँगे। आपको परेशान होने की क्या ज़रूरत है?

आप बोले—मुझे इस मैनेजर के ऊपर क्रोध आ रहा है। यह क्यों ऐसी दुष्टता करता है? अगर मैं ख़ुद मज़दूरों से बात करूँ तो इसका भी तो अपमान होता है।

मैं बोली—तो इसका कोई इलाज कीजिए।

आप बोले—क्या करूँ ?

मैं बोली—अच्छा हाथ-मुँह धोइए। पानी पीजिए।

'अरे, मैं तो आज कुछ लाया भी नहीं। झोला भी प्रेस ही में भूल गया।'

मैं बोली—सब कुछ घर में है।

आप बोले—मैं टहलता-टहलता चला जाऊँ। सामान लाऊँ, घूमना भी हो जायगा।

मैं बोली—कोई ज़रूरत नहीं है जाने की।

पहले मैं जिन कामों की आलोचना करती थी, उन्हीं कामों से मुझे अब प्रेम हो गया है। वह बहुत ऊँचे हृदय के आदमी थे। यहाँ तक कि उन मज़दूरों को भी वे अपने समान ही समझते थे। सबकी तकलीफों का ध्यान रखते थे। वे अक्सर अपने को मज़दूर कहते। इन्सान और हैवान में इतना ही फर्क है। मैं उनकी बातों का उद्देश्य अब समझ पा रही हूँ। जैसी हालत ज़माने की होनेवाली थी, सब आपने समझ ली थी। क्या यह मेरे लिए कम दर्द की बात है। मेरे दिल में बार-बार यही उठता है कि वे कोई सन्त थे ?

१९३२

जेठ का महीना था। गर्मी ज़ोरों से पड रही थी। उस साल गर्मी शायद तेज़ थी। मैं गर्मी से बेचैन रुमाल को गीला कर सिर में लपेटकर लेटी थी। आप बाहर से आये। मुझे पडी देखकर बोले—कैसी तबियत है।

मैं बोली—तबियत को क्या हुआ है। अलबत्ता गर्मी बहुत तेज़ है।

आप बोले—हाँ, आजकल ज्यादा गर्मी पड रही है। मैं तुमसे कहता तो हूँ, पहाड पर जाओ तो इन्तज़ाम कर दूँ। दो महीना रहना, फिर चली आना।

मैं बोली—आप चलेंगे ?

'मैं कैसे चल सकता हूँ ? मेरे चलने पर आमदनी की राह बन्द हो जायगी।'

'आप वहाँ भी इसी तरह काम कीजिएगा। काम में तो कोई फ़र्क पड़ेगा नहीं। शायद वहाँ ज़्यादा भी काम आप कर सकें। आप चलें तो मैं चलूँ।'

आप बोले—काम के लिए पूछता कौन है? काम करने के लिए काम भी तो होना चाहिए। बच्चों को लेकर तुम जा सकती हो।

मैं बोली—क्या सबसे ज़्यादा रईसी मुझी को चाहिए? यह सब अमीरों के नख़रे हैं। गरीबों का शिमला और मंसूरी अपना ठंडा घर ही है।

आप बोले—तुम तो एक ज़िद पकड़ लेती हो।

मैं बोली—इस जगह तो दो ही आदमी हैं, मैं और आप। इसमें कौन फ़ैसला करे कि कौन ज़िद करता है, मैं कि आप?

आप बोले—तुम मेरा कहना मान जाओ।

मैं बोली—मैं अकेली नहीं जाऊँगी।

आप बोले—तब तौलिया और रूमाल भिगो-भिगोकर सिर पर रखो।

मैंने कहा—मुझ जैसों की तादाद बड़ी है। आप कहते क्या हैं? मैं अपनी गिनती उनमें क्यों करूँ जो थोड़े से हैं?

क्या वे महान् आत्मा नहीं थे। खुद तपकर दूसरों को ठण्ढक पहुँचाने के लिए उनका प्रयत्न आपने पढ़ा ही। उन्होंने कर्त्तव्य और परिस्थितियों के सामने हमेशा सिर झुकाया; फिर भी कभी उन विषयों पर गिला का एक भी शब्द नहीं निकाला। न चेहरे पर कभी शिकन आई। बल्कि सीना खोलकर उन्होंने बाहें फैलाकर उस पर विजय पाने की कोशिश की। क्या यह एक महात्मा के लक्षण नहीं हैं?

१९३३

दिल्ली में साहित्य-सभा की मीटिङ्ग थी। उसी में आप जानेवाले थे। शाम को चार बजे प्रेस से आये और बोले—सुनो, आज ही पाँच बजे शाम की ट्रेन से दिल्ली जाना है। मेरा बिस्तर बँधवाकर रख देना।

मैं बोली—ऐसी जल्दी क्या पड़ गई। फिर बेटी जानेवाली है।

आपने कहा—अभी तो वह ठहरेगी।

मैं बोली—तो बोलो क्या काम है ?

बोले—जैनेन्द्र का ख़त आया है।

मैं बोली—आप कब तक लौटिएगा ?

आप बोले—तीन-चार रोज़ तो लग ही जायँगे। फिर मैं पहली ही बार तो दिल्ली जा रहा हूँ।

मैं बोली—अगर आप न जायँ तो क्या हर्ज़ है ?

आप बोले—नहीं, जैनेन्द्र को बड़ा दु:ख होगा।

मैंने तैयारी कर दी। आप गये। तीन-चार दिन के लिए कह गये थे, पर लौटे सातवें दिन। मैं परेशान थी। क्योंकि कहीं रुकने का उनका स्वभाव ही नहीं था। बार-बार मुझे यही ख़याल होता था कि वे बीमार तो नहीं पड़ गये। मैंने प्रेस के मैनेजर को बुलाकर कहा कि तार दे दो।

मैनेजर बोला—आप घबड़ाती क्यों हैं ? कल आ जायँगे। मैंने सोचा, पहली बार गये हैं। देर हो गई होगी। तार मैंने नहीं दिलाया, मगर मेरी चिन्ता बढ़ती ही जा रही थी।

आप जब सातवें दिन आये तो मैं क्रोध से बोली—आपको कुछ भी ख़याल नहीं रहता। आप यह सोचने की तकलीफ क्यों नहीं करते कि आख़िर घरवाले क्या कहेंगे ? चार दिन के लिए गये, लौटे इतने दिनों बाद।

आप बोले—पहले बैठकर मेरी रामकहानी तो सुन लो। तब तुमको मालूम होगा कि मैं क्यों नहीं वादे पर तुम्हारे पास पहुँचा। और अगर तुम मेरी जगह पर होतीं तो तुम भी वही करतीं जो मैंने किया है।

मैं बोली—रात-दिन आप कहानी लिखते हैं। एक और सही।

तब आप बोले—यह तुम्हारा ख़याल गलत है। क्या मुझे तुम्हारा ख़याल नहीं रहता ?

मैं बोली—यह तो देख ही रही हूँ।

आपने हँसकर जवाब दिया—पहले मेरी बातें सुनो, तब बोलो।

मै बोली—सुनाओ।

मेरा हाथ पकड़कर बैठाते हुए बोले—मैं यहाँ से चलकर आश्रम से जैनेन्द्र के मकान पर पहुँचा। मेरे जाने के पहले पं० सुन्दरलालजी भी वहाँ पहुँच गये थे। जिस दिन मै गया, उसी दिन शाम को वहाँ मीटिङ्ग थी। तीन दिन तक उसी मे लगा रहा। एक पंजाबी सज्जन का आग्रह हुआ कि आप मेरे यहाँ चलें। मुझी से मिलने वे दो बार लखनऊ आये थे और एक बार बनारस भी। वे बेचारे मेरे लिए व्यग्र थे। और जब मै मिल गया तो फिर लगे मुझे ठहराने। मै जितना ही निकलने की कोशिश करने लगा, उतना ही उनके साथ उलझता गया। वे अकेले ही नहीं मिलना चाहते थे, उनकी बीवी भी मिलने के लिए व्यग्र थी। मैंने बहुत चाहा कि भाग निकलूँ, पर भागना मुश्किल हो गया। मै उनके यहाँ चलने को राज़ी हो गया। उस बेचारी को कैसे निराश करता। मै उनके लिए रुक गया। इसके बाद जो चाहो, तुम सज़ा दे लो। अपराधी तुम्हारे सामने है।

मै बोली—उनका क्या नाम था ?

आपने कहा—क्या बताऊँ। मै तो पहली बार ही उनसे मिला हूँ। उनका कहना था कि मेरी 'मन्त्र' नाम की कहानी पढ़कर उन्हें अपने काम में जी-जान से लगने की प्रेरणा मिली। तभी से वे मुझे ढूँढ रहे थे। जब मिल गया तो कैसे छोड़ते ? मेरे ही कारण उन्होंने सारी मीटिङ्ग की दावत की।

मै बोली—तो फिर आपको तो मज़ा था। मै अलबत्ता यहाँ परेशान थी। मै सोचती थी कि आप बीमार हो गये। परसों मै तार देने को थी। मैनेजर कुछ हिचकिचाया, मै भी रह गई। १॥) जाते, बेवकूफ़ भी बनती।

आप बोले—मै ख़ूब सोच रहा था कि तुम परेशान होगी। अब तुम्हीं बताओ इसमे मेरा क्या क़सूर था।

मेरा क्रोध शान्त हो चुका था। मै बोली—ठीक, आपका क्या दोष ?

'सच कहता हूँ, वे जैसे मेरे लिए पागल हो रहे थे। मेरे पास आने की उन्हें हिम्मत तक न होती थी। मीटिङ्ग में किसी तरह एक मिनट का समय

माँगकर उस भले आदमी ने अपनी बातें कहकर सब पर इसका निर्णय करना छोड दिया। मै विवश था, करता ही क्या ? मेरी रहने की ज़रा भी इच्छा नहीं थी। मगर उसके प्रेम के आगे अपना सिर झुका देना पडा। तिस पर खाट पर पडी हुई उसकी बीमार पत्नी। उसे भी दुःख होता।

मै बोली—लेखकों की बीबियों पर सबसे ज्यादा आफत आती है। उनके घर के आदमी भी पूरे-के-पूरे उनके नहीं होते। यही आफत हमेशा लगी रहती है।

'मैंने सब बातें तुमसे बता दीं। मुझे तो खुद अपना काम करने में बडा रस आता है।' आप बोले।

मैं बोली—आइन्दा ऐसी देर न करना।

आप बोले—नहीं होगी। अच्छा तो तब हो कि तुम साथ में चला करो। न घर में रहोगी, न परेशानी होगी। न मुझे तुम्हारी कोई फिक्र रहेगी, न तुम्हें हमारी कोई चिन्ता।

मै बोली—और बच्चे कहाँ रहेंगे ?

आप बोले—तुम नई-नई बेडियाँ डालती रहोगी तो कैसे शान्ति पा सकोगी।

मै बोली—मै हर तरह परेशान रहती हूँ।

एक दिन वह भी था, जब मेरे पतिदेव मेरे सामने मुजरिम होकर खडे होते थे। इसलिए कि वे महज़ सात दिन हमसे अलग थे। मै भी रूठकर बैठ जाती थी कि मुझे छोडकर ये अलग रहे क्यों ? परेशानी भी होती थी। मै दिन-रात यही सोचती रह जाती थी कि आख़िर वे कैसे होंगे। वही अब मै हूँ। अब न कभी घबराती हूँ, न कभी चिन्तित होती हूँ और न तार ही दिलाती हूँ, न ख़बर ही पहुँचवाती हूँ। और न उन्हें ही मेरी चिन्ता होगी। आख़िर वे तो प्रेम के आगे सिर झुकाते थे। प्रेम निबाहना भी उन्हें आता था, फिर मुझसे क्यो उन्होंने मुँह मोड लिया ? मै ज़रूर अन्धी थी, साथ ही पागल भी। क्योंकि मै उनको पहचान न पाई। इसमें ज़रूर कोई न कोई

सत्य है। शायद ईश्वर भी अपने असली रूप में अपने भक्तों से नहीं मिलता। तभी तो वे सबके थे। अब तो वे किसी के भी न रहे। इन्हीं विचारों में मैं रात-दिन डूबती-उतराती रहती हूँ। मगर मुझे शान्ति नहीं मिलती। जब तक मैं ज़िन्दा रहूँगी, तब तक शायद मेरा जीवन ख़ाली ही रहेगा। मेरी यही स्थिति है।

मई, १९३३

प्रिय रानी, बनारस

तुम्हारा पत्र मिला। आज ही दशरथलाल का भी पत्र मिला है। मैंने बेटी को बुलाने के लिए पहले ही लिखा था और अब भी लिखता हूँ। अगर तुम बेटी को ला सकती हो तो लाओ, मगर यह ख़ूब सोच लो कि बेटी बीमार है। इतनी लम्बी यात्रा, जगह-जगह उतार-चढाव, इसका इन्तज़ाम क्या करोगी। हाँ, तुमने यह कैसे समझ लिया कि बनारस आने पर बेटी का सारा रोग दूर ही हो जायगा। बनारस तो दवा के लिए कोई मशहूर जगह नहीं है। यहाँ दो-चार होम्योपैथ डाक्टर ज़रूर हैं, मगर उस तरह के डाक्टर तो सागर में भी कितने ही होंगे। अगर लखनऊ चलकर दवा कराने का इरादा हो तब तो ठीक है; लेकिन यात्रा की बात है। अगर सफ़र में बेटी की तबियत ज़्यादा ख़राब हो गई तब क्या होगा। तब उस समय कितनी शर्मिन्दगी उठानी पडेगी और कितना दुःख होगा। इसलिए मेरे विचार में जो दवा हो रही है, वह होने दो। अच्छा इलाज काशी में भी नहीं हो सकेगा, इसलिए ज़रूरत है कि वह सागर में रहे। यह समझ लो कि यह प्रसूति-ज्वर है। यह मुश्किल से जायगा। यहाँ कोई दूसरा ईश्वर भी नहीं है। जब हम मजबूर हो जाते हैं, तब सब भाग्य पर छोड़ देते हैं। यहाँ गर्मी भी बेहद है। यहाँ की जलवायु से सागर की जलवायु भी मेरे ख़्याल से ज़्यादा अच्छी है। इसलिए घबराने से काम न चलेगा। भाग्य पर सब छोड़ दो। ऐसी हालत में जब कि बीमारी ज्यों की त्यों है, आगे नहीं बढी। इसलिए

उसके अच्छी हो जाने की काफी उम्मीद है। फिर इन लोगों को यहाँ लाने में उन्हें दुःख भी तो होगा। जब कि उसका रोग घट रहा है।

अच्छा अब यहाँ का हाल सुनो। रामकिशोर आये। और दुलहिन को ले गये। कारण यह कि दुलहिन को यहां चक्कर आने लगे थे। उसी के साथ शीला भी चली गई। घर में इस समय हम तीन आदमी हैं। मुझे दस्त आ रहे हैं। मैं दही और चावल खाके रह रहा हूँ। धुन्नू कभी अपने लोगों के लिए खिचड़ी पका लेता है, कभी रोटी। बहन ससुराल गई है, छोटी भाभी अपने मायके। महराजिन अभी तक कोई मिली नहीं। छोटक के बाल-बच्चे आये थे, मगर एक घण्टा रहने के बाद वे लमही चले गये। फिर उनसे किसी तरह की आशा ही कैसी? वे दुःख में साथ देनेवाले नहीं हैं। आजकल धुन्नू का भी कान ख़राब हो रहा है। वह रोजाना डाक्टर के यहां दवा लेने जाता है।

सबको मेरा यथोचित कहना। और सब कुशल है।

तुम्हारा धनपतराय

शारदा बिल

स्त्रियों के प्रति उनके विचार क्या थे, इन बातों का पता तो पाठक ऊपर की घटनाओं से पा गये होंगे।

आज के सात-आठ वर्ष पहले आपने 'जागरण' में एक लेख द्वारा हरविलास शारदा के समानाधिकार के प्रस्ताव पर बधाई दी थी और लिखा था—मैं आपको दिल से बधाई देता हूँ। स्त्रियां आपकी हमेशा कृतज्ञ रहेंगी। क्योंकि स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर जिस सम्पत्ति को जोड़ते हैं, पति के मर जाने के बाद उन्हीं के गोद के बच्चे उनसे मुँह छिपाते हैं। आपका यह प्रस्ताव जिस दिन पास होगा, करोड़ों महिलाएँ आपको हृदय से आशीर्वाद देंगी और आपकी सदैव कृतज्ञ रहेंगी। उन्हीं के साथ मैं भी आपका कृतज्ञ हूँ। क्या हिन्दू-लॉ में स्त्रियां बेकार चीज़ समझी गई हैं कि जो कूड़ा-करकट

की तरह उन्हें निकालकर बाहर किया जाता है ? भगवान जाने, यह कानून क्यों और किनके लिए बना था। मुझे तो आशा है, कोई भी विचारवान् व्यक्ति इस प्रस्ताव पर असहमति न प्रकट करेगा।

मैंने भी उसे पढ़ा और उन्हें बधाई दी।

आप बोले—मुझे बधाई क्यों दे रही हो ? बधाई तो हरविलासजी को मिलनी चाहिए।

'आपने समर्थन किया। इसलिए आपको बधाई दे रही हूँ।'

जब सब लोग खाना खाकर सो रहे तब 'जागरण' में जो पढ़ा था, उसी पर मैं बातें करने लगी।

मैं बोली—आपने तो शारदा साहब की ख़ूब तारीफ़ की। बोले—नहीं तो ! स्त्रियों के लिए उनके इस प्रयत्न पर मुझे ख़ुशी है, लिख दिया। तुम्हीं बताओ इन देवियों पर किसी नेता या विद्वान् को रहम आया ?

मैं बोली—मनु ने तो लिखा है।

आपने कहा—लिखने से क्या ? आज का क़ानून आज के लिए लागू है। गवर्नमेंट तो नहीं चाहती।

मैं बोली—तब कानून बनाने से भी कोई न मानेगा।

आप बोले—तुम ग़लत कह रहे हो। कानून का डण्डा बड़ा मज़बूत होता है। उसके सामने सभी सिर झुका देते हैं। तब मानने न मानने का सवाल नहीं रह जाता। आज अगर यह कानून पास हो गया तो बड़ा ही उपकार होगा। जो चीज़ धर्म पर छोड़ी जाती है, वह मुर्दा है। उसका होना न होना दोनों बराबर हो जाते हैं।

मैं बोली—दुनिया में क्या हर बेटे नालायक़ होते हैं।

आप बोले—नालायकों को दुरुस्त करने के लिए ही तो ऐसा चाहिए। फिर देखो अभी झगड़ा है। इन पोप-पन्थियों के मारे पास हो जाय तब न।

मैं बोली—आपने तो अपनी ओर से पास ही कर दिया।

आप बोले—तुम लोगों को तो सबसे ज़्यादा बधाई देनी चाहिए थी।

मै वोली—मनुस्मृतिकार ने तो पहले ही लिख दिया है।

आप वोले—वह वहुत दिन की वात हो गई। उसे धर्म-ग्रंथ मानेंगे, पर उसकी वात पर अमल नहीं करेंगे।

मैं वोली—लेकिन क्या सभी वच्चे ऐसे होते है जो ऐसा व्यवहार कर सकते है ?

आप वोले—अगर सव ऐसा करें तो क्या करोगी ?

मै वोली—तुम्हारे पिताजी क्या छोडकर गये थे ? और अपनी मा भी नही, सौतेली थीं, फिर भी वह किस तरह शासन करती थीं, क्या आप भूल गये ?

आप वोले—मुझे छोड दो। तुम अपने ही वच्चों को देख लो। यद्यपि तुम्हारा शासन उन्हीं लोगों की भलाई के लिए होता है ; फिर भी वे तुम्हारी वातो पर ध्यान नही देते। मुझे उन लोगो पर क्रोध आता है। मैने कई वार तुमसे कहा है कि जव वे तुम्हारा कहना नहीं मानते, तव क्यो उन पर हुकूमत करती हो ? उनको मालूम है कि वे कितने प्यार से रखे जाते है। अगर माताओ को उन्ही का सहारा रहा तो वुरी वात है न ? तुमको याद होगा, मैने एक कहानी 'वेटोवाली विधवा' नाम की लिखी थी। वह कल्पित नही थी। सच्ची घटना के आधार पर थी। तुम उसे जरा पढ़ना। हो सकता है कि तुमने पढ़ी हो।

मै झेंपती हुई वोली—भाड में जाय, होगा। मै वच्चों के साथ थोडे ही व्याही गई हूँ। तुम्हारा भी यह कहना है कि मै तुमसे व्याही गई हूँ, न कि वच्चो से।

आपने हँसकर कहा—अव कुछ फीस दो। तुम्हें मैंने कितनी वातें वताईं। दो वीडा पान तो दो।

यें वाते करते-करते वारह वज गये थे। आप वोले—सो जाओ।

आज मैं उन वातो को सोचती हूँ तो कलेजा वैठ जाता है। उनके अभाव से मुझसे ज्यादा देश की हानि हुई है। अभाग्यवश ऐसी संख्या वहुत थोडी

है कि कुछ पुरुषों ने स्त्रियों की उन्नति में भाग लिया है। वे मेरे अकेले नहीं थे। हाँ, मैं भाग्यशालिनी ज़रूर थी। इतना बड़ा पुरुष मेरा होकर रहता था। यह दूसरी बात है कि मैं उनके जीवन-काल में उन्हें पूरा-पूरा नहीं पहचान पाई। मैंने उन्हें पति-रूप में प्राप्त किया था, मेरे वे थे भी वैसे ही सब कुछ। उनको मैं श्रद्धा की चीज़ कैसे मान पाती। वे मेरे बहुत ही निकट के स्वजन थे। इसी कारण शायद मेरी आँखों पर पट्टी बँधी रहती थी। मैं पहचान नहीं पा रही थी।

एक बात और हो सकती है। श्रद्धा और प्रेम साथ-साथ नहीं चल सकते। श्रद्धा सिर झुकाती है, प्रेम हृदय लगाता है। शायद यही बात है कि दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। मैं अगर उनसे श्रद्धा करती होती तो पान-फूल लेकर दौड़ती। वे मेरे लिए बाज़ार जाकर दौड़कर पान-मिठाई न लाते। सोते समय मुझे उठाकर वे गिलास का पानी न पिलाते। मुझे नींद न आने पर मुझे पंखा न झलते। मेरी छोटी से छोटी ज़रूरतों को दौड़कर वे पूरी न करते। तब वे मुझे मिलाने की कोशिश न करते। प्रेम तो उन सबों से, जहाँ ये बातें नहीं, कोसों दूर भागता है। इन दोनों का मेल ही नहीं खाता। आज जब वे मेरे नहीं रहे तो वे मेरी श्रद्धा की चीज़ हो गये हैं। मेरे हाथ अब रह ही क्या गया। जिस कानून पर इतनी बहस हुई थी, वह उनके मरने के चार महीने बाद पास हुआ। वह ऐसी मनहूस घड़ी में पेश हुआ था कि उनके मरने के बाद ही वह पास हुआ। वे उसे पास हुआ देखकर कितना ख़ुश होते, ईश्वर ही जानता है। मैं विमूढ़ हो बैठी-बैठी इन्हीं बातों को सोचती रहती हूँ। बीता सुख जैसे स्वप्न का हो। यही सोचते-सोचते एक दर्द-सा हो आता है। और उसी में थोड़ी देर के लिए अपने को भूल जाती हूँ। वे जहाँ भी होंगे, वहाँ उनकी आत्मा शान्त होगी। मगर यहाँ तो वे अशान्ति ही दे गये। अपने को इस जीवन में शान्ति कहाँ? यहाँ तो बस हाथ मलना है और हाथ कुछ आना नहीं है।

काशी-विश्व-विद्यालय में जलसा

यह सन १९२३ की घटना है। विश्व-विद्यालय में जलसा था। और विषयों के जलसों के साथ-साथ गल्प-सम्मेलन भी था, जिसके सभापति आप थे। मार्च का महीना था। मैं घर में अकेली थी। आप वहां जाने को तैयार हुए तो बोले—तुम भी चली चलो। अकेली भी तो हो। फिर तुम्हारा जाना ज़रूरी भी तो है। पहली मीटिङ्ग ग्यारह बजे से थी। उसके सभापति मालवीयजी थे। दूसरी मीटिंग ढाई बजे से शुरू होती। उससे १॥ घंटे के करीब हमें वहाँ रुकना पड़ता।

आप बोले—तब तक तो मौलवी महेशप्रसादजी से मिला जा सकता है। यहाँ तो तब तक मनहूसियत छाई रहेगी। मैं तैयार हो गई। हम दोनों साथ-साथ वहां गये। इत्तिफाक वे अपनी पत्नी के साथ कहीं बाहर गये हुए थे।

मैं बोली—यहाँ से भी लौटना हुआ।

विश्वविद्यालय-छात्रावास के बगल में एक नहर खुद रही थी। वहीं क़रीब में एक दरख्त था। उसके नीचे हम लोग बैठे। पहली मीटिंग में उनको फूलों का एक हार दिया गया था। उस हार को मुझे पहनाते हुए बोले—लो हमारी-तुम्हारी यह ख़ुशी की शादी रही!

मैं बोली—अभी तक आप क्वांरे थे?

आप बोले—लोगों का क्या ख़याल होता होगा, यह भी तुमने सोचा?

मैं बोली—लोग समझेंगे गंगा-स्नान करके ये लौटे हैं और यहां बैठकर थकान मिटा लेना चाहते हैं।

आप हँसकर बोले—गंगा नहानेवालों में न मैं शरीक किया जा सकता हूँ, न तुम्हीं। देखनेवाले बेवकूफ नहीं होते। और मैंने जो कहा, वही लोग समझेंगे।

हम दोनों नहर के पास घूमने लगे। वहां कई जगह हमने देखा कि युवक और युवतियाँ आपस में हँसी-ठट्ठा करते इधर-उधर चहलकदमी कर

रहे हैं। उनको देखने पर यह मालूम होता था कि जैसे अँगरेज़ों के यहाँ सुनने में आता है, उसी तरह का वातावरण यहाँ भी हो रहा है। आपके चेहरे पर तो जैसे ख़ुशी थी ही नहीं। लटकता हुआ चेहरा देखकर मुझे भी चिन्ता हो आई। बोले—यह गुलाम देश कब सुधरेगा, समझ में नहीं आता। यहाँ नकल करने की आदत यहाँ तक है कि ये दूसरों की नकल करने ही में अपने को विद्वान् और बुद्धिमान् समझते हैं। और वह भी पूरी नकल नहीं अधूरी। ख़राबियों की नक़ल तो ये झटपट कर लेते हैं, अच्छाइयों की ओर झाँकते तक नहीं। उनमें निरी बुराइयाँ ही हों, यह बात नहीं है। जो अँगरेज़ गर्मी में पंखे के नीचे दिन काट देता है, वही उस समय भी, जब कि बाहर आग बरसती रहती है, मीलों उत्साह से दौड़ जाता है। ख़तरे से ख़तरे उसके लिए आरामदेह हैं। यह उनके राष्ट्र के लिए बहुत ही ज़रूरी चीज़ है। उससे तो हम कोसों भागते जा रहे हैं। इसी सबका कारण है कि हम परतन्त्र हैं।

मैं बोली—इस समय आपकी आलोचना से क्या लाभ ?

आप बोले—ऐसे गुलाम देश को विलासता से क्या मतलब ?

मैं बोली—अँग्रेज़ों की तरह रहेंगे, तभी तो आज़ाद होंगे।

आप बोले—विलासिता आज़ादी की दुश्मन है।

मैं बोली—आख़िर अँग्रेज़ भी आरामपसन्द होते हैं; पर वे क्यों नहीं गुलाम होते ?

आप बोले—वे आज़ाद होने के बाद सुख भोग रहे हैं। आज़ाद और सुखी होने के पहले तो ये पशु से भी ज़्यादा काम करते थे। ये जानते तक नहीं थे कि थकावट, आराम और विलासिता क्या कोई चीज़ होती है ? तुम्हारे यहाँ भी विलासिता से आज़ादी कभी नहीं आयेगी। आज़ादी तो मिलती है तपस्या, त्याग और बलिदानों से। तुम्हारे यहाँ तो उसका उल्टा हो रहा है। और यह जो हो रहा है, वह तुम्हें दिन-रात गुलामी की ओर लिये जा रहा है।

मैं बोली—ये सब आदतें बचपन में नहीं आतीं। इन लोगों के हौसले इसी उमर में पलते हैं।

आप बोले—इन्हें तुम बच्चा समझती हो। आज के युग में उमर ही कितनी होती है। क्या इनको नहीं मालूम है कि बहुत लोग रोटियों के भी पैसे बचाकर इन्हें पढ़ाते हैं। इन सबों को देखकर ऐसा लगता है, मानो राजकुमार और राजकुमारियां टहलने निकले हैं। लड़कियों को तो देखो तितली की तरह फुदक रही हैं। यहीं की अपनी आदत के अनुसार घर भर को इसी तरह की बनाने की कोशिश करेंगी। ये यहां सीखेंगी तो क्या, रहे-सहे माता-पिता के गुण ही खोकर जायेंगी। अब इनको शादी के लिए माता-पिता को ज्यादा-से-ज्यादा कीमत देनी पड़ेगी। क्योंकि दूसरे के घर जब तक इन्हें उड़ाने को काफी दौलत न मिलेगी, तो इनका जीवन दूभर हो जायगा।

मैं बोली—ये ग्रेजुएट होकर जाने के बाद क्या कुछ कमा न सकेंगी? और क्या ये बिना शादी के नहीं रह सकेंगी?

आप बोले—जब ये दूसरों के पैसे पानी की तरह बहा रही हैं, तब अपनी कमाई का हिस्सा किसी के लिए ये कब छोड़ सकेंगी।

मैं बोली—आप सुदर्शन जी की कहानी तो जानते ही होंगे। उस कहानी में एक लड़के का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है कि वह लड़का जो कुछ पैसा मांगकर लेता, उसे फौरन ख़र्च कर डालता था। उसका पिता उसकी फिजूलख़र्ची पर दिन-रात चिन्तित रहने लगा। पिता को एक युक्ति सूझी। बोले—बेटा, अब तुम भी कुछ कमाओ। दूसरे की कमाई पर कहां तक मौज करोगे? तीन-चार बार माँगकर अपनी मा से पैसे लाया और पिता को दिखाने लगा तो पिता बोले—कुएँ में डाल आ। उसने दो-तीन बार ऐसा किया भी। पिता को जब मा का देना मालूम हुआ तो उन्होंने उसे पैसे देने से सख्त मना कर दिया। फिर बोले—तुम ख़ुद बाहर से कमाकर लाओ। लड़के ने दिन भर मज़दूरी करके दो आने पैसे एक दिन कमाये और लाकर पिता को दे दिया। पिता ने कहा—कुएँ में डाल आओ। मैं क्या करूं।

लड़के ने कहा—प्राणों की बाज़ी लगाकर तो मैंने कमाये और झट उन पैसों को कुएँ में डाल दूँ ? खूब आप कहते हैं। पिता ने लड़के को छाती से लगाकर चूमते हुए कहा—अब तुम रास्ते पर आये। तुम अपनी मज़दूरी की क़ीमत समझ गये। तो क्या इन लड़के-लड़कियों पर जब बोझ पड़ेगा तो चौकन्ने न हो जायँगे ?

आप बोले—यह जवानी की गंदी आदत है, वह लडकपन की थी। यह तो आदमी को कहीं का भी नहीं रहने देती। एक बात है, तुमने सोचा है ? डाक्टर के यहाँ दवा के लिए रोगी जाते हैं ; उनमें कोई जीता है, कोई मरता है। मरे हुए रोगी अपना अनुभव संसार को बता नहीं पाते। अच्छे हुए रोगी चाहे उसके इलाज से न भी अच्छे हुए हों लेकिन वे दुनिया में उसी का गुण गाते हैं , इसी तरह इनमें दो-चार और अच्छे होंगे। पर सब नहीं। आज समाज की दो प्रणालियाँ हैं। एक तो वे हैं जो बचपन से ही दुनिया को इस तरह ले जा रहे हैं कि हर समय उनको अपने ही काम की धुन रहती है। वे पढते भी हैं तो देश की दशा उनकी आँखों के आगे नाचती रहती हैं। कुछ ऐसे हैं जो विलासिता के गड्ढे में इस तरह डूबे रहते हैं कि उनको बाद में अपना सँभालना ही कठिन हो जाता है। वे दूसरे को क्या सँभालेंगे, ख़ुद नहीं सँभल सकते।

मै बोली—इसका मतलब क्या ? क्या संसार के सभी आदमी साधु होकर सब दिन रहे हैं ?

आप बोले—कुछ दिनों के बाद तो इन्हीं के हाथों राष्ट्र की बागडोर होगी। ये सिरफिरे तब भी आफ़त मचाये रहेंगे।

मै बोली—तब क्या किया जाय ? अच्छे आदमी तो दुनिया में इने-गिने ही तो होते हैं। फिर आप क्यों इतना दुःखी हो गयें ?

आप बोले—गुस्सा क्यों न आये ? ये आख़िर ग़रीबों पर ही तो मँडरायेंगे।

मैं बोली—तो ग़रीब इन्हें क्यों नहीं परख लेते ?

आप बोले—वे सीधे होते हैं। वे काम कर सकते हैं, काम की ग्रीमन नहीं जानते।

मैं बोली—तो फिर कैसे आखिर वे इनके चंगुल में न फँसें। एक बात और है। आदमी अपना खुद मददगार है। अगर वह अपनी मदद नहीं कर सकता तो खुदा भी उसकी मदद नहीं कर सकता।

आप बोले—तब रोना ही क्यों पड़ता। यही बात है कि लोग तकलीफ भोग रहे हैं। यहाँ तो एक बड़े भारी डिक्टेटर की ज़रूरत है।

मैं बोली—ब्रिटिश गवर्नमेंट से बड़ा डिक्टेटर कौन होगा?

आप बोले—तुम नहीं जानतीं, यहाँ तो तुर्की के कमालपाशा की तरह का आदमी चाहिए। जब तक यहाँ कोई वैसा आदमी न पैदा होगा, तब तक तो मुझे शून्य ही मालूम पड़ता है। यहाँ जबर्दस्ती ही कुछ कराया जा सकता है, स्वेच्छा से नहीं।

मैं बोली—तब आप क्यों परेशान हैं? काज़ी परेशान शहर की फिक्र में। कहाँ तो मज़ेदार बातें चल रही थीं और कहाँ यह आफत? और फिर आप अपना काम तो करते ही हैं। दुनियाँ न करे, न करे।

आप बोले—मेरे अन्दर जितनी तड़पन पैदा होगी, उतना ही अच्छा है।

मैं बोली—आपको बल मिलता है और आपके द्वारा लोगों को मिलता है। पर मुझे क्या मिलता है?

× × ×

कई कहानियाँ पढ़ी गईं। आपका भी भाषण हुआ। उस भाषण में उसी जगह की इसी परिस्थिति पर बहुत कुछ बोले। पर वह फटकार लोगों की खुशी को तो बढ़ाती जा रही थी। पर मुझे तो ऐसा लगा जैसे ये लोग अपनी गलती को समझ ही नहीं पा रहे हैं। और साथ-साथ यह भी है कि जैसा जहाँ का वातावरण होगा, वैसा ही वहाँ बनना भी चाहते हैं। मुझे तो उन लोगों की गलतियाँ न मालूम हुईं। वे मजबूर हैं, वहाँ उस तरह का बनने के लिए जवानी की उम्र और पानी का रेला एक तरह का

होता है। जिधर को झुकाव होगा, उधर ही बह जायगा। उनके बदले से, बनानेवाले हों तो क्या देर लगे? उनका बनना बहुत आसान होता है। फिर हमारे यहाँ युवकों को तो एक ख़ास चीज़ सिखाई जाती है: विलासिता, क्योंकि इसमें विलासिता की तरफ़ ले जाने में उसे ज्यादा से ज्यादा फ़ायदा है। वहाँ से आने के बाद कई दिनों तक हम दोनो में इसी विषय पर चर्चा होती रही। उनके विचारों से मुझे ऐसा लगता था कि अगर उनके वश की बात होती तो शायद वे संसार का कायाकल्प कर देते। बराबर इस विषय पर बातें चलतीं। अब न वे है, और...मै तो और भी वह नहीं हूँ। हाँ, ये बातें मेरी आँखों के सामने हुई है। ये बातें उनकी हैं। वे पाठकों के थे, इसलिए मै इन्हें पाठकों को भेंट कर रही हूँ। मै खुद भी अपनी नहीं हूँ।

१९३४

कई रोज़ से सुबह का समय लोगों से मिलने में ही निकल जाता, रात को उठकर काम करते। एक दिन मै बोली—रात को काम करना ठीक नहीं।

आप बोले—तब काम कब करूँ? दिन भर लोगों से मिलने से ही छुट्टी नहीं मिलती।

मै बोली—आख़िर मिलने का कोई समय क्यों नहीं निर्धारित कर लेते? यह क्या कि जब कोई आये उससे आप गपशप करने लगे।

आप बोले—तो क्या करूँ?

मैं बोली—इसका प्रबन्ध तो आप ही कर सकते है।

आप बोले—वे बेचारे इतनी दूर से मिलने के लिए आते हैं और उनसे न मिला जाय तब भी तो नहीं अच्छा होता। यह कैसे सम्भव है कि मै उनसे न मिलूँ।

मै बोली—तो हर समय का यह झंझट ठीक नहीं। जो जब आया उसी से उलझ पड़े।

आप बोले—यह तो बडे आदमियों के लिए है कि उनके मिलने का समय निर्धारित रहे।

मैं बोली—मैं बड़ा आदमी होने के लिए नहीं कहती हूँ, सब काम समय से हो जाने के लिए मैं कह रही हूँ।

आप बोले—यह ठीक है। पर यह बड़े आदमियों के लिए ही सम्भव है। जो मैं खुद बुरा समझता हूँ वही करूँ। फिर वे बेचारे कहाँ जायँ? शुरू-शुरू में कुछ लिखना चाहते हैं। वे लोग बिना पतवार की नाव की तरह हैं। उन्हीं समस्याओं को सुलझाने के लिए वे इतनी दूर से मेरे पास आते हैं। अगर मैं उनसे न बातें करूँ तो वे कहाँ जायेंगे? फिर यह भी तो है कि कुछ दिनों में इन्हीं के हाथ तो साहित्य की बागडोर जावेगी। उनको ठीक-ठीक रास्ते पर ले जाना हम लोगों की ज़िम्मेदारी है। उस ज़िम्मेदारी का पालन ठीक-ठिकाने से न करूँ तो मेरा ही दोष होगा। तब हम उन्हें असाहित्यिक, कुसंस्कारी आदि कहने का अधिकार नहीं रखते। फिर जो गुण जिसे आता हो उसे सबको सिखाना चाहिए।

मैं बोली—सबको सिखाने का ठेका क्या आपने ले रखा है?

आप बोले—भाई तब क्या करूँ? सुबह घूमना भी ज़रूरी होता है। घूमकर आते ही नाश्ता करके काम करने अपने कमरे में बैठ जाता हूँ। खुद भी लिखता-पढ़ता हूँ, साथ ही तुम्हारे बच्चों को भी पढ़ाता हूँ। उसके बाद फिर उठता हूँ, नहाता-धोता हूँ, खाना खाता हूँ। उसके बाद प्रेस जाता हूँ। प्रेस से आने के बाद एक घण्टे तक आकर बच्चों से बात करता हूँ। नहीं वे भी सब बिलल्ले हो जायँ। फिर उसी के साथ-साथ अपनी भी तो थकान मिट जाती है। उसके बाद मुंशी आ जाता है, उसे कुछ-न-कुछ बोलना पड़ता है। फिर नौ बजे उठकर खाना खाता हूँ। एक घण्टा ही बाक़ी बचता है। उतनी ही देर में चाहे जो कुछ पढ़ूँ-लिखूँ। उस पर सरकारी हुक्म है कि दस बजे सो जाओ। सरकारी हुक्म टाला भी जा सकता है पर तुम्हारा तो टाला भी नहीं जा सकता। अब तुम्हीं बताओ इसमें कितना समय मैं निकाल सकता हूँ। 'लीडर' तो मैं प्रेस में पढ़ता हूँ। मेरा तो एक-एक सिकण्ड बँटा हुआ है। मैं तो ईश्वर से मनाता रहता हूँ कि रात छोटी हुआ करे, दिन बड़ा।

मै बोली—आप रात को भी तो काम करते है ?

आप बोले—उठता तो ज़रूर हूँ, पर तुम्हारा डर लगा रहता है कि कहीं तुम जग न पडो। भाई काम कब करूँ अगर रात को न जागूँ ?

मै बोली—इससे तो यह बेहतर होता कि आप अकेले रहते। आपको शादी-ब्याह नहीं करना चाहिए था।

आप बोले—बला तो कुछ भी नहीं है। तुम हो ; घर-गृहस्थी की ओर से छुट्टी पा गया हूँ। पैसा कमाना मेरे लिए कठिन नहीं है। गृहस्थी की गुत्थियाँ मै हर्गिज़ नहीं सुलझा सकता। मै इस मानी में ख़ुश हूँ कि सब बला तुमने अपने सिर ले ली है।

मै बोली—तब तो आप आराम से ही रहते। मैं डाँटने को तो न रहती। आप रात-दिन काम करते।

आप बोले—तुम्हारा ख़याल ग़लत है। तुम नहीं रहती हो तो मै इतना काम नहीं कर पाता।

मै बोली—तो क्या मुझे चिढ़ाने के लिए रात-रात भर जगकर काम करते है ?

आप बोले—अगर कोई खानेवाला न हो तो कमानेवाला गदहा है।

मै बोली—क्यों ? तब तो आराम ही आराम रहता है।

आप बोले—नहीं जी, वह भी कोई आदमी है। वैसो का जीवन पशुओं से भी बदतर हो जाता है।

मै बोली—तब तो सबसे ज़्यादा आफ़त मेरे ऊपर है।

आप बोले—आफ़त की क्या बात है इसमें। तुम्हारी निगरानी ने ही मुझे इस तरह बना रखा है।

मै बोली—लेखकों को बड़ी आफ़त रहती है।

आप बोले—तुम भी तो लेखिका बन रही हो। मना तो करता हूँ आराम से रहो। पर तुम कहाँ मानती हो।

मै बोली—जब आप आराम नहीं करते तो मै क्यों आराम से रहूँ ?

आप बोले—तुम्हारा ख्याल गलत है। मैं उसमें छुटता नहीं। मुझे उसमें आनन्द आता है। फिर अब तो तुम्हें भी थोड़ा-थोड़ा अनुभव होगा।

मैं बोली—रात-दिन काम करने को घुटना ही कहते हैं।

आप बोले—कोई ज़बर्दस्ती थोड़े ही मुझसे करवाता है। अब तुम्हीं से सोच लो। मुझसे जो मिलनेवाले आते हैं उनसे मेरा ही लाभ है उनका नहीं।

मैं बोली—तब तो बहुत ठीक है। लेकिन इतनी मेहरबानी किया कीजिये कि रात को जगा न कीजिए। रात के उठने से बीमारी की शंका मुझे हो आती है।

आप बोले—इसी तरह समझ लो। मैं भी तुम्हारी बीमारी से बहुत घबराता हूँ। तुम बीमार पड़ जाती हो तो मेरा भी सारा काम बिगड़ जाता है।

मैं बोली—मैं काम करने की वजह से कभी बीमार नहीं पड़ी।

आप बोले—साल में तुमको भी एक न एक लगा रहता है।

मैं बोली—कभी पड़ तो मैं नहीं जाती।

आप बोले—मैं ही कब पड़ जाता हूँ।

मुझसे अक्सर इस तरह अनेक विषयों पर उनसे बातें होतीं। मेरे गुस्से का जवाब वे हँसी से देते। मैं आज उन बातों को सोचकर प्राण ग्रहण करती हूँ। पहले क्रोध आता था, आज दुःख होता है।

सन् १९३४, माह मई, काशी।

"हंस" और "जागरण" मासिक और साप्ताहिक दो पत्र निकलते थे, खर्चा बढ़ा हुआ था, बम्बई से फिल्म कम्पनी वालों ने बुलाया। एक मित्र चन्द्रभाल जौहरी से बातें हुईं, उन्होंने भी कहा कि आप जाइये। जब वहाँ नीचे दोनों ने तय किया, उसके बाद मेरे सामने प्रस्ताव आया। आप मुझसे बोले—चलो बम्बई तुमको सैर करा लाऊँ। मैंने कहा—कैसी सैर? आप बोले—फिल्म कम्पनीवाले मुझे बुला रहे हैं।

मैं बोली—फिल्म कम्पनीवाले बुला रहे हैं, यह ठीक है। पर वहाँ की

आबहवा अच्छी नहीं है, फिर आपका हाज़मा कमज़ोर, वहाँ के जलवायु में आप ठीक रह न सकेंगे।

आप बोले—आखिर और लोग भी तो रहते हैं।

मैं बोली—सबके रहने न रहने की क्या बात है, हर एक आदमी अपने अपने सुभीते से रहता है। मैं तो आपका वहाँ जाना अच्छा नहीं समझती।

आप बोले—तुम्हीं सोचो, बिना जाये काम भी तो नहीं चल सकता। यहाँ जो कुछ आमदनी होती है, अपने ख़र्च के लिये हो जाती है। अब यह "हंस" और "जागरण" कैसे चलें? यह भी तो तुम्हारे साथ दोनों बँधे हुए हैं।

मैं बोली—तो फिर इनके लिए भी बम्बई जाना मैं ठीक नहीं समझती।

आप बोले—अब जो इन हाथियों को गले से बाँधा है, तो क्या उनको चारा नहीं दोगी? आखिर इनको भी तो ज़िन्दा रखना है।

मैं बोली—आप जो भी काम करते हैं, जान की मुसीबत मोल ले लेते हैं।

'अरे साहब इन बातों का रोना तो पचासों बार हो चुका है, अब जब इनको बाँध लिया है, तो इनको चलाना ही होगा। और एक बात बताता हूँ, जो वहाँ जाने पर खास फायदा होगा वह यह कि उपन्यास और कहानियाँ लिखने में जो फायदे नहीं हो रहे हैं, उससे कहीं ज्यादा फिल्म दिखलाकर हो सकता है। कहानियाँ और उपन्यास जो लोग पढ़ेंगे, वही तो उनसे लाभ उठा सकेंगे? फिल्म से हर जगह के लोग फायदा उठा सकते हैं।'

मैं बोली—लोग फायदा उठा सकते हैं, उससे मेरा क्या उपकार होगा?

आप बोले—यही तो तुम्हारी ग़लती है। लोगों के उपकार के लिए मैं थोड़े ही लिखता हूँ? अपनी आत्मा की शान्ति के लिये जो कुछ लिखता हूँ, उसको तादाद में जितने ही लोग ज्यादा समझ सकें, देख सकें, पढ़ सकें उतनी ही मुझे ज्यादा शान्ति मिलेगी। और उसके बाद, दूसरा फायदा यह होगा कि "हंस" और "जागरण" के चलाने के लिये मैं ज्यादा रुपया दे सकूँगा। ९ हजार साल वह देने का वादा करते हैं, और इनके साथ, यह भी है कि

बम्बई में एक-डेढ़ साल रहने के बाद, वह मुझे ९-१० हजार घर बैठे देंगे। मैं घर पर बैठ करके उनके लिए यहाँ से कहानियाँ भेजता रहूँगा। बतलाओ साल-डेढ़-साल बम्बई में रहना क्या बुरा है? हमेशा के लिए घर बैठे काम मिल जाय तो क्या बुरा है?

मैंने कहा कि अगर ऐसा है तो चलिए।

आप बोले—अब मैं ज्यादा दिन थोड़े ही काम कर सकूँगा? काम करने लायक यह ५ ६ साल ही और हैं।

मैं बोली—तब क्या आप इतनी जल्दी पेन्शन लेकर बैठेंगे?

'अरे एक चरखा छोड़ूँगा, तो दूसरा चरखा लूँगा। यह पढ़ने-लिखने का काम छोड़कर देहातों में भी तो कुछ काम करने की मेरी इच्छा है।'

मैं बोली—जब आप देहात काम करने जायँगे, तब यह चरखा कहाँ जायगा?

आप बोले—तब तक धुन्नू जो कुछ होना होगा सो हो जायगा, उसी को सब काम सौंप करके हम और तुम दोनों देहात में किसानों का काम करेंगे। क्योंकि जो हालत आज कल काश्तकारों की है, जब तक कोई उनके बीच में रहकर काम नहीं करेगा तब तक उनको सुधारना बहुत मुश्किल है। ज़रूरत है कि खुद उनके बीच में रह करके उनमें काम करे। जो काम उनके बीच में रह करके साल-दो-साल में हो सकता है वह लम्बी लम्बी स्पीचों से काफी दिनों में भी होना कठिन है।

मैं बोली—अगर आप ही काम करेंगे, तो कितने काश्तकारों का सुधार कर देंगे, और कितनों का उपकार हो जायगा?

आप बोले—मैं कई बार कह चुका कि कोई काम किसी के उपकार के लिए नहीं किया जाता है। जो काम आदमी करता है, अपनी आत्मा की शान्ति के लिए।

मैं बोली—मान लो धुन्नू से जो आशा रखते हो, वह न करे, तो आप उसके साथ क्या कर सकते हैं?

आप बोले—मैं उसको कोई अपना बोझ थोड़ा ही दे रहा हूँ, आख़िर वह काम करने के लायक होगा तो काम तो कहीं करेगा ही। तो बाहर की नौकरी से घर का काम लाख दरजे अच्छा होता है। फिर बाहर काम रखा ही कहाँ है। लोग मारे-मारे घूम रहे है।

मै बोली—कुछ भी हो, मान लो वह यह खचड़ा न लेना चाहे तो पहले से किसी से भी आशा रखना बेकार है। जैसे पहले आप अपने भाई को समझते थे, कि बाद को मेरा मददगार होगा। तो उन्होने क्या मदद की? और नहीं तो पढ-लिखकर जैसे ही नौकर हुए, और शादी हुई; शादी तक आपके साथ रहे, शादी हुई, और अलग हुये। अब ऐसा मालूम होता है, जैसे उनसे कोई नाता ही नहीं है।

आप बोले—रानी! भाई तो भाई था, उस पर सौतेला।

मै बोली—तो क्या आपने उनको धुन्नू से कम प्यार किया था? तो फिर धुन्नू से कैसे आशा रखते है?

आप बोले—भाई के साथ दया का प्यार था, लडके के साथ ख़ून का प्यार है। भाई दूसरे का लडका था, लडका अपने ही ख़ून से है। अपने बच्चों के साथ मा-बाप हमेशा ही जीवित रहते हैं। आशा तो यही की जाती है कि जैसे हम तुम है, उसी तरह हमारे बच्चे भी होगे। फिर सोच लो, हमारा बोझ ही क्या उनके सर पर है। एक तरह से फिर भी उनके साथ हमारा उपकार है।

मै बोली—मेरे ख़याल में तो अब किसी से आशा करना बेकार है।

आप बोले—तो मै कहीं दूसरी जगह थोड़े ही जाऊँगा, अपने लमही गाँव में अपना घर बनवा लिया है, उसी में हम तुम रहेंगे। और कभी-कभी शहर आकर के इनका काम भी देख जाया करेंगे। बन्नू है, वह जब तक चाहेगा पढेगा। और फिर तुम्हारे साथ बोझ ही कौन भारी है। वह भी आकर, दोनों भाई मिलकर काम करेंगे, हम भी जो कुछ लिखा करेंगे, इन लोगों के पास भेज दिया करेंगे। अब बतलाओ, तुमको इसमें क्या एतराज है?

मै बोली—अपने काम की जिम्मेवारी दूसरे के सर देना, मैं उचित नहीं समझती। बहुत मुमकिन है, अपने ही बच्चे समझने लगें, कि हम इनको कमा कर देते हैं।

आप बोले —नाम सब मैं अपने ही रक्खूँगा जिससे इनको कहने का यह हक़ ही न होगा। फिर मैं यह भी आशा नहीं करता हूँ कि मेरे लड़के इतने नालायक हों। जब यह नालायक बनेंगे तो मैं इनके कान गरम न करूंगा? मैं यहा तक समझता हूँ कि मैं और तुम जगल में भी रहेंगे, तो भूखे वहाँ भी नहीं रहेंगे, हमारे लोगों के कर्म इतने बुरे नहीं हैं।

मै बोली—तब आपको बम्बई कब जाना है?

वह बोले—इसी पहली जून को हमको पहुँच जाना चाहिए।

मैं बोली—अभी तो हमें इलाहाबाद में दो शादियों में जाना है।

आप बोले—तो मैं पहले अकेला जाऊँगा, जब तुमको शादियों से छुट्टी मिल जायगी तो तुमको भी फिर ले जाऊँगा।

'तो बच्चे भी बम्बई पढ़ेंगे?' मै बोली।

'मै इस विषय में कुछ कह नहीं सकता—वह बोले। वहां जाने पर मालूम होगा।'

मैं बोली—तो क्या आप सोचते हैं कि बच्चों को यहां छोड़कर मै चलूँगी?

आप बोले—तो भाई, मै कहता हूँ न, कि वहां जाने पर ही सब मालूम होगा, कि क्या करना होगा।

उसके बाद जाने की तैयारी होने लगी। जब वहां जाने को तैयार हुए तो रुपए नदारद। जो रुपए पास में थे भी, वह बैंक में थे और साल भर की मियाद पर थे, क्योंकि बैंक से १५००) रुपए क़र्ज भी ले चुके थे। अब रुपए कहां से आयें। प्रेस मैनेजर से पूछा—प्रेस के एकाउन्ट में रुपए हैं?

मैनेजर—एकाउन्ट में रुपए नहीं हैं।

मेरे पास एक मित्र के रुपए रक्खे हुए थे, अमानत के रूप मे। आप बोले—आख़िर वह रुपये तुम्हारे पास रक्खे हुए है उसमें से २००)

निकाल लो। उनसे कह देना, और इसी महीने के बाद रुपए वापस कर दूँगा, तब उनको दे देना।

मैं बोली—मेरी हिम्मत नहीं, कि किसी की अमानत में एक पैसा भी निकालूँ, क्योंकि मैं जाते समय उनके रुपए उनको देती जाऊँगी।

आप बोले—उससें कहने की क्या बात है, यही कह देना, २००) लिया है, अपने खर्च में, इसी महीने के बाद दे देंगे। अभी कोई उनको जरूरत भी नहीं है।

मैं बोली—मैं कुछ भी नहीं जानती और न एक पाई उसमें से छू सकती हूँ। अपने मैनेजर से पूछिये, अगर वह १५ दिन के बाद शादियों में रुपया देने का वादा करें, तो मेरे पास १००) है। वह दे सकती हूँ। आप इन रुपयों के होने की बात सुनकर बोले—यह रुपये तुम्हारे पास कहां थे।

मैंने कहा—घर में थे, और कहां थे।

आप बोले—यह बड़े मौके से तुम्हारे रुपए निकले। आज मैं तीन-चार दिन से रुपए के लिए परेशान था, सोचता था, किससे उधार मांगूँ। किसी से मांगते भी तो नहीं बनता।

मैं बोली—जैसे आज मुझसे कहने लगे, पहले कहा होता, तो मैं पहले ही इस उलझन को हटा देती।

आप बोले—मैं डरता था, सारा क्रोध तुम "हंस" और "जागरण" पर ही उतारोगी।

मैं बोली—आपके "हंस" और "जागरण" की गोया मैं सौतेली मां हूँ।

आप बोले—क्या करूँ, मैं भी तो अपने सिर बेहूदे से बेहूदा रोग पाल कर, हमेशा से जो पालने की आदत है, उसमें तुमको भी लेकर पीसता ही तो रहता हूँ। रोग पालता हूँ मैं, रोग कहूँ या शौक कहूँ, करता हूँ मैं, सभी जाती है तुम्हारे। तुम्हें भी तो हमेशा से इन्हीं परेशानी में डाले रहता हूँ, अब मैं हूँ या मेरी जगह पर कोई दूसरा हो। हमने तो काम लिया, और काम का जिम्मा भी लिया, और आज एक टका भी पास में नहीं है और

तुम अपने पास से फिर भी १००) देने को तैयार हो। इसके लिए तुमने कम से कम १० महीने तो तपस्या की होगी, तब जाकर यह १००) जोड़ पाई होगी। कौन तुमको हम ज्यादा रुपया दिये देते हैं। मगर फिर भी तुमने अपने पास १००) बचा ही लिए। मैनेजर के हाथ में करीब ७००) महीने में खर्च होते हैं। मगर उसके एकाउंट में कुछ भी नहीं, तुम्हारे हाथ में १५०) खर्च होते हैं वहां १००) तुम निकाल सकती हो। तो खर्च करने में तुम कुशल हो या हम ?

मै बोली—अजी साहब, हमारे पास ज्यादा आये होंगे, तभी निकाल सकी हूँ। मैं तपस्या करनेवाली जीव नहीं।

बीस रुपए उनकी जाने की तैयारी में खर्च हुए, अस्सी रुपए उनके साथ में दे दिये। जिस दिन उन्हें बम्बई जाना था, उस दिन रात भर जागते ही रहे, क्योंकि सुबह की चार बजे की ट्रेन पकड़नी थी। जाना दूर था, परेशानी तो कई दिन से थी, मुझे जो परेशानी थी वह तो थी ही, मुझसे ज्यादा वह परेशान थे। बार-बार झुँझलाते थे, और कहते थे कि कहां से यह शादियाँ भी तुम्हारे सर पड़ीं। अभी साथ-साथ सब बच्चों के चलते।

मै बोली—अभी वहाँ मकान भी तो ठीक नहीं है, कहाँ साथ-साथ ले चलते।

आप बोले—चलना होता तो वहां कई मित्र हैं, दो तीन दिन किसी के यहां भी ठहर सकते थे। किसी के मकान में ठहर जाते, और उसी बीच में मकान आदि सब ठीक हो सकता था। यहां अकेली तुम सब बच्चों के रहोगी, मै वहां अकेला रहूँगा, क्या होगा मेरी समझ में नहीं आता। आराम से तो पड़ा ही था। इन लोगों ने मुझे बुला ही लिया। कम से कम इन सब झंझटों से बरी तो थे।

मैं बोली—तो यह रोग अपने आप लिया गया है, या किसी दूसरे ने पैदा किया है ? मैं तो आपसे मना कर रही थी, और आप माने नहीं।

आप बोले—मानता तो बहुत कुछ, मगर काम भी चले तब न।

काम भी तो नहीं चलता था। मजबूरी थी। मजबूरी भी तो कोई बला है।

मैं बोली—जब मना करती हूँ तब मानते भी तो नहीं है, यह सब मजबूरियाँ आपकी ही बनाई हुई है।

आप बड़े सरल भाव से बोले—अब बताओ जब बन गईं, तो मैं क्या करूँ?

मैं बोली—तो अब करना क्या है, अब तो सुबह की गाड़ी से जाना है। सुबह तॉगेवाले ने आप ही आवाज दी, जब आप तॉगे में बैठने लगे, और मैंने उनके पैर छुये, मेरा गला भर आया।

आप बोले—जैसे ही तुम्हारे यहाँ की शादियाँ ख़तम हों वैसे ही मुझे पत्र लिखना, जिससे मैं तुम लोगों को जल्दी से जल्दी लिवा ले जाऊँ।

वह तो चले गये, मैं ऊपर आई, एक घण्टे तक मैं रोती रही। वह महीना-बीस दिन की जुदाई थी, पत्र-व्यवहार तो हमेशा ही होता रहता था। तब वह जुदाई दुखद थी, और अब हमेशा की जो जुदाई हो गई, उसको बड़ी आसानी से, और आराम से बैठी सोच रही हूँ।

उनके पहुँचने का पत्र ७ जून को तहसील सोराम में मिला, जहाँ कि मैं शादी मे गई थी।

वह ४ जून सन् ३४ का था, लिखा था :

प्रिय रानी, शुभ प्यार!

मैं तुमसे विदा होकर बम्बई ख़ैरियत से पहुँच गया हूँ। यहाँ स्टुडिओ का काम भी देखना शुरू कर दिया है। तुम भी सब बच्चो के ग़ालबन सोराम तो ख़ैरियत से पहुँच ही गई होगी। ग़ालबन, बेटी को लेने भी कोई न कोई गया होगा। अब तुम्हारे पास बेटी और ज्ञानू भी पहुँच जायगा। तुम्हारे पास तो सभी होगे, भाई-बन्द, लडके-लडकी, सभी है, और मुझे तो तुम लोगो के बिना इतनी बडी बम्बई होते हुए भी सूनी ही मालूम होती है। यही बार-बार इच्छा होती है कि छोड-छाडकर भाग खडा होऊँ। बार-बार यह झुँझलाहट होती है, कहाँ से कहाँ यह बला भी ले ली। मैंने भी

अभी मकान नहीं लिया है, अभी मकान ले लूँगा तो वह सूना घर मुझे और खाने दौड़ेगा। इस ख़याल से मैं मकान के लिए सोचता ही नहीं हूँ। मकान तो उसी समय लूँगा, जब तुम्हारा पत्र आने के लिए आ जायगा। और मकान ही ले करके सीधा तुम्हारे पास लेने को आऊँगा। मेरी तरफ से बच्चों को प्यार कर लेना, अपनी बहनजी को मेरा सलाम कहना। और लोगों से यथायोग्य। मैं आराम से हूँ, तुम किसी बात की चिन्ता न करना।

तुम्हारा—

धनपतराय

दूसरा पत्र १९ जून लिखा हुआ मिला—

प्रिय रानी!

मैं यहां खैरियत से हूँ। तुम लिखती हो कि २२ जून को शादी है, और दूसरी बहन के यहां जो शादी है वह २८ जून को है। मेरी समझ में नहीं आता कि यह शादियां उन लोगों के घर हैं, तो उसका तावान अकेला मैं हूँ। मैं समझता हूँ कि तुम जौलाई के पहले आने का शायद नाम भी न लोगी। अच्छा बेटी और ज्ञानू आ गया है, यह सुनकर मुझे खुशी हुई। तुम तो इन सबों के साथ खुश हो, इधर मैं सोचता हूँ कि एक डेढ़ महीने कैसे बीतेंगे। इसे समझ ही नहीं पाता हूँ, आखिर काम ही करूँ तो कितना करूँ। आखिर बैल तो नहीं हूँ, फिर आदमी के लिए मनोरंजन भी तो कोई चीज़ होती है। मेरा मनोरंजन तो सबसे अधिक घर पर बाल-बच्चों से ही हो सकता है। मेरे लिए दूसरा कोई मनोरंजन ही नहीं है। खाना भी खाने बैठता हूँ तब भी अच्छा नहीं मालूम होता, क्योंकि यहां साहबी ठाठ-बाट है, और साहब बनने से मेरी तबियत घबराती है। वहाँ होता, ज्ञानू आया था, उसको खिलाता, अब तो वह खूब साफ बोलता होगा। अच्छा बन्नू और धुन्नू का क्या हाल है। बेटी तो अच्छी है न। इन सबों को मेरी तरफ से प्यार कर लेना। यह सब तो खुश होंगे, क्योंकि शादी है। मेरी तो यह समझ में नहीं आता कि जो लोग घर-बार से अलग रहते होंगे, वह कैसे रहते हैं।

मुझे तो यह महीना डेढ महीना याद करके मेरी नानी मरती है कि किस तरह यह दिन कटेंगे। क्या करूँ किसी तरह से काटना होगा। तुम्हारे पास मैनेजर ने रुपये भेजे कि नहीं, लिखना। और हाल-चाल बाद को लिखूँगा। तुम अपनी तबियत का हाल लिखना।

तुम्हारा—

धनपतराय

तीसरा पत्र, ता० २४ जून सन्' ३४:

प्रिय रानी!

मैं ख़ैरियत से हूँ, आशा है कि तुम सब लोगों के साथ ख़ैरियत से होगी। अब तो दो ही तीन दिन में तुम्हारे यहाँ शादी होगी। हां दूसरी शादी जो तुम्हारे यहाँ होनेवाली है, उसमे तो शायद अभी देर है। आज मैने मकान भी लिया है, शायद मैं कल अपने मकान में आ जाऊँगा। पचास रुपये महीने का मकान लिया है, एक नौकर १२) और खुराक पर रक्खा है, वह सब काम कर लेता है। मेरा ख्याल है कि पहली जौलाई को तुम्हारे यहां पहुँच जाऊँगा। तुम्हारे यहाँ तो काफ़ी चहल-पहल होगी। और धुन्नू तो फेल हो गया। ख़ैर कोई अफ़सोस की बात नहीं है, फेल, पास तो लगा ही रहता है, फिर भी अपने बच्चो का फेल होना अच्छा नहीं मालूम होता। रजीदा होतो समझा देना, गलती उसी की है। यह एक पत्र उसके लिए भी लिख रहा हूँ उसे दे देना। अच्छा बन्ना और बेटी आदि को प्यार कहना। मैने। उस पत्र मे पूछा था कि ज्ञानू बोलता है या नहीं। तुमने कुछ लिखा नहीं, अबके लिखना। अपनी बहनजी और लोगो को मेरा सलाम कहना, बच्चों को प्यार।

तुम्हारा—

धनपतराय

१ जौलाई सन्' ३४:

प्रिय रानी!

मैं ख़ैरियत से हूँ, आशा करता हूँ कि तुम भी ख़ैरियत से होगी। मुझे

उम्मीद है कि मै १५ जौलाई को तुम्हारे पास पहुँच जाऊँगा । बेटी को अभी बिदा न करना, मैं उसको अपने साथ लेता आऊँगा । बच्चों को पढ़ने के लिए मेरे ख्याल से प्रयाग में अच्छा होगा । बच्चों का वहीं नाम लिखा देना, वह दोनो आराम से वहां पढ़ेंगे, तुमको और बेटी को यहाँ ले आऊँगा । बच्चों के यहां नाम लिखाने से मै यहां बँध जाऊँगा, और मैं कहीं बँधना नहीं चाहता । अभी मै यहां रहने का निश्चय नहीं कर सका हूँ । इसलिए यहां लड़को का नाम लिखाना ठीक नहीं होगा । उनका वहीं रहना ज्यादा ठीक है । बाद को उनकी पढ़ाई में गड़बड़ी हो जाने का डर है । तुम अपने खत में यह लिखोगी कि मै खुद रह करके बच्चों को यहीं पढ़ाऊँ । इसके लिए मै यह लिखता हूँ कि बच्चों को सबसे ज्यादा रुपयों की ख्वाहिश होती है, वह मै उनको सौ रुपया महीना देता रहूँगा । वह आराम से वहाँ रहेंगे । उनको ज़रूरत न मेरी है न तुम्हारी । अब इसके जवाब में तुम लिखोगी, कि तुम्हीं मुझे क्यों चाहते हो । अब इसके उत्तर में मै लिखता हूँ कि मै खुद ही नहीं जानता कि तुम्हें क्यो चाहता हूँ । मगर चाहता हूँ, यह जानता हूँ । बल्कि यह कहता हूँ कि उपासक हूँ, तुम्हारे बिना मुझे अकेले रहना दूभर हो रहा है । तुम दोनो बच्चो को इलाहाबाद में ९ तारीख को नाम लिखा दो । और हाल बाद को लिखूँगा ।

तुम्हारा—
धनपतराय

/

१५ जौलाई सन् १९३४

प्रिय रानी ! प्यार ।

मै अच्छा हूँ, आशा करता हूँ कि तुम लोग भी सब अच्छे होगे । बच्चों का नाम कायस्थ पाठशाला मे लिखवा दिया, यह ठीक है । उनका बोर्डिंग हाउस का भी तो इन्तजाम हो गया । धुन्नू का पत्र आया था। तुमने जो रुपए उसको दिए थे कम पड़ गये, आज मैने उसको १००) भेजे हैं ।

मैं शायद २० तक आऊँ, और तुम लोगों को लेने ही आऊँगा। उस समय तक तुम तैयार रहना। बेटी और बिन्नू तो शायद तुम्हारे ही पास होंगे, इन लोगों को मेरा प्यार कहना। और सब बातें तो जब आऊँगा, तब बताऊँगा। यह पत्र जब तक तुम्हारे पास पहुँचेगा, तब तक मैं भी शायद तुम्हारे पास पहुँच जाऊँगा।

तुम्हारा—

धनपतराय

आप २५ जुलाई को काशी आये। पानी खूब जोरों से बरस रहा था। सुबह ४ बजे की ट्रेन से उतरे थे। बुरी तरह भीग गये थे। मैंने नमस्कार करके पूछा--अच्छा आप इस बुरी तरह भीग कैसे गए? आप हँसकर बोले—तुम समझती थीं कि तुम जो कोठे पर सो रही थी, सो हर जगह कोठे ही बने हुए हैं, मैं स्टेशन से घर तक आने में भीगा हूँ। और पानी कैसा तेज़ है, क़ई बार तुमको आवाज़ देने पर तो तुम सुन पाई हो।

मैं बोली—अच्छा तो आप कपड़े बदल डालिए, कहीं ज़ुकाम न हो जाय।

मैं ख़ुद ही उनका होलडाल खोलने लगी। कहने लगे—मैं निकाले लेता हूँ, तुम से नहीं खुलेगा, क्यों परेशान होती हो। कपड़े बदले। कुछ दुबले हो गए थे।

मैं बोली—तबियत कैसी है?

आप बोले—अच्छी है, अच्छा तो हूँ। तुम कहो, तुम्हारे यहाँ क्या हालचाल है।

मैं बोली—लड़कों का नाम तो लिखा ही चुकी हूँ, जो तुमको मालूम ही है।' बेटी, मैं, और ज्ञानू यहाँ हैं। आप कै दिन की छुट्टी लेकर आये हैं।

आप बोले—चार-पाँच दिन की लेकर आया हूँ।

मैं बोली—आप को बम्बई कैसा लगा?

आप बोले—बम्बई कैसा लगा, अच्छा है।

मैं बोली—अच्छा वह कम्पनीवाले कैसे हैं ?

आप बोले—कैसा बताऊँ, फिल्म संसार दूसरा ही संसार है। वहाँ तो साहब ही साहब हैं। मेरे साथ तो उन लोगों का व्यवहार बहुत अच्छा है। मैंने मकान भी ले लिया है, जो तुमको लिखा था, अब चलो, तुम भी चलो तो कुछ अच्छा मालूम हो। जैसे बनारस में था, घर से प्रेस जाता था, और घर पर बैठकर काम करता था, उसी तरह स्टूडियो जाता हूँ, और घर पर बैठकर काम करता हूँ। लेकिन यहाँ तो सबके साथ था, और शौक से था, जी नहीं घबराता था, वहाँ तो रात-दिन काम ही काम है। बम्बई तो उन लोगों के लिए ज्यादा दिलचस्प हो सकता है, जो सैर तमाशा के शौकीन हों। मेरे लिए, जैसे मियाँ की दौड़ मसजिद तक, स्टूडियो जाना और घर पर बैठ कर काम करना, मेरी तबियत तो वहाँ घबराती थी।

मैं बोली—बच्चों का नाम लिखाने के लिए आपने ठीक ही नहीं किया।

आप बोले—कैसे ठीक करता, बच्चों का नाम लिखाने से मैं वहाँ बँध जो जाता, और न बँधता तो लड़कों की पढ़ाई चौपट होती। अब बच्चे यहाँ पढ़ते हैं, हम तुम वहाँ रहेंगे। जब हमारी इच्छा होगी, छोड़-छाड़कर अपने अड्डे पर फिर बैठ जायेंगे। वहाँ से आने में कोई झंझट नहीं होगी।

दूसरे दिन इलाहाबाद से दोनों बच्चे भी आ गए, और काफी चहल-पहल हो गई। मगर वह चहल-पहल स्थायी न थी। बच्चों के दिल में यह ख्याल था ही, कि अम्मा और बाबूजी दोनों चले जायेंगे। हम लोगों के दिल में कोई खुशी न थी। क्योंकि हमको यह चिन्ता थी कि अब बच्चे छूट जायेंगे। आपने घर में चारों तरफ देखना शुरू किया। बोले—अच्छा, भूकम्प में तुम्हारे घर का भी काफी नुकसान हुआ है ?

मैं बोली—१५ दिन से मजूरे लगा रखे है, तब जाकर मरम्मत हो पाई है।

आप बोले—बहुत से लोगों के मकान गिर गए, तुम्हारा फट ही गया तो क्या नुकसान हुआ।

मै बोली--तो मै कुछ कहती थोडे हूँ, ख़ैर जो हुआ, सब अच्छा ही होता है।

उसके तीसरे दिन हम लोग बम्बई जाने के लिए तैयार हुए, साथ में दोनों लडके थे, और बेटी, ज्ञानू, हम दोनो थे।

जब इलाहाबाद के स्टेशन पर पहुँचे, मैने खाना खोला, और सोचा कि बच्चो को कुछ खाना खिला दूँ। जैसे ही दोनो बच्चो को खाना खिलाने के लिए बिठाला, वैसे ही गाडी ने सीटी दी। मैने खाना समेट करके, एक रूमाल में बाँध दिया, छोटे बच्चे बन्नू से कहा कि बेटे! इसको अपने साथ में लेते जाओ, बोर्डिङ्गहाउस मे पहुँच कर दोनो भाई खा लेना, क्योकि रात के दस बजे वहाँ खाना थोड़े ही मिलेगा, और पहुँचते-पहुँचते ग्यारह बज जायेंगे।

बन्नू हाथ का खाना उठा करके, पैर छूते समय रो उठा क्योकि वह तेरह साल का बच्चा था। पहली बार तो हम लोगो से जुदा हो रहा था, और सबसे छोटा बच्चा, रोना तो मुझे भी आता, मगर मै अपनी तबियत कडी किए हुए थी, कि बच्चो के सामने कैसे रोऊँ? यह सब परेशान हो जायेंगे। ख़ैर बन्नू तो हम तीनो के पैर छूता हुआ, रोता हुआ गाड़ी से उतर गया। आपने उसको समझाया—देखो रोना मत, आराम से दोनो भाई रहना, दोनों भाई साथ-साथ पत्र लिखना, और फिर अब तुम दशहरे पर आना, आराम से रहना।

ख़ैर बन्नू तो गाडी से उतर गया, मगर धुन्नू खिडकी छोडता ही न था।

आप बोले—खिडकी छोड दो, जाओ तुम रो क्यों कर रहे हो? तभी तीसरी बार गाडी ने फिर सीटी दी।

आप बोले—भाई गाडी छोड़ दे, क्यो देर कर रहा है। धुन्नू ने नीचे से ही सलाम किया और चला गया।

मै बोली—पानी तो रखा ही है, आप खाना खा लीजिए।

आप बोले—मेरी खाने की तबियत नहीं है। ज्ञानू सो गया क्या?

मैं बोली—कहीं तो नहीं सो गया, मेरी गोदी में बैठा तो है।

कहने लगे कि इसको मुझे दे दो। उसको गोदी में ले लिया, ऐसा मालूम होता था कि दोनों बच्चों की कमी उस बच्चे से पूरा करना चाहते हैं। उसको रास्ते भर अपने ही पास रखे रहे, चाय और दूध लेकर बीच-बीच में उसको पिलाते जाते थे। क्योंकि एक ही डिब्बे में हम सब लोग बैठे थे। बेटी शरमाती थी। बच्चे को बराबर अपने ही पास रखा, जब तक घर नहीं पहुँच गए। और वह भी, मैं या बेटी उसे ले लेती तो रोता था। हम लोगों ने बनारस में खाना खाये-खाये दूसरे दिन दो बजे इटारसी में खाना खाया। तीसरे दिन सुबह दादर पहुँचे, मगर इस तीन दिन के सफ़र में कोई खुश न था। और खुश कैसे होता? यह तो वही लोग अनुमान कर सकते हैं, जिन्हें पहली बार चार-छ महीने के लिए अपने बच्चों से दूर होना हुआ होगा। मैं थी मा, वह पिता थे। और वह बड़ी बहन थी। हम तीन आदमी एक जगह जा रहे थे। वह दोनों बच्चे अलग, जहाँ दो में से एक भी साथ न थे, न बाप, न मा। ऐसी हालत में हम लोगों का दुखी होना लाज़मी था।

जब हम अपने घर दादर में चार बजे सुबह पहुँचे, पानी उस समय भी तेज़ी से बरस रहा था। पानी से बचने के लिए, विक्टोरिया को भी चारों तरफ से बन्द कर लिया था। इस लिए उस समय मैंने कुछ देखा न था, कि हम कहाँ जा रहे हैं।

१९३५

दोनों लड़के पढ़ने के लिए प्रयाग जा रहे थे। मैं और मेरी जेठानी तथा आप लड़कों को पहुँचाने बाहर निकले। बन्नू जाते समय दुखी होकर नमस्कार करने लगा। धुन्नू अपना धीरे से गाड़ी पर बैठ कर चलने के लिए तैयार हो गया। जब वह चला गया तो बोले—धुन्नू बड़ा बदतमीज़ है। न यह किसी की इज्ज़त करता है न मोह।

मैंने कहा—हुआ क्या?

बोले—तुमने देखा नहीं ? हम तीनों को नमस्कार तक नहीं किया। जैसे कोई नाता ही नही हम लोगों से।

मै बोली—कालेज में पढ रहा है न।

आपने कहा—नहीं जी अंग्रेजो मे यह बात नहीं है। तुम ग़लती कर रही हो। आज कोई अंग्रेज लडका अपने मां-बाप को छोडता होता तो इस तरह थोडे ही चला जाता। वह सबको बारी-बारी से प्यार करता। उनके यहाँ बाप का चुम्बन करना बहुत अच्छा समझा जाता है। हम लोग उन्हें जैसा हृदयहीन समझते हैं वस्तुतः वे लोग वैसे होते नहीं। हाँ नालायकों की कमी वहाँ भी नहीं है।

मै बोली—आख़िर लडका ही तो है।

बोले—जाने देने की बात मै नहीं कर रहा हूँ। मुझे यह बुरा लगता है कि आदमी अपनी ड्यूटी से क्यो अलग होता है ? मै यह थोड़े ही कहता हूँ कि इससे कुछ हो गया। हाँ, इतना जरूर हुआ, हमारे अन्दर का प्यार उसने ठुकरा दिया।

मै बोली—नुकसान क्या हुआ ?

आप बोले—प्रत्यक्षत. शायद नुक़सान न हुआ हो, पर स्नेह पर धक्का लगा।

मै बोली—ख़ैर।

बोले—सबसे ज्यादा भाग्यवान् आदमी वह है जिसे सब कोई प्यार करे। प्यार के आगे दुनिया की सारी चीजें फीकी पड जाती हैं।

मै बोली—ख़ुद समझ आ जायगी।

आप बोले—अरे ठीक तो हो ही जायगा। मैं तो कह रहा हूँ प्रेम के बदले में प्रेम मिलना चाहिये। अगर लडके अपने से बडों का पैर छूते हैं, तो उस समय बडों की शुभ कामनाएँ उन्हें मिलती हैं। वे ही शुभ-कामनाएँ आदमी को आदमी बना देती हैं।

मैं बोली—तो क्या ये लोग जानवर हैं ?

बोले—जानवर नहीं हैं, फिर भी जब इनका दिल इन भावनाओं से खाली है तो जानवर ही समझो।

मैं बोली—जाने दीजिये।

बोले—सो तो हई है। यों ही कह दिया।

मेरी समझ में नहीं आता, कि उस कलाकार की दृष्टि कितनी सूक्ष्म थी। जो आदमी सब विषयों का ज्ञान रखता हो और सब पर दृष्टि रखता हो उसके विषय में एकतरफा डिग्री नहीं दी जा सकती। जितनी बातें हुई सब देखने में मामूली हैं, पर इन्हें सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर बड़ी तत्व की लगती हैं।

अपने घर पर पहुँचने के बाद, ग्यारह बजे खाना खाकर आप स्टूडियो जाने के लिये जैसे ही तैयार हुये, वैसे ही पड़ोस के एक गुजराती सज्जन जिनके बूढ़ी मा थी, बोले—बाबूजी, सबको लिवा लाये?

'हाँ लिवा लाया, सब था ही कौन? हमारी लड़की आई है, और वह आई हैं। बच्चों को इलाहाबाद पढ़ने के लिए छोड़ आये हैं।'

'आइए! आइए!! हमारे घर पर।'

'अब हम तो दफ्तर जा रहे हैं।' मुझसे बोले—देखो जी! यह माँजी तुम्हारी बहुत याद किया करती थीं।

मैंने उनको बुलाया, और आप दफ्तर चले गये। हमसे उनसे बहुत देर तक बातें होती रहीं, शाम को जब वह ४ बजे स्टूडियो से लौटे, तो देखती हूँ भीगे-भागे, साथ में दो चारपाई लिवाये चले आ रहे हैं।

मैं बोली—आप फिर भी भीगते हुए आ रहे हैं, कौन ऐसी चारपाई की जल्दी थी।

आप हँस कर बोले—यह क्यों नहीं पूछती हो कि तुम्हारा छाता क्या हुआ?

मैं बोली—वाकई में छाता कहाँ गया?

आप बोले—मुझे जल्दी थी कि चारपाई भी साथ में लेता चलूँ, उसमें जल्दी में छाता दफ्तर ही में भूल गया।

मैं बोली—ऐसी जल्दी क्या थी, कि पानी बरस रहा है, और आदमी छतरी भूल आये। यह तो कोई तुक नहीं है।

आप हँसकर बोले—तुक क्यों नहीं है। दो महीने अकेले बम्बई में रहते-रहते, जो आदमी घबरा गया हो, उसके घर में अगर बीवी-बच्चे आ जाएँगे तो उसको खुशी नहीं होगी? उसी खुशी में भूल हो गई है। और घरबार का इन्तजाम भी करना था, चारपाई आप लोगों के लिए ही तो लेने गया था।

मैं बोली—यह तो अच्छी खुशी है कि, तावान के ऊपर तावान पड़े, फिर भी कहें खुशी है।

'तुम तावान पर तावान कहती हो, यहाँ शादियों में हजारों के वारे-न्यारे लोग करते रहते है। आतिशबाज़ी और राग-रंग में, और जिसमें उनको मिलता क्या है? एक बीवी। फिर आज मेरे घर में तो तुम हो, बेटी है, ज्ञानू है, तीन आदमी आए हैं। तब भी न खुश होऊँ। इसके मानी यह हैं कि मै ऐसा बदकिस्मत हूँ कि मुझे किसी बात में खुशी न हो। मैं ऐसा नही हूँ, मुझे जो कुछ ईश्वर देता है, मै उसमें खुश हूँ।

मैं बोली—तभी तो एक मजे का मसला है कि—"फूले-फूले दुलहा फिरत है होत हमारो व्याह। पाँओ बेड़ी पड़त है, ढोल बजाय बजाय।" यह मसला आप पर लागू हो सकता है।

आप बोले—मुझी पर क्यों लागू हो सकता है, सौ मे निन्यावे ऐसे हैं। तुम्हारे यहां के ऋषि-मुनी भी ऐसे हृदयहीन नहीं होंगे, जो इसको बेड़ी समझे थे। फिर मैं तो एक मामूली आदमी हूँ, मै तो खुश हूंगा ही। रोज जब आता था, लगता जैसे घर में मुहर्रम छाया रहता था। आज घर में काफी चहल-पहल है।' आप कपड़े भी बदल न पाये थे, और ज्ञानू 'बाबू जी' 'बाबू जी' कह कर पाँव पकड़ने की कोशिश कर रहा था।

आप किसी तरह कमर मे धोती बाँधते हुए बोले—अरे, बदमाश! धोती तो बदल लेने दे।' और उसको गोद में उठा लिया। तब तक बेटी

ने भीतर से नाश्ता ले आकर मेज पर रख दिया। खुद भी खाते जाते थे, और थोड़ा-थोड़ा बच्चे के मुँह में भी देते जाते थे। वह मुझे भी खिलाने की कोशिश करते थे। मगर मेरी तबियत कोई १५ दिन तक, गोई-गोई-सी रहती थी, तबियत लगती न थी।

इसके बाद जब आप खाना खा रहे थे, स्टूडियो से कई मित्र मिलने आए। अपनी स्त्रियों के साथ थे। आप खाना खा रहे थे, नौकर खाना बना रहा था। ज्ञानू भी उनके साथ में बैठा हुआ था। पास ही में मैं भी बैठी कुछ गप-शप कर रही थी। वह लोग आये और सीधे चौके में चले आये। और बड़ी ज़ोर से सब हँसकर बोले—अच्छा! आप इस तरह खाना खिलाती हैं, तभी तो आपकी गैरहाजिरी में आप भर-पेट खाना नहीं खाते थे, तभी तो हम लोग इनसे कहते थे कि आखिर वह कैसे खाना खिलाती हैं।

मैं बोली—कुछ नहीं जी। आप हमेशा बच्चों के साथ रहे हैं, इस वास्ते आपको बगैर बच्चों के अच्छा नहीं लगता था।

ज्ञानू पास बैठा था। वे बोले—यह आपका छोटा बच्चा है?

आप बोले—यह मेरी लड़की का लड़का है।

वह लड़की का लड़का नहीं समझ पाये। तब आप अंग्रेजी में बोले 'गर्ल्स सन'।

अब आप खाना खा चुके थे। सबको लेकर अपने मरदाने कमरे में गये। कुछ देर तक इसी तरह गप-शप होती रही। वह लोग बातें करते थे, मुझे झेंप मालूम होती थी।

जब वह लोग चले गए, और मैं और आप रह गये, मैं बोली—आप भी खूब हैं, इन लोगों से ऐसी बातें आप क्यों करते हैं। वह कह रहे थे, और मुझे झेंप मालूम हो रही थी।

आप बोले—इसमें झेंप लगने की कौन-सी बात थी? यह लोग तो साहब हैं। इन लोगों को क्या मालूम है कि घर-गिरस्त आदमी

कैसे रहते हैं। अरे, नौकर ने बना दिया और साहब लोगों को दे आया, लोगों ने खा लिया। इन लोगों को क्या मालूम है कि जब घर की स्त्रियाँ खाना पकाती हैं और अपने हाथों से परोस कर खिलाती हैं, उसमें कितना प्यार रहता है, और उस खाने मे कितना ज़ायका रहता है। इन लोगों के जीवन में तो जितने काम होते है, वह सब हवा ही पर होते हैं, और उसी जीवन में यह खुश भी रहते हैं और साहबियत के पीछे तो जैसे जी-जान से पड गये है और भारत की सभ्यता से जैसे कोसों दूर भागते हैं।

मै बोली--तो वह भी आपको जाहिल या गँवार समझते होगे।

आप बोले—वह कुछ भी समझें, मगर वह इन्सानियत से बहुत दूर जा रहे है। और मै तो यह कहता हूँ कि घर की रूखी रोटियों में जो लज़्ज़त है, वह कितना ही होटल में अच्छा खाया जाय, तब भी वह लज़्ज़त नहीं मिल सकती।

मै बोली—कुछ भी हो, मेरी हँसी उडवाते हैं, जो मुझे अच्छा नहीं लगता। घर की बात घर तक ही रखनी चाहिए।

आप बोले—घर तक ही रखने में हमारे इस आनन्द को ये लोग कभी ख़्वाब मे भी नहीं पा सकते। और इन लोगों में क्या है? स्त्री, पुरुष, या घर के और आदमी जैसे कि भाडे के टट्टू हों, अपने-अपने काम से आये, खाना खाया, और खा-खाकर पड रहे। इसको बोर्डिङ्ग-हाउस या होस्टल कुछ कह सकती हो। अगर इन लोगों में कोई सुखदाई चीज़ है, तो वह है रुपया। इनके पास प्रेम और मुहब्बत के लिये कोई स्थान ही नहीं। जैसे सब के साथ रहने की खुशी नहीं, और जुदाई का कोई रंज नहीं।

दशहरे की तातील में लडकों का जबलपुर से तार आया, हम लोग आ रहे हैं। तार में दादर स्टेशन लिख दिया था। रात ही को तार मिला था, आप मुझसे बोले—सुबह स्टेशन जाना है। सुबह की ट्रेन से धुन्नू, बन्नू आ रहे हैं।

मैं बोली—सुबह ?

'हाँ, हाँ, गाड़ी पर से तार दिया है।'

आप सुबह हाथ-मुँह धोकर तैयार हुए थे। मैं जैसे ही नहाकर बाथ-रूम से निकली, वैसे ही बेटी बोली—अम्मा सूबेदार मैना मर गये।

मुझे मालूम था कि वे सुबह बच्चों को लेने स्टेशन जा रहे हैं। उनकी मेज पर पैसे रखती हुई मैं नीचे उतर गई। वहाँ देखा कि स्त्रियों और पुरुषों की काफी भीड़ लगी हुई है, और सब रो रहे हैं। मेज़ पर पैसे उसी तरह छोड़कर आप भी नीचे उतर गये। कोई एक घंटे तक वह भी खड़े रोते रहे, उसके बाद स्टेशन गये, वहाँ बच्चों की गाड़ी पहले ही निकल चुकी थी। आप लौट आये, मालूम हुआ कि बच्चे नहीं आये। मगर परेशान थे कि गाड़ी पर से तार दिया, आखिर बच्चे गये कहाँ। इसी परेशानी में नौकर से कहा—ज़रा तुम तो जाकर देखो कहीं स्टूडियो तो नहीं चले गये। नौकर गया।

स्टूडियो में मालूम हुआ कि श्रीपतराय दादर के स्टेशन पर हैं। नौकर ने बच्चे की हुलिया बता दी थी। नौकर गया और सबको साथ लिवाकर चला आया। तब जाकर आप नहाये और खाना खाया। मुझसे बोले—मेरी तबियत बहुत परेशान थी कि आखिर बच्चे गाड़ी से कहाँ चले गये।

चार-पाँच दिन के बाद हमारे दामाद का तार आया, वह भी आ रहा था। शाम को धुन्नू से बोले—भाई तुम जाना, सुबह जाकर अपने जीजा को लिवा लाना। मैं तो तुम लोगों को लेने गया, तुम लोग मिले ही नहीं, अब तुम्हीं जाकर उनको लिवा लाना।

मैं बोली—नया शहर है, कहीं यह भी न खो जाय, कहीं दो जनों को न ढूँढना पड़े।

आप बोले—नहीं, धुन्नू इतना बेवकूफ नहीं है।

वाकई जब धुन्नू लेने गया, तब वह भी नहीं मिले। वह भी सीधे स्टूडियो गये। आप ने जब धुन्नू को देखा, तो बोले—अच्छा, तुमने भी

वही किया जो मैंने किया था। ये बातें हो ही रही थीं कि इसी बीच मे आप बोले--चलो भाई, छज्जे पर खड़े हो, शायद आते होंगे तो देख तो लेंगे। ख़ैर इत्तफाक से जिसके लिये वह लोग खड़े हुए थे, उसको देख लिया। धुन्नू को नीचे दौड़ाया और आपने ऊपर से आवाज़ दी--आओ! यही मकान है। जब ऊपर वह भी आ गये, तब बोले--न मालूम तुम लोग कैसे आते हो, उस दिन धुन्नू-बन्नू को लेने मै गया, तब वह लोग नहीं मिले। आज वह लोग तुमको लेने गये, तुम नही मिले।

'मै तो गाड़ी से उतरने के बाद स्टेशन के बाहर कुछ देर तक खड़ा था, उसके बाद मै स्टूडियो चला गया। स्टूडियो के आदमी, मुहल्ला तो जानते थे, मगर मकान उनको भी नहीं मालूम था। एक दफे मै इसी दरवाजे पर से निकल गया हूँ, दुबारा फिर लौटा हूँ। वह तो इत्तफाक से आपने देख लिया।

आप बोले--राम! राम!! व्यर्थ की परेशानी तुम लोगों को हुई।

मै बोली--इन लोगों को परेशानी थी तो आप कौन नहीं परेशान हुये! यह तो दादर का स्टेशन भी लखनऊ की भूल-भुलैया हो गया, कि जो ही आता है, इसमें भूल जाता है।

तीन रोज़ तक बच्चों के साथ रहे, उसके बाद दोनों बच्चे इलाहाबाद चले आये।

काँग्रेस होनेवाली थी। पहले दिन हम लोग चारों आदमी देखने गये। आपके पास टिकट पहले ही से खरीदा हुआ था, हम लोगों के लिए टिकट लाने थे। मुझसे बोले--मुझे रुपए दो तो मै तीनों आदमी के लिए तीन टिकट और ले लूँ।

मैंने उनको रुपये दिये। वासुदेवप्रसाद उनके हाथ से रुपए लेकर खुद टिकट लाया। पहले दिन तो हम लोग ज़नाने में गई, और उसी के पास ही आपकी भी जगह थी। वासुदेवप्रसाद बाहर की तरफ थे। ख़ैर उस दिन तो हम साथ-साथ रात के बारह बजे लौटे। चारों आदमी रात को घर

आये। दूसरे दिन मैं, बेटी, वासुदेवप्रसाद एक जगह बैठे, आप अन्दर थे। उस दिन जब महात्माजी का भाषण पढ़ा जा रहा था, कुछ लाउडस्पीकर में खराबी हो गई थी। उसी समय भगदड़ मची, आदमी कूद-कूदकर आगे बढ़ने लगे। उस समय मैं, बेटी बीच में बैठी थी, साथ में ज्ञानू भी था। जब भगदड़ मची तब मैं उठकर खड़ी हुई। दो आदमी अधेड़ उम्र के मुझसे बोले--माताजी! आप बैठ जाइये। वह दोनों आदमी मेरी और बेटी की तरफ झुक गए। मेरे ख़याल में सैकड़ों जूते उन शरीफों की पीठ पर पड़े होंगे। मैं उनको धन्यवाद भी न दे सकी और जैसे ही भीड़ रुकी, वैसे ही वह भी ग़ायब हो गये। उसी समय मैं-बेटी घर पर चली आई। आप जब करीब बारह बजे लौटे तो वह बोले—अच्छा! तुम पहले ही कैसे चली आई?

मैंने उनको सब क़िस्सा बतलाया और बोली—आज ख़ैरियत हुई कि हम लोग घर चले आये। नहीं आज बुरी तरह हम लोग ज़ख्मी हो गई होतीं, या तो इसमें एक-आध मर ही गया होता।

तब आप बोले—यहाँ के लोग ऐसे जाहिल हैं कि जब तक कि धक्कम-मुक्का न करें, तब तक उनको तसकीन ही नहीं होती। ज़रा भी ख्याल नहीं, इससे क्या फायदा, और नुकसान होगा। इसका ज़रा भी ख्याल नहीं करते हैं। मैं तो सुनता हूँ कि अन्य मुल्कों में टिकट घर में एक-एक आदमी नम्बरवार लेने जाता है। अगर वहाँ पर लोग इस तरह की बेहूदगी करें, तो शायद वह जेलों की हवा खायें। मगर यहाँ इनसे पूछने वाला भी कोई नहीं है।

मैं बोली—मुझे ऐसा मालूम होता था कि कालेज के लौंडे थे।

आप बोले—हाँ-हाँ यहाँ का पढ़ा-लिखा आदमी भी उसी तरह गँवारपन कर बैठता है, और ग़ैर जिम्मेदार हो जाता है, जैसे कि कोई एक जाहिल और गँवार। मैं बोली—तो आख़िर यह ऊँची-ऊँची डिगरियाँ लेकर होता क्या है।

आप बोले—वह ऊँची डिगरियाँ थोड़े ही होती है, वह तो गुलामी का एक तरह का तौक है। यह लोग अपने अफसरों के आगे तो भेड़ बन जाते है और वह जैसा चाहें इनको नचा सकते है, मगर बाकी जगहों में तो यह शेर बन जाते हैं। और जो कोई पूछे कि कोई भक्ति-भाव भी इनमें है, तो शायद 'नहीं' कहने के सिवा और कुछ नहीं कह सकता। क्योंकि जब उन्होने देखा कि यहाँ पर स्त्रियाँ और बच्चे बैठे है फिर भी उन्होने वहाँ पर भगदड मचायी। यह तो उसी तरह हुआ, जैसे कांग्रेस आंदोलन के जमाने में, पुलीसवाले भीड़ पर घोड़े दौडा देते थे! मगर तब तो सरकार हमको कुचलना चाहती थी, तब वह ऐसा करती थी। मगर यह लोग तो महात्मा जी का भाषण सुनने के लिये स्त्रियो और बच्चो को कुचल रहे है। अब इनको क्या कहोगी? और फिर वे भी है, जिन्होने तुम्हारे लिये जूते खाये है। अब कौन जाने कितने स्त्री-बच्चे कुचल गये होगे। और फिर इन्हीं बेचारो का, जिन्होने तुम्हारे लिए जूते खाये है, आज क्या हाल होगा। उस पर भी उन्होने तुमसे धन्यवाद भी नहीं चाहा। इस तरह की हालत देखकर तो यही कहना पडता है कि तुम्हारे यहाँ का समाज दो रास्तो से जा रहा है। एक तो वह हैं जो कुचलनेवाले है, दूसरे वह है जो कुचले जाते हैं।

मै बोली—इस तरह की रफ़्तार तो हमेशा से थी, और हमेशा रहेगी।

आप बोले—कल हमारे साथ चलना और हमारे ही पास बैठना।

मै बोली—नही, अब मै नही जाऊँगी, क्योकि कल की हालत देखकर मुझे तो बहुत अफ़सोस हुआ। अरे हम लोगो को तो कुछ नही, मगर बिचारे ज्ञानू के लगा होता तो क्या होता।

'तो मुफ़्त में तुम्हारा बीस रुपये का टिकट खराब होगा?'

मै बोली—साहब, अभी तो बीस रुपये का टिकट ही ख़राब होगा, कल कहीं चोट खायी होती तो न मालूम क्या हालत होती।

आप बोले—अच्छा, अगर तुम्हारी तबियत नहीं है तो न चलो, मगर मेरे पास बैठने में तो कोई दिक़्क़त न होगी। मै तो यह कहता हूँ कि महात्मा

जी को मालूम हो कि उनके भाषण सुनने के लिए पंडाल में इतनी बेहूदगी होती है, तो मैं समझता हूँ कि शायद उनको सात दिन का अनशन करना ही पड़े।

मैं बोली—उन बेचारों के हाथ में इसके सिवा और है ही क्या। वह सब कुछ करते रहते हैं, मगर यह चलने भी पायें। मेरा तो ख़याल यह है कि ऐसा महात्मा किसी दूसरे मुल्क में हुआ होता, तो लोग हमारे यहां के लोगों से कहीं आगे होते।

आप बोले—अगर मुल्क बना बनाया हो तो उसमें बनाने की कोई ज़रूरत ही नहीं रहती। ऐसी ही हालत में तो कोई न कोई महात्मा यहाँ हमेशा से हुआ है। उसी तरह जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद का जन्म हुआ था ऐसी ही परिस्थिति उन सब समयों में रही होगी। उस समय भी तो ऐसे ही लोगों ने जन्म लिया, और लोगों का उद्धार किया। उसी तरह महात्माजी भी आये।

मैं बोली—तो कौन महात्माजी से ही लोग नहीं लड़ते, और हुए हैं।

आप बोले—कोई ज़माना था, जब लोगों ने ईसा की हथेलियों में सपचें ठुकवाई थीं। मुहम्मद साहब को पानी के लिए परेशानी उठानी पड़ी थी। राम और कृष्ण को भी काफी लड़ाइयां लड़नी पड़ी थीं। बुद्ध के भी काफी दुश्मन थे। अब अगर गान्धी-युग है, तो उनको भी काफी लड़ाई लड़नी होगी। और आखिर में गान्धी की ही विजय होगी।

मैं बोली—होगी, तब होगी, आज कल तो मुसीबत है।

आप बोले—सच पूछा जाय तो जीवन ही संघर्षमय है। अगर संघर्ष न हो तो जीवन कैसा ?

मैं बोली—कुछ भी हो, इस संघर्ष को देखकर मेरी तबियत तो घबरा जाती है।

'संघर्ष से घबराती हो, और कभी-कभी तुम्हारी इच्छा भी तो संघर्ष के लिए होती है ?

मै बोली—मै तो संघर्ष को दूर से नमस्कार करती हूँ।

आप बोले—तुम स्त्री हो न। स्त्रियो में यह बातें अधिक पाई जाती हैं। पुरुष संघर्ष से घबराता नही।

मै बोली—पुरुष क्यों घबराने लगे, वह तो स्वयं ही संघर्ष के लिए बीडा लेते रहते है।

आप बोले—अगर पुरुष संघर्ष से घबराये तो वह कायर है।

मै बोली—यह सब तो शायद कांग्रेसी लोगो की कहने की बातें है'।

आप बोले—बातें नहीं है, यह उनकी दिल की तडप है, उसके लिये उनकी आत्मा हमेशा तडपती रहती है। अन्याय करनेवाले को, चाहे वह अन्याय हमारे साथ करे चाहे दूसरे के, बलवान आदमी कभी देख नहीं सकता। इसी के लिए वह पैदा हुआ है कि वह अन्याय का अन्त करे।

बम्बई जाने के बाद, दो ही तीन महीने रहने पर मालूम हुआ कि जो कहानी उन्होंने तैयार की थी, हालांकि उसमे काफी काट-छांट हो गयी थी, फिर भी सेन्सर बोर्ड द्वारा रोक दी गई थी, इसको देखने के बाद उनको ऐसा मालूम हुआ कि यहां मैं जिस काम से आया, वह मेरा होता नजर नहीं आ रहा है। मुझसे बोले—यहाँ जो कुछ है, वह सिनेमा के मालिक लोगों के हाथो में है। लेखक को कोई महत्व नही दिया जाता, वह तो पैसा कमाना चाहते है।

मै बोली—लेखक को तो उनसे पूछना ही चाहिए कि आखिर उनकी चीजो की इतनी कांट-छांट क्यो हो।

आप बोले—तो इसको सुनता कौन है ?

मै बोली—अगर कोई सुनता नहीं है, तो मै समझती हूँ कि अच्छे लेखको को ऐसे कामो को अपने हाथ में लेना ही न चाहिए।

आप बोले—मै भी दो-चार महीने और देखता हूँ।

मै बोली—आपको उन लोगो से कहना चाहिए।

आप बोले—वह कहेंगे कि आप जा सकते है, मगर हम आपके पीछे

लाखों की तादाद में रुपया थोड़े ही बरबाद कर सकते हैं। फिर जिस दिन हमको जाना होगा, उस दिन जवाब देकर जा सकते हैं। यहाँ कहना-सुनना कुछ भी नहीं होता।

मैं बोली—इसीलिए तो मैं बनारस में पहले ही से मना करती थी, तो आप मुझसे कहते थे, वहाँ पर अच्छे-अच्छे फिल्म दिखलाऊँगा। और जो फायदा उपन्यास और कहानियों द्वारा नहीं उठाया जा सकता वह फिल्म दिखाकर, बड़ी आसानी से, उन लोगों को लाभ हो जायगा। फिर वह बातें कहाँ गईं ?

आप बोले—उसके पीछे कोई कहाँ तक पड़ा रहेगा। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि मेरे लिए सबसे अच्छा यही है कि अपने घर पर बैठ करके थोड़ा-बहुत जो भी मैं काम कर सकता हूँ, उसी को करता रहूँ, यहाँ पर तो वह भी काम कुछ नहीं हो सकता।

उन्हीं दिनों उनकी कुछ-कुछ तबियत भी खराब रहती थी। कभी बुखार, तो कभी जुकाम आदि लगा ही रहता था।

मैं बोली—तो खतम कीजिये, चलिए अपने घर।

आप बोले—इकट्ठा भागा भी तो नहीं जाता। उस दिन जो एक गुजराती महाशय फिलम दिखलाने को लिवा गये थे, कितना गन्दा था, जब कि तुम्हीं उन महाशय पर खुद बिगड़ उठी थीं, और तब से फिलम देखने का नाम भी नहीं लेती हो। मैं सोचता हूँ कि शायद मैं फिलम-संसार का कुछ सुधार कर सकूँ, तो वही बेहतर होगा, और मेरे भाग जाने से कुछ सुधार तो हो नहीं जायगा। सुधार भी नहीं होगा और फिलम मालिकों का कोई नुकसान भी नहीं होगा। हाँ मेरा नुकसान होगा कि मैं जो सुधार करना चाहता था, उसको कुछ भी नहीं कर पाऊँगा।

मैं बोली—तो आपकी तबियत भी तो नहीं अच्छी रहती। मुझे तो डर लगता है कि कहीं तबियत ज्यादा खराब हो जाय, तब यहाँ क्या करूँगी।

आप बोले—कुछ नहीं, यह सब तो सभी जगह लगा रहता है। आज कल तो देखती हो कि मैं घूमने भी जाने लगा हूँ।

मै बोली--घूमना तो आप का बनारस में भी होता था, वहाँ भी आप ५ बजे ही उठ कर घूमते थे, यह तो आपका हमेशा ही का काम है। ५ बजे उठकर कम से कम दस-पाँच मील तो आप घूम ही लेते थे, वह यहाँ भी है। मगर यह दस-पाँच मील घूम कर हर जगह आराम से रहते थे, यहाँ वह भी नहीं है।

मै बोली—यह सब ठीक हो जायगा।

उन्हीं दिनों हमारे घर मे एक नौकर था, जो मेरे जाने के पहले ही से रक्खा हुआ था। वह सब काम के लिए रक्खा गया था। वह अक्सर रोटी बनाने के समय ग़ायब हो जाता था, दो-तीन रोज़ बराबर पहले वह ग़ायब हो चुका था, आप नहाकर जब आते, तो रोटियाँ मै सेक कर खिलाती। एक रोज़ मै बोली—न जाने यह नौकर क़हाँ चला जाता है, कि पता ही नही लगता।

आप बोले--कहीं चला गया होगा।

मै बोली—आज ही क्यो? आप तीन रोज़ से देख रहे है, और इसके पहले भी यह ऐसी हरकत कर चुका है। मै आज इसको निकाल दूँगी।

आप मेरे क्रोध को शान्त करते हुये बोले—अच्छा अबके जाने दो, मै उसको समझा दूँगा।

मै बोली—अगर समझाना था, तो कई बार तो कह चुके, इससे लाभ क्या हुआ?

तो फिर आप बोले—अच्छा अबकी बार रहने दो, अगर फिर कभी यह ऐसा करेगा, तो निकाल देना।

खैर उस दफे मैने उससे कुछ नहीं कहा, और आपने उसको समझाया। पन्द्रह-बीस दिन वह ठीक से रहा, फिर वही हरकत। उस दफे मैने दुबारा उसको जवाब दे दिया। वह दो-तीन दिन हमारे मकान ही के नीचे रहता रहा। वह बोले—वह कहीं अभी गया थोड़े ही है।

मै बोली—तो आख़िर आप मुझसे चाहते क्या है?

आप बोले—कुछ नहीं, ग़रीब आदमी है, भूखों मरता होगा।

मैं बोली—अगर बडी दया करनी है तो आप उसे कुछ दे सकते हैं, मगर मैं उसको नौकर नहीं रखूँगी।

आप बोले—हाँ! तुमने तो मुझसे पहले ही वायदा करा लिया था।

'बस मैं बार-बार कुछ नहीं कहना चाहती, पड़ा रहने दो।'

जो दूसरा नौकर रक्खा तो उससे मैं खाना नहीं पकवाती थी। मैं खुद ही खाना पकाती, पन्द्रह-बीस दिन बाद खाना खाने के समय बोले—ख़ैर, जब से नौकर गया, तब से साहब बनने से तो गला छूटा। अपना दो आदमी रहते हैं, अपना खाना पकाया, खाया, गपशप भी हुई। नहीं साहब बनते-बनते मेरा नाकों दम आगया था।

मैं बोली—निकालते समय तो आप ही चिल्ला रहे थे, और अब कहते हैं कि साहब बनते-बनते नाक में दम आ गया था।

आप बोले—जिन लोगों के बीच में रहना होता है, उन्हीं की तरह खुद भी तो बनना पड़ता है, चाहे हम बनना चाहें या नहीं। मगर बनना जरूरी हो जाता है। फिर यह ख्याल भी था कि यह बेचारा जायगा कहाँ? आखिर कई दिन से वह तुम्हारे ही दरवाजे पर तो पड़ा था।

मैं बोली—तो उसके पीछे मैं क्या करूं? आप किसको-किसको देखेंगे?

'हाँ चला तो गया बेचारा'—आप बोले।

मैंने कहा—तो जाने दीजिए।

आप बोले—मुझे इस पर भी तो शरम आती है कि कोई भलेमानुस आ जाय, तो अपने दिल में तो यही सोचे कि अच्छे भले आदमी हैं कि एक रसोईदार भी नहीं रखते।

मैं बोली—तो इसमें क्या? क्या खाना पकाना कोई जुर्म है?

आप बोले—समाज के अन्दर, जिस समाज में रहते हों, उसी समाज का बन कर रहना चाहिए।

मैं बोली—आप ही तो कहते हैं कि, जो बडे लोग काम करते हैं, उनकी

देखा-देखी ही छोटे लोग भी करते हैं। हमेशा नौकर रहते हुए भी आप
अपना काम अपने हाथो से करते हैं। तब क्या मेरे लिए ही सबसे ज्यादा
जरूरी है कि रसोइया रखूँ ?

तब आप हँसने लगे—हाँ तुम्हारे लिए ज़रूरी है। पुरुष खुद मज़दूर
बन सकता है, मगर अपने घर मे स्त्री को मज़दूरनी बनाना पसन्द नहीं
करता। अब उधर चाहे जो कुछ हो, मगर पहले अंग्रेजों के यहाँ भी उनकी
स्त्रियो को नौकरी नहीं करने देते थे।

मै बोली—मै देखती हूँ कि यहाँ भी काफ़ी स्त्रियाँ नौकरी करने लगी हैं।

आप बोले—नौकरियाँ करने लगी है, मगर वह अच्छा नहीं है, मैं
इसको अच्छा नहीं समझता। अब इसका नतीजा क्या हो रहा है? अब
पुरुष और स्त्री दोनो नौकरियाँ करने लगे, तब इसके माने क्या है? रुपए
ज्यादा आ जाएँगे। उसी का तो यह फल है कि पुरुषो की बेकारी बढ़ रही है।

मै बोली—कुछ हो स्त्रियों की कुछ अपनी कमाई तो रहती ही है।

आप बोले—यह कमाई का सवाल अभी थोड़े दिनो से उठा है, नहीं तो
पहले स्त्रियो की कमाई एक पैसा नहीं होती थी, और स्त्रियाँ काफी दबदबे के
साथ घर पर शासन करती थीं, तब क्या वह कमाई करती थीं ?

मै बोली—अब तो अपनी कमाई का पैसा पुरुष अपने पास रखे रहते
है, जब उन बिचारियो को ज़रूरत होती है, उनसे मांगना पड़ता है। इच्छा
हुई तो कभी दे दिया, कभी इनकार करके हट गये, तब ऐसी हालत में मेरे
खयाल में बेहतर यही है कि दोनो कमाएँ।

आप बोले—जब ऐसे पुरुष हो रहे है, तो तुम्हारे देश के शुभ लक्षण
नहीं है।

मै बोली—शुभ हों, चाहे अशुभ हो, देखना तो यह है कि इस वक्त
—रूरत किसकी है।

आप बोले—जरूरत तो इस वक्त मालूम होती है, मगर कभी
यह न भूल जाना चाहिये कि देश में कुछ ही स्त्री-पुरुष ऐसे है, जो एक

की कमाई पर दूसरा गुजर करता है। छोटी जातियों में, और काश्तकारों में देख लो, दोनों बराबर की मेहनत करते हैं, बल्कि स्त्रियाँ उनमें कुछ अधिक ही काम करती हैं, फिर भी पुरुष जो बदमाश हैं, वह अपनी स्त्रियों से पैसा भी छीन लेते हैं, और उन पर शासन भी करते हैं। अब सोचना यह है कि कैसे दोनों को बराबर किया जाय और बदमाशों को कैसे ठीक किया जाय, इसमें जरूरत इस बात की है कि स्त्रियाँ शिक्षित हों, और उनके साथ-साथ स्त्रियों को वह अधिकार मिल जाय, जो सब पुरुषों को मिले हुए हैं। जब तक सब स्त्रियाँ शिक्षित नहीं होंगी, और सब कानून-अधिकार उनको बराबर न मिल जायँगे, तब तक महज़ बराबर काम करने से ही काम नहीं चलेगा।

मैं बोली—आख़िर वह काम कैसे चलेगा ?

आप बोले—यह सब धीरे-धीरे होगा, उस समाज को बिगड़ते-बिगड़ते बहुत दिन हो गए, उसी तरह इसको बनने में भी बहुत दिन लगेंगे।

मैं बोली—तो क्या तब तक स्त्रियों का इसी तरह रोना लगा रहेगा ?

आप बोले—सब मुल्कों में बदमाश ही बदमाश नहीं होंगे, और न सब हैं, अब भी कुछ लोग अपने घर में स्त्रियों की पूजा करते हैं, और मेरा तो ख़याल यह है कि शायद मनुस्मृति जो पहले बनी थी वह इस आधार पर बनी थी कि स्त्रियों को पुरुष अपने से बहुत ऊँचा समझते थे। मनुस्मृति में माँ का हक पिता से दूना रक्खा गया है। स्त्री के बिना कोई काम पुरुष अकेला नहीं कर सकता था। भाई-भाई चाहे लड़ कर मर जाय, मगर बहन सब भाइयों के लिए बराबर रहती थी। इसके माने हैं कि वे स्त्रियों को सब से श्रेष्ठ मानते थे।

मैं बोली—पहले तो सब ठीक था, अब कितने भाई हैं जो बहन को प्यार करते हैं, और कितने बेटे हैं जो माँ की पूजा करते हैं, और दूसरी ओर कितने पति अपनी स्त्रियों की जूते से पूजा करते हैं।

आप बोले—तो उन्हीं के लिए तो ज़रूरत है कि कानूनी अधिकार

पुरुषों के बराबर मिलें। मेरा ख़याल है, गान्धी-युग में स्त्रियों की काफ़ी उन्नति हो रही है और होने की आशा है।

मै बोली—शायद हम लोगो के मरने के बाद कुछ हो।

आप बोले—उसके लिए फिर भी तो तुम लौटोगी। फिर भी तुम्हारी इच्छाएँ इसी में लगी रहेंगी।

मै बोली—कब से आप पुनर्जन्म मानने लगे ?

आप बोले—मैं नहीं मानता, तुम तो मानती हो। जिस तरह तुम पुनर्जन्म मानती हो उसी तरह तुम्हारे साथ इच्छाएँ भी लगी रहेंगी।

मैने कहा—आपने यह खूब अच्छा निकाला।

हम लोग सन् ३४ में बम्बई मे थे। हम एक बार बम्बई जा रहे थे बनारस से। दो दिन का सफर, बेटी शर्म के मारे उनके सामने लेटी नहीं थी। दो रात और एक दिन अपने पास बाबूजी ही बिन्नू को रखे रहे। दो-दो घण्टे पर उसे दूध पिलाते। मुझे भी वे पिलाने को न कहते। जब बम्बई बेटी पहुँच गई तो वह बच्चे को ले सकी।

४ महीने के बाद वासुदेव प्रसाद आये और बेटी को लिवा ले गये। इसके पहले वे मुझसे कहते—बिन्नू क्यों जायगा ? हम दोनों को सूना भी तो बहुत लगेगा।

वह लड़का इतना हिल-मिल गया था कि वे जब स्टूडियो जाते और उनके वहाँ से आने का समय करीब होता तो जाकर कुरसी पर बैठ जाता और 'बाबूजी' तो कह न सकता था, 'बाबूई' करके ज़ोर-ज़ोर पुकारता। जैसे ही वे आते वैसे ही गोद मे चढ जाता। कुछ देर उसे खिलाकर कुर्सी पर बैठाते तब आप कपडे उतारते। फिर अपने ही साथ उसे कुछ खिलाते-पिलाते। मगर यह थोडे ही था कि वह शरारत करके बच जाय या ज़िद कर बैठे। ऐसे समय तो दंड तक देते।

बेटी अपने घर से राखी भेजती, जब वह न होती, तो मेरे हाथ से उसे बँधवाते। जब वह पास में होती तो राखी एक-दो दिन पहले ही लाकर उसे

दे देते। जब दो साल तक बच्चे इलाहाबाद थे तो बेटी से कहते—तुम पार्सल बना दो, या खुद पार्सल बनाकर उनके नाम कर देते।

बेटी बम्बई थी। रक्षा-बन्धन होने के १५ दिन बाद बोले—बताओ बेटी, तुम्हें क्या चाहिए। बेटी बोली—जो कुछ आप दें। तब आप मुझसे कहते—बेटी से कह दो, हीरा जडी हुई लौंग मांग ले। मैं बोली—बेटी, सुन रही है।

बेटी—बाबूजी तो खुद दे रहे हैं। मैं क्या मांगूँ?

उसके जाने के समय आप बोले—मैं आते समय लेता आऊँगा। जब बनारस आने लगे तो मुझे लेकर बाजार गये। वहां बेटी के लिए ७ चुनरी, जो खास चुनरी बेटी की थी, वह २०) की थी, और दोनों बेटों के लिये ४५)-४५) की घड़ियां लीं। बेटी के लिए १२५) की लौंग खरीदी। मेरे पीछे पड़े कि तुम भी कानों के लिए फूल ले लो।

मैं बोली—मुझे ज़रूरत नहीं है।

आप बोले—बड़ा अच्छा है, ले लो।

मैं बोली—मेरे रुपए बैंक में रहेंगे। जब पहनती नहीं तो क्या लूँ? किसी तरह मैंने अपना गला छुड़ाया। और जो ७ चुनरियां ली थीं उनमें तीन भांजियों के लिये ली थीं।

मैं बोली—ये क्या होंगी?

आप बोले—देते समय कम हो जायेंगी। कुमारी वगैरह जान खा जायेंगी। बहुत-सी लड़कियां भी तो हैं।

काम छोड़ने के पहले एक महाशय ने उनसे दैनिक-पत्र निकालने के लिए कहा। आप बोले—क्या बुरा है दैनिक-पत्र जो निकालने के लिए कह रहे हैं। ७००) देने कहते हैं, और ४ सरकारी सम्पादक देने कहते हैं। अगर तुम कहो तो मैं कर लूँ। मेरी इच्छा है। आखिर घर पर भी चल कर 'हंस' और 'जागरण' ही तो चलाना है, और नहीं तो घर से रुपये भी तो लगाने पड़ेंगे और यहाँ पत्र का सम्पादन ही तो करना होगा। इस तरह वह भी दोनों पत्र चलते रहेंगे। और यहाँ मैं काम भी करता रहूँगा, रुपये

की जो दिक्कत पत्रों के चलाने के लिये है, वह यहाँ दूर हो जायगी।

मै बोली—मुझे यहां रहना ही नही है।

आप बोले—तो उसमें क्या है, चलो हम दोनो आदमी यहाँ से चलें, वहाँ देख-भाल करके और महीने दो महीने रह कर, फिर चले आएँगे।

मै बोली—मुझे यहाँ बिलकुल ही नही रहना है।

आप बोले—तुम्हें यहाँ कोई ख़ास दिक्कत तो है नहीं।

मैं बोली—दिक्कत क्यो नहीं है, तीन प्राणी तेरह चूल्हे वाला मसला है। बच्चे तो प्रयाग में पड़े, और हम दोनो यहाँ।

आप बोले—तो घर में ही जाकर कौन सा इतमीनान हो जायगा? अब के साल धुन्नू को तो इलाहाबाद जाना ही होगा, और हम लोग बनारस रहेंगे, तो दो जगह तो यो ही हो गये।

मै बोली—वहाँ तो अपने सँभाल में है, क्योकि इलाहाबाद और बनारस में कोई विशेष अन्तर तो है नहीं। वहाँ कम से कम यह तो है, कि कोई बीमार-आराम पडे तो एक-दूसरे के पास पहुँच तो सकते हैं, यहाँ तो वह भी नहीं। तीन दिन का सफर तै करो, तब जाकर कही पहुँच पाओगे।

आप बोले—यह तो उसी तरह हुआ कि अपने घर में पड़े रहेंगे, चाहे कुछ भी काम न हो।

मै खीझ कर बोली—अगर नौकरी करनी हो तो मजबूरी है। फिर जिस उद्देश्य से आप यहाँ आए थे, वह तो पूरा नहीं हो रहा है, तो फिर यहाँ पडा रहना बेकार है।

आप बोले—अगर और कुछ न होगा तो 'हंस' और 'जागरण' तो चलेंगे ही।

मै बोली—नहीं चलेंगे तो क्या उनका कोई ठेका ले लिया है, चलते है तो कौन अशरफी दे देते है, बन्द होने पर कौन भूखों मर जायेगे?

आप बोले—सिद्धान्त भी कोई चीज होता है, और जो चीज़ आदमी अपने हाथो से बनाता है, उससे कुछ प्रेम भी तो हो जाता है। जब तक आदमी

हाथ-पैर मार सकता है, तब तक उनको खराब होते नहीं देख सकता। जैसे बच्चों का तुम सोच करती हो, लड़के-लड़कियों से क्या कोई आशा रखता है कि वह आराम ही देंगे? मगर चूँकि बच्चे हो जाते हैं तो उनसे मुहब्बत हो ही जाती है और उन्हीं बच्चों के लिए हम लोग रात-दिन कौन-सा त्याग नहीं करते? लोग कहते हैं कि संन्यासी त्याग करता है, और मैं कहता हूँ कि संन्यासी क्या त्याग करेगा? अच्छे से अच्छा खाता है और बेफ़िक्र रहता है, न बसने की खुशी न मरने का गम। कहाँ क्या होता है उसको उसे फ़िक्र नहीं, और यहाँ घर-गिरस्त वालों की क्या हालत है उसकी सुनो। रात-दिन उन्हीं के सुखों के लिए कौन-सा ऐसा त्याग है, कौन-सी ऐसी तपस्या है, कौन-सा ऐसा बलिदान है, जिसको कि घर-गिरस्त वाला नहीं करता? जो वर सम्पन्न हैं, उनको छोड़ दो। शेष जो गरीब आदमी हैं अगर उनके घर में चार रोटियां हैं तो उनकी इच्छा यह होती है कि बच्चों को पहले भरपेट खिला दो, अच्छी कोई चीज होती है तो लोग उसे अपने मुँह में नहीं डालते, बच्चे खायेंगे यही सोचते हैं। अपने कपड़े तार-तार हो गए हैं, सरदी से सिकुड़ रहे हैं, पहले अगर पैसा मिलेगा तो यही खयाल होता है, कि पहले बच्चों के लिए। मजा यह है कि इसमें तुम्हीं लोग सबसे पहले हो, अब बच्चा जब अपनी अच्छी हालत में हो जाता है तो वही ऐसे माँ-बाप को कहना भी नहीं चाहता कि यह हमारे माँ-बाप हैं, और उनको आराम देना तो दूर की बात हो गई है।

मैं बोली—तो सब लड़के ऐसे थोड़े ही हैं।

आप बोले—सब न हों, मगर दुनियाँ तो उधर की तरफ जा रही है।

मैं बोली—तो इसको आप क्यों नहीं बनाते?

आप बोले—वही तो बनाने को यहाँ आया था, न बनें तो क्या करूँ?

बम्बई में एक रात को बुख़ार चढ़ा तो दूसरे दिन भी पाँच बजे तक बुख़ार नहीं उतरा। मैं उनके पास बैठी थी। मैंने भी रात को अकेले होने की वजह से खाना नहीं खाया था। कोई छ बजे के करीब उनका बुखार उतरा।

आप बोले—क्या तुमने भी अभी तक खाना नहीं खाया ?

मैं बोली खाना तो कल शाम से पका ही नहीं।

आप बोले—अच्छा मेरे लिए थोड़ा दूध गरम करो और थोडा हलवा बनाओ। मैं हलवा और दूध तैयार करके लाई। दूध तो खुद पी लिया और बोले—यह हलुआ तुम खाओ। जब हम दोनो आदमी खा चुके, मैं भी पास में बैठी।

आप बोले—कुछ पढ करके सुनाओ, वह गाने की किताब उठा लो। मैने गाने की किताब उठाई। उसमें लडकियो की शादी का गाना था। मैं गाती थी, वह रोते थे। उसके बाद मै तो देखती नहीं थी, पढने में लगी थी, आप मुझसे बोले—बन्द कर दो, बडा दर्दनाक गाना है। लडकियों का जीवन भी क्या है। कहाँ बेचारी पैदा हो, और कहाँ जायँगी, जहाँ अपना कोई नहीं है। देखो, यह गाने उन औरतो ने बनाये है जो बिलकुल ही पढी-लिखी न थीं। आजकल कोई एक कविता लिखता है या कवि लोगो का कवि-सम्मेलन होता है, तो जैसे मालूम होता है कि ज़मीन-आसमान एक कर देना चाहते है। इन गाने के बनाने वालियो का नाम भी नहीं है।

मैने पूछा—यह बनानेवाले थे, या बनानेवालियाँ थीं ?

आप बोले—नहीं, पुरुष इतना भावुक नहीं हो सकता कि स्त्रियों के अन्दर के दर्द को महसूस कर सके। यह तो स्त्रियो ही के बनाए हुए है। स्त्रियो का दर्द स्त्रियाँ ही जान सकती है, और उन्ही के बनाये यह गाने है।

मैं बोली—इन गानो को पढते समय मै तो न रोई और आप क्यों रो पडे ?

आप बोले—तुम इसको सरसरी निगाह से पढ ही रही हो, उसके अन्दर तक तुमने समझने की कोशिश नही की। मेरा ख़याल है कि तुमने मेरी बीमारी की वजह से दिलेर बनने की कोशिश की है

मै बोली—कुछ नहीं, जिन स्त्रियो को आप निरीह समझते हैं, कोई

उनमें निरीह नहीं है। अगर हैं निरीह, तो स्त्री-पुरुष दोनों ही हैं। दोनों परिस्थिति के हाथ के खिलौने हैं, जैसी परिस्थिति होती है, उसी तरह दोनों रहते हैं। पुरुषों के ही पास कौन उनके भाई-बन्द बैठे रहते हैं, संसार में आकर सब अपनी किस्मत का खेल खेला करते हैं।

तब आप बोले—जब तुम यह पहलू लेती हो, तो मैं यह कहता हूँ, कि दोनों एक दूसरे के माफिक अपने-अपने को बनाते हैं, और उसी समय दोनों सुखी होते हैं, जब एक दूसरे के माफिक होते हैं। और इसी में सुख और आनन्द है। मगर हाँ इसके ख़िलाफ दोनों हों, तो इसमें स्त्री अधिक निरीह हो जाती है पुरुष की अपेक्षा।

सन् ३४ में मैं बम्बई में थी, एक महाशय ने कम्पनी में फिल्म तैयार किया। फिल्म मालिक ने उनको ५००) की मजदूरी पेशगी दी, और दो हज़ार रुपये में सौदा पटा था, शेष रुपए फिल्म तैयार होने पर देने का वादा था। जब फिल्म तैयार हो गया, और फिल्म मालिक से शेष रुपए माँगे, तो मालिक ने शेष रुपया देने में हीला-हवाला किया। जब कई महीने बीत गए और रुपए नहीं मिले, तो फिल्म बनानेवाले ने फिल्म कम्पनी के मालिक को नोटिस दी। नोटिस पाकर फिल्म-मालिक ने उन महाशय पर ५००) का दावा ठोंक दिया। अब उस बेचारे को परदेश की बात, मोटे आदमी से झगड़ा। पास में रुपए नदारद, घबराए। उनकी देवीजी मेरे पास आईं। मैंने जब पूछा तो उन्होंने अपना किस्सा बताया, और बोलीं कि अगर बाबूजी यह गवाही दे दें कि हमने फिल्म तैयार करते देखा, तो हमारा केस इनके ऊपर ठीक से चल जायगा और वह जीत भी जायँगे।

मैं बोली कि क्या आप स्टूडियो कभी गये थे, और उनको फिल्म तैयार करते देखा था।

देवीजी बोलीं—बाबूजी तो कभी नहीं गए थे; लेकिन यह तो आप सबको मालूम है कि वे रात-दिन वहीं रहकर फिल्म तैयार करते थे।

मैं बोली—अच्छा। अगर वह आयेंगे तो मैं उनसे कहूँगी।

हम लोगो मे बात हो ही रही थी कि बाबूजी भी आ गये। मैंने कहा कि इन बिचारो मे ऐसा किस्सा है, आप बोले—मैने फिल्म तैयार करते नहीं देखा।

मै बोली—आपको मालूम तो है ही कि वह रात-दिन फिल्म तैयार करता है। और उस बिचारे के लिए और कौन बैठा है।

आप बोले—वह्, आप उनको मेरे पास भेज देना, अगर वह सुलह चाहेगे तो मैं सुलह करा दूँगा। झूठ नही बोल सकता, क्योकि मैने स्टूडियो में फिल्म तैयार करते नही देखा है।

वह बोलीं—बाबूजी वह तो लड़ने के लिये अमादा है, और आप सुलह कराने जायँ, तो आपका किसी प्रकार का अपमान हो तो हम लोग यह बर्दाश्त नही कर सकते।

वे बोले—बहू मुझे इसमें मान-अपमान का कोई सवाल नहीं है, अगर तुम्हारा हो तो मै करने को तैयार हूँ। तुम जा करके उनको मेरे पास भेज तो दो।

बहू बोली—स्टूडियो मे जितने आदमी है वह सब झूठी गवाही देने को तैयार है कि ५००) कर्ज दिया गया है। मय सूद के रुपया माँग रहा हूँ।

वह बोले—इसकी कोई बात नही। इन्सान तो इन्सान ही है। क्रोध में आकर कोई काम कर बैठता है, तुम जाकर उनको भेज दो।

वह तो चली गईं। मै बोली—बिचारी बहुत परेशान थी।

बोले—वह बहुत मोटा आदमी है जिसके यहाँ यह काम कर रहे थे।

मै बोली—आप इनके लिए मदद ज़रूर कीजिए।

वह बोले—हाँ हाँ मै ज़रूर मदद करूँगा, वह माने तो।

थोडी देर के बाद वह खुद ही आए। आप बोले—क्यों तुम उनसे सुलह करने को तैयार हो ?

वह बोले—बाबूजी आप को तो मालूम ही है कि वह झगडा करने को तैयार बैठा है।

मेरी और उनकी बात जाने दो, तुम अपनी बतलाओ कि तुम सुलह करने को तैयार हो ?

वह बोले—मैं सुलह करने को तैयार हूँ। लेकिन कोई आपका अपमान करता हो तो मैं उसे सहने को तैयार नहीं हूँ।

वह बहुत हँसकर बोले—भाई मेरा कोई क्या अपमान करेगा। बहुत करेगा तो यही कहेगा न कि वह तो बेईमानी करने चला और आप उसको पैरवी करने आए हैं। इसको मैं सुन लूँगा, यह कोई बात नहीं है।

ख़ैर, वह राज़ी हुए। आप बोले कि कल सुबह तुम मेरे पास आना तो हम तुम दोनो उनके पास चलेंगे।

वह महाशय बोले कि बाबू जी मैं आप के साथ न जाऊँगा बल्कि बाहर बैठा रहूँगा, जब बुलायेंगे तब अन्दर आऊँगा। ख़ैर आप सुबह उठकर उन महाशय को और साथ लेकर फिल्म-मालिक के पास पहुँचे, और जाते ही जाते कहा कि क्या साहब तुमने यह बावेला मचा रक्खा है ?

वह बोला—कैसा बावेला ! आप मुझसे किस विषय में पूछ रहे हैं ?

आप बोले—भाई तुमने फिल्म तैयार करायी और जब उसने मज़दूरी माँगी तो आपने उसके ऊपर उलटा ४००) का दावा ठोक दिया। मुझे आप से ऐसी आशा न थी।

वह बोले—पहले आप मेरा क़िस्सा सुन लीजिए। वह बहुत बदमाश आदमी है। भाई-चारा का नाता छोड़कर उसने मुझे नोटिस दी। अगर आप न आए होते तो आज मैं उसको बिना हथकड़ी पहनाए नहीं छोड़ता। मैंने सब ठीक कर लिया था। मगर मैं आप की दिल से इज्ज़त करता हूँ। क्योंकि आप हिन्दी के सब से बड़े लेखक हैं। वह मेरे पास आये सिर्फ़ सुलह कराने के लिये। अब आप उनको बुलाइए, उनका कुल २४०) और निकलता है। उसका चेक देता हूँ।

आप ने उन महाशय को आदमी भेज कर बुलवाया। उन दोनों में सुलह करा के, रुपया दिलाने के बाद घर आए। मुझ से वहाँ का सारा क़िस्सा

बतलाया। और मुझसे बोले कि उसने आज शाम को न्योता दिया है, उस फिल्म को देखने के लिये। वह शाम को आएँगे और हम दोनो को फ़िल्म दिखाने के लिए ले जायँगे। मै भी शाम को जल्दी आ जाऊँगा।

जिस तरह अन्य जगहों मे आपसे मिलने वालो की कमी न थी, उसी तरह जब बम्बई गए, काफी मिलनेवाले आदमी निकल आये। सुबह तो ५ बजे घूमने जाते, उसके बाद ७॥ बजे नाश्ता करते, पान लेते हुए अपने कमरे मे चले जाते, 'काम करूँगा।' उस समय कोई न कोई आदमी जरूर ही आ जाता, अब वह जो काम करने वाला समय था, वह ले लेता। उसके बाद खाना खाकर आप स्टूडियो जाते, यह उनके जीवन का हमेशा का क्रम था। नतीजा यह होता कि जब मै रात को जाती, तब वह दो-ढाई बजे उठकर उसी समय साहित्य का काम करते, दो-चार दिन मैने वहाँ भी देखा। मै बोली—आख़िर आप रात को क्यो उठ कर काम करते है। एक तो तबियत अच्छी नहीं रहती और दूसरे रात को उठकर काम करना, क्या आप अपने को मशीन समझते है? मै गुस्से के साथ बोली।

आप बोले—तुम व्यर्थ मे मेरे ऊपर नाराज़ होती हो, अब बताओ दिन को भी काम न हो और रात को भी न हो, तो काम कब हो?

मैने कहा—मै तो हमेशा से ही आपको इस तरह देखती चली आ रही हूँ, तुम अपने को हमेशा पीसा करते हो, तबियत ख़राब हो जाती है तो परेशानी मुझे होती है।

आप बोले—दिन में तो मिलने वालो से छुट्टी नहीं होती, कोई-न-कोई हमेशा ही आ जाता है, जब मुझे मालूम हो गया कि दिन का समय तो मिलने वालो के लिए ही होता है, तब अगर रात को भी काम न करूँ, तब काम कब होगा?

मै बोली—तो आप मिलने वालो के लिए कोई वक्त रख दीजिए।

आप बोले—तुम्हीं बताओ कैसे वक्त रक्खूँ?

मैं बोली—तख्ती में मोटे अक्षरों में लिखकर टंगवा दीजिये, कि मिलने का समय फलां है।

आप बोले—तो अच्छा, अब मैं भी बड़ा आदमी हो जाऊँ? तुमको खयाल है कि नहीं मैं जब एक मर्तबा महात्मा गान्धी से प्रयाग मिलने गया और महात्मा जी से न मिल सका था, उस समय मुझे कितनी झुँझलाहट हुई थी कि दो दिन का समय भी दिया, और उनसे मिल भी न सका। हालांकि महात्मा जी बड़े आदमी थे, जिनके कि ऊपर झुँझलाहट नहीं आनी चाहिये थी, फिर भी मुझे झुँझलाहट आई, और तुमको भी। उसी तरह जब तुमसे कोई मिलने आयेगा, और फिर मैं कोई बड़ा आदमी भी नहीं, तब तुम सोचो कि वह अपने दिल में क्या कहेगा? फिर उसके साथ साथ यह भी है, वह बेचारा कितनी दूर से कितनी इच्छाएँ लेकर मुझ से मिलने आता है, वह अपने दिल में क्या सोचेगा? यही न सोचेगा कि यह भी बड़े आदमी हो गये, जिस बड़े आदमी के नाम से मैं खुद घबराता हूँ, वह इलज़ाम मेरे सर पर लगे, कितनी बुरी बात होगी। अरे भाई हमसे तो वही लोग मिलने आते हैं, जो कि हमारी ही तरह गरीब हैं।

मैं बोली—गरीब हैं या अमीर, सवाल तो यह है कि काम कैसे हो।

आप बोले—जैसे सारी ज़िन्दगी में चलता आ रहा है, उसी तरह चलता जायगा, इसके लिए अफ़सोस ही क्या है।

मैं बोली—तो आप रात को काम मत कीजिए। अब तो यहाँ तुमको तनख़ाह तो मिल ही जाती है, फिर अब काम क्यों इतना अधिक किया जाय?

आप बोले—फिर मैं अब काम ही कौन अधिक करता हूँ। सच कहता हूँ कि स्टूडियो में मैं दिन भर गप्पें लड़ाता रहता हूँ, काम कुछ भी नहीं करता।

मैं बोली—तब तुमको केवल गप्पें ही लड़ाने बुलाया होगा, उनको इतनी बड़ी बम्बई में कोई गप्पे करने वाला न मिलता रहा होगा।

आप बोले—सच कहता हूँ कुछ भी काम नहीं रहता, तुम मानती नहीं हो।

मै बोली—मैं मानूँ कैसे, मैं आप की आदत को जानती हूँ। कितना ही पीसोगे, फिर भी मेरे सामने कहोगे कि काम नहीं करता हूँ।

आप बोले—सच बताओ, यहाँ जब तक रहूँगा, तब तक मान लो बैठे से काम चल भी जायगा, मगर जब यहाँ से चलने के लिए तैयार बैठी हो, तब वहाँ कैसे काम चलेगा, और मेरी आदत भी खराब हो जायगी। आदमी चाहे ग़रीब हो या अमीर, उसे अपनी आदतों को खराब नहीं करना चाहिए। क्योंकि जिस आदमी की निठल्ले बैठने की आदत पड़ गई, तो समझ लो कि वह आदमी बेकार है। हर आदमी की जीत इसी में है कि कम ख़र्च करना और अधिक मेहनत करना। जिसको यह सबक़ आता है, वह किसी का ग़ुलाम नहीं हो सकता।

मै बोली—यह तो आप की हमेशा की दलील है।

आप बोले—मेरी दलील नहीं है, मैं तुमसे सच बताता हूँ, जो आदमी जितनी ही अपनी जरूरत बढ़ाता जाता है, वह उतना ही ज़्यादा अपनी ग़ुलामी की बेड़ियाँ मज़बूत करता जाता है।

मै बोली—कुछ हो, मै रात को काम नहीं करने दूँगी।

आप बोले—नहीं करने दोगी, नहीं करूँगा।

मै बोली—चोरी से आप जीत जायँगे।

आप बोले—क्या मुझे बावले कुत्ते ने काटा है कि जो मै काम करता ही रहूँ? नहीं करूँगा, मुझे क्या पड़ी है।

उसके बाद एक दिन स्टूडियोवाले उनसे बोले—हमारे साथ आप इङ्गलैण्ड चलिए, एक साल के लिए। आप आ करके मुझसे कहने लगे, मुझसे स्टूडियोवाले कहते है कि एक साल के लिए इङ्गलैण्ड चलिए, वहाँ फ़िल्म तैयार करेंगे, और फिर एक साल वहाँ रहकर लौटने के बाद, मै चाहे जहाँ काम करूँ, मुझे दस हजार रुपया साल देते रहेंगे। पाँच फिल्मों के लिए मुझे कहानियाँ तैयार करनी होंगी। एक तरह से ठेका समझ लो।

मै बोली—मै नहीं जाने देना चाहती, मै नहीं जाने दूँगी

आप बोले—तुम्हारा नुक़सान तो क्या है ?

मैं बोली—नुक़सान कुछ भी न हो मगर मैं जाने नहीं दूँगी।

आप बोले—मैंने उनसे कहा था कि वह मुझे नहीं जाने देंगी। इसके लिये कहते थे, कि उनको भी साथ लेते चलिए, हम उनको भी ख़र्च देंगे।

मैं बोली—मैं न जाऊंगी, न जाने दूँगी।

आप बोले—तुम्हारा इसमें नुक़सान ही क्या है, तुम्हारे बच्चे यहीं पढ़ते रहेंगे।

मैं बोली—पढ़ते रहेंगे, मैं सबको छोड़ करके वहाँ जाऊँ ?

तो आप बोले—मुझे ही अकेला जाने दो, अभी हो आऊँ। सच कहता हूँ, बहुत अच्छा मौक़ा है हमेशा के लिए हमको छुट्टी मिल जायगी, आराम से बनारस में बैठे-बैठे काम करता रहूँगा।

मैं बोली—सब इसी तरह चलता रहता है।

आप बोले—मज़दूरी करने में कुछ तो भी आराम मिलेगा, ऐसे घर बैठे-बैठे क्या मिलेगा ? उधर काम भी नहीं करने देना चाहती हो, इधर बाहर भी नहीं जाने देना चाहती हो। तो फिर बतलाओ कैसे काम होगा ?

मैं बोली—इसी तरह काम चलता रहेगा, न मैं आपको जाने देना चाहती हूँ, न बच्चों को छोड़ना चाहती हूँ।

फिर बोले—मज़दूरी करने दो, यही सबसे आसान है।

कोई समय यह था, कि एक साल को छोड़ना भी मुश्किल था, अब वही मैं हूँ, जो कि मालूम नहीं कितने दिनों तक मुझे यहाँ अकेले रहना है। और न उन्होंने मुझसे पूछा, कि जायँ या नहीं। और यह सब दो साल के अन्दर। वह महान पुरुष मुझे छोड़कर चला गया, और मैं बैठी हाथ मलती रही। इसके पहले मुझे मालूम न था कि इतनी जल्दी मुझे इस हालत में छोड़ करके वे चले जायँगे। इसको तो ज्यादातर वे ही महसूस करेंगे, जिन्होंने कि इस विषय में कुछ भी अनुभव किया होगा। आदमी के हाथ में कुछ है नहीं, फिर भी वह अपने को बहुत कुछ लगाता है। उसी से एक मैं

भी हूँ, इसीलिए वह महान आत्मा जिसकी महानता को मैं कभी समझ न पाई, और कैसे समझती ? पहले तो यह था कि, वह महान सबके लिए कुछ भी रहे हों, मेरे तो अपने थे, और मैं उनकी थी। हम दोनों के बीच में महानता कहाँ ठहर सकती है ? क्योंकि जहाँ घनिष्ठता हो जाती है, वहाँ महानता नहीं रहती, क्योंकि अपनापा उससे भी बड़ी चीज़ है, इसी लिए वह उसके बीच में रहना नहीं चाहती। शायद इसी लिए मेरे दिल में यह ख़याल न आया। इसी में अन्धी होकर मैं उनके ऊपर हमेशा शासन करती और वह ख़ुशी से मेरा शासन मानते, उसी तरह जैसे महान् पुरुष के सामने नन्हा-सा बच्चा उनकी पीठ पर मार-मारकर भाग जाता है, और वह महान् पुरुष उस पर हँस देता है। वह भी मुझे कभी-कभी पागल कह देते थे कि तुम पागल हो ; मगर उस पागलपन में जो ख़ुशी थी, वह मुझे अब जब कि मुझे कोई पागल कहनेवाला नहीं.. तो मैं सौ पागलों में एक पागल हो गयी हूँ, और सचमुच मैं पागल हूँ, क्योंकि अपने पागलपन में, सब शायद भूली बैठी हूँ, नहीं कोई समझदार आदमी, मेरी हालत में बैठ नहीं सकता था, इसी लिए मैं कहती हूँ कि मैं पागल हूँ, और मुझे दुनिया भी पागल समझे।

मद्रास-भ्रमण

आपको मद्रास की हिन्दी प्रचार सभा ने बुलाया था। आप आकर, मुझसे बोले—चलो हम तुम मद्रास घूम आयें।

मैं बोली—किस लिए ?

आप बोले—हिन्दी-प्रचार-सभावालों ने बुलाया है।

मैं बोली—ख़र्च बहुत पड़ेगा।

आप बोले—देखा जायगा। मैं चलने के लिए तैयार हो गई।

मेरी भी इच्छा मद्रास देखने की थी। दिसम्बर का महीना था, १९३४। हम लोग चार आदमी चले। हम दो थे, तीसरे नाथूराम 'प्रेमी', एक चौथे मद्रासी सज्जन।

रही है। मामूली दर्द से कहनेवाली जीव ये नहीं, इनको सो जाने दीजिए। मैं सोती रही। सारी रात गाडी चलती रही, मुझे खबर नहीं।

जब सुबह छ: बजे गाडी मद्रास पहुँची, तब मुझे आपने जगाया। मैं सुबह उठी तो मेरी तबियत ताज़ी थी। स्टेशन के प्लेटफार्म पर कोई ३०० के करीब स्त्री-पुरुष पहले ही से मौजूद थे। सबों के हाथ में हार थे। किसी के हाथ में गुलाब का हार, किसी के हाथ में कपूर का, जो खासकर मद्रास ही में बनते हैं। हम तीनों आदमियों को उन्होंने हारों से लाद दिया। ऐसा स्वागत मैंने इसके पहले नहीं देखा था। फिर हम तीनों आदमियों को ले जाकर एक मारवाडी सज्जन ने अपने यहाँ ठहराया।

जब हम लोगों ने ग्यारह बजे रात को फ़ुर्सत पायी, तब आप मुझसे बोले—देखो इन प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार कितने ज़ोरों पर हुआ है। यह सब महात्मा गान्धी के कामों का फल है। जो भी काम वह अपने हाथों से लेते हैं, वही सफल हो जाता है। सबसे ज़्यादा अँग्रेज़ी पहले यहीं पर सीखी गई। हमारे प्रान्तों में अच्छे-अच्छे ओहदों पर मद्रासी हैं। आज वही हिन्दी के पीछे दीवाने हो रहे हैं। मेरे ख़याल में स्वागत करने के लिए कम-से-कम ३०० से ऊपर रहे होंगे। इसके माने यह है कि हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है। एक बार हिन्दी-प्रचार-दल हमारे प्रान्तों में गया था। वहाँ जितनी स्त्रियों को हमने देखा, हमारे प्रान्तों में शायद ही कोई एक दो स्त्री इन लोगों का स्वागत करने आई हो। यहाँ हमने देखा, जैसा मालूम होता था कि इनकी पुरानी मित्रता है, और न जाने कब की परिचित हैं।

मैं बोली—मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि जितनी शराफ़त और जितना अपनापन इन लोगों में है, उतना क्या, उसका एक हिस्सा भी हममें नहीं है। जिस समय बनारस में प्रचार-दल गया था, उस समय तक मेरी पाँच-छ: कहानियाँ तामिल और तेलगू में अनूदित हो चुकी थीं। फिर भी मैं बनारस में रहते हुए भी इनके स्वागत करने के लिए स्टेशन न गई थी, तो फिर औरों के लिए क्या कहूँ।

आप बोले—नहीं, हमारा प्रान्त ही ऐसा है।

मैं बोली—सब कोई करे, मगर जिस काम को हम बुरा समझते हैं, बुरा समझते हुए भी हम करें, तो इसके मानी हैं कि हम सबसे ज्यादा गुनहगार हैं। बम्बई से चलते समय मैंने सोचा था कि किसी अजनबी जगह जा रही हूँ, जहां अपना कोई न होगा। मगर यहाँ आने पर, और इन बहिनों की शराफ़त देखकर, अब ऐसा मालूम होता है, जैसे मैं अपनी ही बहनों के बीच में आ गई हूँ।

आप बोले—भाई यही तो इन लोगों में खास बात है।

मैं बोली—नहीं, यह मुझसे कहीं ऊँची है।

दूसरे दिन मीटिङ्ग थी, जिसमें शामिल होने हम लोग गये थे। पहले तो मीटिङ्ग हुई। उसके बाद, अन्य प्रान्तों के लोग जो यहाँ आबाद हुए हैं, या जो वहां काम करते हैं, उन्होंने वहां के लोगों की शिकायत करना शुरू किया कि साहब हमारी तो यहां कोई पोजीशन नहीं है।

आप सबों को जवाब देते हुए बोले—भाई! पोजीशन तो उस हालत में होती है जब बहुत संख्या में किसी पढ़े-लिखे आदमी एक जगह रहेंगे, तब अपनी पोजीशन बनाते हैं, और तभी पोजीशन बनती भी है। हमारे प्रान्तों के पढ़े-लिखे आदमी तो यहां नहीं के बराबर हैं, इसी नजर से यहाँ अभी पोजीशन नहीं बन पाई। हमारे प्रान्तों में पढ़े-लिखे आदमी तो घर-घुस्सू होते हैं। अब रहे मजदूर और रोजगारपेशा। इनको अपने रुपए कमाने की फिक्र होती है, इनको पोजीशन बनने न बनने की कोई चिन्ता ही नहीं होती। पोजीशन तो बनाने की चीज़ होती है। और जब वह बनती है तो कुछ न कुछ करना ही पड़ता है। इस प्रान्त के जो सज्जन अन्य प्रान्तों में जाते हैं, तो आप अपनी पोजीशन वहां बनाते हैं। हमारे प्रान्तों में अँग्रेज़ी अख़बारों के एडीटर कोई-न-कोई मद्रासी सज्जन ही रहते हैं। कुछ स्कूलों के प्रिन्सपल भी हैं। डाक्टरों में भी ज़्यादा तादाद में मद्रासी सज्जन ही हैं। इसका प्रधान कारण वहाँ सबसे पहले अँग्रेजी भाषा का प्रचार होना है। जैसे मद्रासी सज्जनों ने पहले

अँग्रेजी सीखने में परिश्रम किया, उसी तरह हिन्दी में भी बाज़ी ले जायँगे।

दूसरे दिन हम एक बहुत ऊँची कमान को देखने गये। यह बहुत पुरानी कमान है। आपने लोगों से पूछा कि आखिर इसका इतिहास क्या है? लोगों ने बताया—साहब इसका पता नहीं कि यह कब और क्यों बनी, कई दफे इसको तोड़ने की कोशिश की गई कि आखिर यह नीचे कहाँ तक है, मगर इसका कुछ पता नहीं लगा। इसके ऊपर हम कोई पन्द्रह-सोलह आदमी चढ़े। जब उस पर खड़े हो गये तो पैर से दबाने पर कमान दबती थी, लचकती थी। आप कुछ ही दूर गये और सर थामकर बैठ गये। मैं आगे निकल गई थी। आप दोनों हाथों से सर थामकर बैठ गये। बोले—मेरा सर चक्कर खा रहा है। मैं उनको बैठे देख आगे से लौट पड़ी और पास बैठकर बोली—कैसी तबियत है?

जब मैं उनके पास बैठ गई, तो मुझे घबराई देखकर वे बोले—कोई घबराने की बात नहीं है। यह कमान जो लचती है, वजह से शायद मेरे सर में चक्कर आने लगा है, ठीक हो जायगा, मैं नीचे उतर जाऊँगा।

मैंने चाहा कि उनको नीचे उतार आऊँ, क्योंकि मुझे डर लग रहा था कि कहीं यह गिर न पड़ें।

आप बोले—कोई घबराने की बात नहीं है।

तब तक दो मद्रासी सज्जनों ने आपका हाथ पकड़कर नीचे उतारा।

ख़ैर, उसको देखने के बाद हम दोनों चामुण्डी का पहाड़ देखने गये। वह भी बहुत ऊँचा था मगर वहाँ तक मोटर चक्कर काटती हुई जाती है। मैं वहाँ भी डर रही थी कि कहीं यहाँ भी आपके सर में चक्कर न आये।

मैंने कहा—तो आप ऊपर न जाइए।

आप बोले—इसकी कोई बात नहीं है, कमान जो वहाँ लचती थी, इसी वजह से मेरे सर में चक्कर आया था। अब यहाँ कोई डरने की बात नहीं है।

इसी तरह छः दिन मद्रास में जाते हुए मालूम भी न हुए। उस समय मुझे कितना गर्व था और कितनी ख़ुशी थी। लोग उनको अपनाते थे, मुझे

अँग्रेजी सीखने में परिश्रम किया, उसी तरह हिन्दी में भी बाज़ी ले जायँगे।

दूसरे दिन हम एक बहुत ऊँची कमान को देखने गये। यह बहुत पुरानी कमान है। आपने लोगों से पूछा कि आखिर इसका इतिहास क्या है? लोगों ने बताया—साहब इसका पता नहीं कि यह कब और क्यों बनी, कई दफे इसको तोड़ने की कोशिश की गई कि आखिर यह नीचे कहाँ तक है, मगर इसका कुछ पता नहीं लगा। इसके ऊपर हम कोई पन्द्रह-सोलह आदमी चढ़े। जब उस पर खड़े हो गये तो पैर से दबाने पर कमान दबती थी, लचकती थी। आप कुछ ही दूर गये और सर थामकर बैठ गये। मैं आगे निकल गई थी। आप दोनों हाथों से सर थामकर बैठ गये। बोले—मेरा सर चक्कर खा रहा है। मैं उनको बैठे देख आगे से लौट पड़ी और पास बैठकर बोली—कैसी तबियत है?

जब मैं उनके पास बैठ गई, तो मुझे घबराई देखकर वे बोले—कोई घबराने की बात नहीं है। यह कमान जो लचती है, वजह से शायद मेरे सर में चक्कर आने लगा है, ठीक हो जायगा, मैं नीचे उतर जाऊँगा।

मैंने चाहा कि उनको नीचे उतार आऊँ, क्योंकि मुझे डर लग रहा था कि कहीं यह गिर न पड़ें।

आप बोले—कोई घबराने की बात नहीं है।

तब तक दो मद्रासी सज्जनों ने आपका हाथ पकड़कर नीचे उतारा।

ख़ैर, उसको देखने के बाद हम दोनों चामुण्डी का पहाड़ देखने गये। वह भी बहुत ऊँचा था मगर वहां तक मोटर चक्कर काटती हुई जाती है। मैं वहां भी डर रही थी कि कहीं यहां भी आपके सर में चक्कर न आये।

मैंने कहा—तो आप ऊपर न जाइए।

आप बोले—इसकी कोई बात नहीं है, कमान जो वहाँ लचती थी, इसी वजह से मेरे सर में चक्कर आया था। अब यहां कोई डरने की बात नहीं है।

इसी तरह छः दिन मद्रास में जाते हुए मालूम भी न हुए। उस समय मुझे कितना गर्व था और कितनी ख़ुशी थी। लोग उनको अपनाते थे, मुझे

यही कहा कि साहब, और दिन ठहरते तो अच्छा मालूम होता। यह थोड़े से दिन हम लोगों के सामने से निकल गये। हमारी इच्छा नहीं होती कि आपको जाने दें। सब लोगों से यही वादा किया कि हम लोग गर्मी में आयेंगे, जब मेरे बच्चों की छुट्टियाँ हो जायेंगी। तब अगली बार हम पूरे परिवार के साथ आयेंगे। और तब कमसे-कम एक जगह १५ दिन तक ठहरेंगे।

जब हम दोनों आदमी रात को इकट्ठा हुए, तो आप मुझसे बोले—देखो यह कितना सुन्दर प्रान्त है, यहाँ के आदमी कितने सभ्य और कितने सज्जन हैं। हम लोगों को ऐसा मालूम होता है, जैसे हमेशा के मिले-जुले आदमी हों। अबकी बार जब हम आयेंगे तो बेटी और बच्चों को ज़रूर ले आयेंगे। उन बिचारों को भी दिखा देंगे, तब यहाँ का आना बहुत अच्छा लगेगा। यहाँ रहने में बहुत आनन्द आयेगा।

मैं बोली—अच्छा यों भी मुझे लगता है।

आप बोले—नहीं, यह स्वाभाविक बात है, जब बच्चे अपने घर से दूर रहते हैं, तब कुछ अपने में कमी आ जाती है। और चिन्ता भी बनी रहती है, अब इसी लिए तो तुम्हारी आगे जाने की इच्छा नहीं हो रही है। बेटी को बच्चा होनेवाला था। न मालूम उसकी क्या हालत है।

जब हम वहाँ से चले, सब लोग स्टेशन पर पहुँचाने आये। और पूना से एक महाशय का पत्र आया कि आप मेरे यहाँ लौटती बार अवश्य आएँ।

आप मुझसे बोले—चलो, पूना भी चलो।

मैंने कहा—मेरी तबियत नहीं लग रही है, सीधे बम्बई चलो।

आप बोले—वह चालाक आदमी है। वह तुम्हारे मकान की चाभी भी लेता आया है और लिख भी दिया है कि चाभी इसी लिए लेते आया हूँ जिसमें आप इधर अवश्य आयें। जैसे २८ दिन बाहर बिताये, उसी तरह दो दिन तो जरूर उनके मेहमान बनेंगे।

मैं बोली—जब ऐसा है तो चलना ही है। मगर यह होता है कि जितनी ही जगह जाओ, उतने ही अपने होते जाते हैं। उतनी ही सबकी मुहब्बत

होती जाती है, उतनों ही के साथ अपना अपनापा होता जाता है। उतने ही ज़्यादा बन्धन हमारे बँधते जाते हैं।

आप बोले—इसमें तुम्हारी हानि ही क्या है। थोड़े दायरे में न रह कर अगर विशाल दायरे में चला जाय, तो मेरे ख़याल में तो कोई नुक़सान नहीं, फ़ायदा ही है।

मैं बोली—फ़ायदा कुछ भी हो, अपनी आत्मा को तो तकलीफ़ होती है। मान लीजिए मेरी इच्छा सबको देखने की है, मैं रहूँगी बनारस, और यह लोग इतनी दूर, बतलाइए इनसे कैसे मिलूँ।

आप बोले—मेरा भी तो वही हाल होगा।

मैं बोली—पुरुषों को ऐसा नहीं होता। आपका पत्रव्यवहार सबसे होता रहेगा। कभी आप इधर चले आयेंगे, कभी वह लोग बनारस आयेंगे तो मिल लेंगे। मगर मेरे मिलने के लिए कौन दौड़ा जायगा, और मुझे कहाँ-कहाँ आना होगा।

आप बोले—जब मैं आऊँगा तो तुम मेरे साथ अवश्य आना। और जब यह लोग उधर जायेंगे, तब तुम तो मिलोगी ही।

वहां से चलकर हम पूना आए। मगर उन लोगों की भी खातिर देखकर बड़ी तबियत ख़ुश हुई, क्योंकि वह भी स्त्री पुरुष दोनों मेरे बहू और बेटे बन गये। और जब वहां से चली तो मुझे वही तकलीफ। यहां तक कि उस बेचारी ने हम लोगों के लिए खाना भी रख दिया था। वादा करवाया कि हम किसी छुट्टी में फिर पूने आयें। फिर पूना जाने का मौका न मिला, और पूना तो क्या, कहीं भी जाने का मौक़ा न मिला। हाँ वह लोग जो कहते थे कि सपने में ५ दिन बीत गये, उनको सपने के वह दिन याद हैं या नहीं, मालूम नहीं। हाँ, मेरे लिए तो शायद, जब तक जिन्दा रहूँगी, तब तक वह मनोहर सपना याद रहेगा, और जब-जब याद पड़ेगा, तब तक घंटे दो घंटे के लिए सब का यह स्नेह मुझे बेचैन कर देगा। और शायद वह सपना, इस जीवन में फिर देखने को न मिलेगा, और कैसे मिले जब मैं

वह चीज़ ही न रह गई तो वह सपना कैसा। और अब उस सपने की मेरी ख़्वाहिश हो तो वह शायद मेरा पागलपन होगा। फिर भी मैं कहती हूँ: ख़ैर, मुझे जो सपना देखने को मिल गया उसके लिए भी ईश्वर को धन्यवाद है। नहीं, मैं ऐसी भाग्यशालिनी न थी।

उसके बाद जब मैं घर पहुँची, मुझे घर पर पहुँचा कर आप बोले—अच्छा, अब मैं स्टूडियो जाता हूँ। मैं बोली—नहा तो लीजिए। आप बोले—नहाने लगूँगा तो देर होगी। मैंने कहा—देर होगी तो क्या होगा। आप बोले—नहीं, जिसके लिए तुम घबराई हुई आई हो, वहाँ जाकर देखूँ, लोगों के पत्र आये होंगे। बेटी का भी हाल मालूम होगा। अभी मैं लौटा आता हूँ। सिर्फ़ चिट्ठी ही लेने तो जा रहा हूँ।

थोड़ी देर बाद, एक घंटे में वह आ गये। मुझसे बोले—बेटी के यहाँ से तार आ गया है। तार में लिखा है बेटी और बच्चा ख़ैरियत से हैं। बच्चों का भी ख़त आया है, सब ख़ैरियत से है। बेटी के बच्चा आठ ही तारीख़ को हो गया है। तभी तुम्हारी तबियत वहाँ नहीं लग रही थी। बेटी की तबीयत ख़राब रही होगी, बार बार तुम्हारी याद करती रही होगी। तभी तुम भी वहाँ परेशान थीं।

उसके बाद हम लोगों ने अप्रैल के महीने में बम्बई से प्रयाण किया। यह सन् '३५ की बात है।

जब वहाँ से चलने लगे, तब आप बोले—चलो बाज़ार हो आवें। और बच्चों के लिए कुछ सामान ले लें।

मैं बोली—तब आप जाते क्यों नहीं हैं?

वह बोले—आख़िर यहाँ बैठी क्या करोगी? तुमको भी तो कुछ लेना होगा।

तब उनको याद पड़ा। बोले—बेटी के लिए नाक में पहनने के लिये लौंग लेनी है।

वह लौंग का क़िस्सा ऐसा था। रक्षाबन्धन पर बेटी बम्बई में ही थी। रक्षाबन्धन के दिन बोले—बेटी क्या लोगी?

बेटी बोली—जो आप देंगे वही। जब तक वह कह ही रही थी, तब तक ज्ञानू उसकी ओर लपका आया। बेटी उनके सामने शर्म से बच्चे को छूती न थी, इसी ख़याल से कि बच्चा गोद में चला आयेगा। वह अपने कमरे से चली गयी।

आप मुझसे बोले—बेटी से कहो कि लौंग क्यों नहीं लेती। यहाँ हीरे से जड़ी लौंगें बहुत अच्छी होती हैं। तब उसी जगह से बेटी ने आवाज़ दी कि जब आप को ले ही आना है, तब मुझसे पूछने की क्या ज़रूरत है।

तब आप बोले—मैं ले भी न आता तो तुझे मुझसे लड़ाई करना चाहिए था।

मैं बोली—तो क्या लड़ाई करना भी अच्छा होता है ?

तो आप बोले—बहिन और बेटियाँ अपनी दस्तूरी माँगने में झगड़ा भी करती हैं तो मुझे तो अच्छा मालूम होता है।

मैं बोली—जो ग्रामगीत-सग्रह के गाने आपने सुने हैं, शायद उसीसे आपको भी झगड़ा अच्छा मालूम पड़ने लगा है।

बोले—हाँ, बेचारियों ने अच्छे-अच्छे गाने बनाये हैं, तो क्या उन्होंने यों ही बनाये हैं ? हमारे यहाँ तो अँग्रेज़ियत आकर चौपट कर रही है। जैसे मालूम होता है कि वह हमें भावुकता से बहुत दूर लिये जा रही है।

यही किस्सा था लौंग का।

तब हम दोनों बाज़ार गए। बेटी के लिए १२५) की लौंग ली, उसके लिए एक चूँदरी ली। और छ. चूँदरी और ली। छोटे बच्चे बन्नू के लिए हाथ की घड़ी ली। मुझसे कान के फूल के लिए बोले—यह फूल तुम ले लो।

मैं बोली—फूल लेकर क्या होगा ?

आप बोले—बहुत ख़ूबसूरत है, ले लो, कान में पहनना।

मैं बोली—मुझे ज़रूरत नहीं है। बोले—मैं कहता हूँ ले लो, बहुत अच्छा है। मैं बोली—क्या क़ीमत है इसकी ?

आप बोले—बहुत दाम का थोड़े ही है। ७५०) रुपए का तो है ही।

मैं बोली—७५०) मुफ्त में आते हैं? बोले—मुफ्त में नहीं आते, तो तुम्हारे पास रुपये तो हैं।

मैं बोली—रुपये हैं तो बैंक में रहेंगे, इन्हें लेकर होगा क्या?

वहाँ से तो चले आए। घर आने पर बोले—आखिर तुमने फूल क्यों नहीं लिया? मैं बोली—आखिर फूल लेकर होता क्या? आप बोले—पहनतीं और होता क्या?

मैं बोली—मैं तो कसम खाये हूँ। यह तो आप को मालूम ही है। जिस साल महात्मा जी गोरखपुर में आए थे, उसी समय मैंने कसम खाई थी, और महात्मा जी ने स्त्रियों की मीटिंग में कहा था, जिस देश के मनुष्यों की कमाई का औसत ~)॥ हो, उन स्त्रियों को जेवर पहनने का हक ही क्या है। उन स्त्रियों को जेवर नहीं पहनना चाहिए। जेवर पहनती हैं, तो इसके माने हैं—चोरी करती हैं। उस समय बहुत सी स्त्रियों ने जेवर के लिये कसम खाई, उस समय मैंने भी कसम खाई। अब जो आप ने लखनऊ में हार बनवाया था, वह भी ज्यों का त्यों रक्खा हुआ है। यह फूल ले लूँ, तो इसको भी सन्दूक में रखना पड़ेगा। उससे तो कहीं अच्छा है, बैंक में रुपया रक्खा रहे, सन्दूक में रखने की ज़हमत से छुट्टी मिली। और बैंक कुछ तो रुपये का सूद देगे ही। आप मुझे वह रास्ता बताते हैं, जिसमें ज़हमत तो है, मगर आराम कुछ भी नहीं।

आप बोले—अगर यही था तो उस साल मेरे लिए इलाहाबाद से अँगूठी क्यों ले आई थी? आखिर अँगूठी के रुपये दिये या नहीं? जब कसम खाई थी, तो तुम्हें ख़रीदना ही नहीं चाहिये था, मैं तो तुम्हारा कहना मान लूँ और तुम न मानो?

मैं बोली—कौन सी ऐसी बात है, जो मैं नहीं मानती? हाँ जेवरों के लिये कसम खाई है, उसमें कहना कैसे मानूँ? मैं जब प्रतिज्ञा कर चुकी कि मैं ज़ेवर नहीं पहनूँगी, तो उसको कैसे टालूँ? बल्कि इसमें तो आपको मेरी मदद करनी चाहिये।

आप बोले—मदद की क्या बात है। प्रतिज्ञा करने के माने तो यह थे, कि उस दिन से किसी के लिये जेवर बनवातीं ही नहीं।

मैं बोली—तो इसके लिये मैंने थोड़े ही कसम खाई थी। बाल-बच्चे वाली ठहरी, मैं ख़ुद नहीं पहनूँगी तो क्या लडके लड़की न पहनेंगे?

आप बोले—मैं क्या बच्चा था, जो मेरे लिये अँगूठी खरीद कर लाईं, जो अब तक मेरे हाथ में मौजूद है?

मै बोली—बच्चे ही को कोई थोड़े प्यार करता है, प्यार के लिये बच्चे भी होते है, और अपने बडे भी होते हैं।

इसी लिये तुमको भी कहना मानना चाहिये। मै तुम्हारी सब बातों को मान लेता हूँ।

मै बोली—इसको छोड़ कर कौन सी ऐसी बात है जिसे मै नहीं मानती? जो बात थी, वह सब आपको बतला ही चुकी। इसके लिये आप मुझे क्षमा भी करेंगे।

आप बोले—तुम तो ख़ासी पागल हो।

सुबह के समय हमारे घर का सब सामान माल गाडी से भेजने के लिए पैक हो रहा था। आप के कई मित्र आए थे, जो यू० पी० के थे, वह सब सामान मालगाड़ी से भेजने के लिये तैयार कर रहे थे। आप को एकाएक याद आई कि ज्ञानू की गाडी रह गयी।

मुझसे बोले—अच्छा, ज्ञानू की गाड़ी तो बाकी रह गई।

मै बोली—जाने भी दीजिये। इलाहाबाद से ले ली जायगी।

आप बोले—यहाँ गाडियाँ अच्छी मिलती है, उसमें हर्ज ही क्या है, मुझे रुपया दो, सब सामान तो जा ही रहा है, उसके साथ वह भी चली जायगी।

मै बोली—किराया देने से फ़ायदा?

आप बोले—कैसे कहती हो, वहाँ चीज़ भी अच्छी नहीं मिलेगी, और रुपया भी ज़्यादा लगेगा।

मुझसे रुपये लिये। और जाकर अपने हाथ से गाड़ी ले आए। गाड़ी लेकर जब घर आए तो बोले—देखो, यह ४०) की गाड़ी यहां ६०) के नीचे न मिलेगी, किराया बहुत लगेगा तो ४)-५) रुपया लगेगा।

मैं बोली—ठीक है।

आप बोले—अब सबके लिये सब ठीक सामान आ गया।

मैं बोली—आपके लिए तो कुछ आया ही नहीं। हँस कर बोले—अच्छा हुआ, हम तुम दोनों यहां खाने गये। न तुमने कुछ लिया न हमने कुछ किया।

जब हम लोग बम्बई से चलने वाले थे, माखनलाल चतुर्वेदी का खँडवा से पत्र आया। उन्होंने लिखा था कि आप खण्डवा आइये। आप मुझसे बोले—चलो, खण्डवा चलें। जब हम लोग खण्डवा पहुँचे, पण्डितजी कई आदमियों के साथ पहले से स्टेशन पर मौजूद थे। जब उनके मकान पर हम लोग पहुँचे, पंडित जी ने हम लोगों के लिये एक कमरा पहले ही से तैयार कर रखा था।

पंडित जी किसी काम से बाहर चले गए। हम ही दो आदमी रहे। मैं उनसे बोली—क्या, पंडित जी के घर में कोई स्त्री नहीं है। आप बोले—मालूम तो यही होता है। अच्छा अभी आयें तो उनसे पूछो।

थोड़ी देर के बाद पंडित जी आए। मैं बोली—क्या साहब आपके घर में स्त्रियां नहीं हैं ?

पंडित जी बोले—हमारी माता जी और हमारे भाइयों की स्त्रियाँ हैं।

आप बोले, हँसकर—सबसे पहले इनको अन्दर लिवा ले जाइये।

पंडित जी मुझे लेकर अन्दर गए और सब से जाकर परिचय कराया। पंडित जी की माता जी मुझे बहुत स्नेहमयी मालूम हुईं। वह मुझ से कुछ देर तक बातें करती रहीं। फिर मुझे अन्दर नहाने के लिये लिवा ले गईं। आप लोगों ने तो खाना बाहर ही खाया, और स्त्रियों ने मुझे खाना अपने साथ खिलाया। उसके बाद पण्डित जी हम लोगों को घुमाने के लिए ले गए।

दूसरे दिन सुबह पण्डित जी हम लोगों को जंगल में लिवा ले गये, नदी

का किनारा था, जो खण्डवा से १९-२० मील की दूरी पर था। वहाँ पण्डितजी ने हम दोनों आदमियों को डाल पर बिठाला और खुद भी बैठ गये। हम दोनों के हाथ में एक-एक सन्तरा रखते हुए बोले—अच्छा आप लोग इसको छील कर खाइये। हम इसी तरह से फोटो लेना चाहते हैं।

मैं बोली—मैं सन्तरा न लूँगी न खाऊँगी।

आप हँस कर बोले—सारे सन्तरे, टोकरी की टोकरी, इनके सामने रख दीजिये। तब ऐसा मालूम होगा कि यह बेच रही हैं और हम लोग खरीद कर खा रहे हैं।

मैं झेंपती हुई बोली—अगर आप ऐसा करेंगे तो मैं डाल से उतर जाऊँगी। मुझे इस तरह अच्छा नहीं मालूम होता।

यह दोनों आदमी हँस रहे थे और मुझे झेंप मालूम हो रही थी। खैर सन्तरे हटा दिये गये, और मैंने हाथ से एक सन्तरा ले लिया। इसी तरह फोटो ले लिया गया। फोटो लेने के बाद हम लोगों ने सन्तरे ज़मीन पर बैठ कर खाये। वह भी बहुत सुन्दर जगह थी। घना जंगल, नदी का किनारा। अप्रैल का महीना था, मगर धूप बहुत तेज़ थी।

सन्तरे खा कर आपने उसी जगह पड़ी हुई एक लकड़ी में से एक लकड़ी तोड़ कर एक गुल्ली बना ली, एक डंडा। और गुल्ली-डंडा खेलने लगे।

पंडित जी बोले—कहो तो एक फोटो इस तरह का भी लें।

आप बोले—नहीं साहब, आप ऐसा फोटो लीजियेगा भी नहीं। नहीं लोग मेरी हँसी उड़ायेंगे कि बुढ़ौती में इनको गुल्ली-डंडा खेलने की धुन कैसे सवार हुई।

मैं बोली—क्यों अपनी दफे क्यों बुरा लगने लगा, अभी तो आप मुझे सन्तरा बेचने वाली बनाते थे? आप गुल्ली डंडा खेलना क्यों बुरा समझते हैं? आपका गुल्ली डंडा अब भी गाँव में मशहूर है। सब ही तो गाँव में कहते हैं कि गुल्ला-डंडा बहुत अच्छा खेलते थे।

हम दोनों आदमी मोटर पर बैठे, आप गुल्ली-डंडे पर पंडित जी से बातें करने लगे—साहब, हम लोगों का जीवन अब दिन पर दिन बहुत महँगा होता जा रहा है। बच्चों का खेल ही एक ले लीजिये, स्कूल और कालेज में जो खेल आज कल बच्चे खेलते हैं, वह बहुत महँगा होता है। पहले गुल्ली-डंडा, गोली और इसी तरह के बहुत से खेल थे, जो कि पहले के लिए तो सबसे अच्छे थे और आज कल के खेलों को देखते हुए भी कम अच्छे न थे। इन खेलों में एक पैसा भी किसी का खर्च नहीं होता था। और इन खेलों में काफी रुपये लग जाते हैं मगर कसरत के लिहाज़ से देखें तो दोनों बराबर हैं।

इसी तरह की समालोचना करते करते घर पहुँचे। पाँच दिन हम लोग खण्डवा में रहे। आप दो-तीन स्कूल में गए। दो दिन साहित्यिकों की मीटिंग आपके सभापतित्व में हुई। मैं तो फिर उसके बाद बाहर घूमने नहीं गई, क्यों कि जो आनन्द मुझे माता जी के पास मिलता वह मुझे बाहर नहीं मिलता था।

आप बोले—चलती क्यों नहीं हो ?

मैं बोली—मुझे तो घर में ही अधिक अच्छा लगता है।

हँस कर बोले—अब तुम्हें कोई वहाँ सन्तरे बेचने वाली नहीं बनायेगा।

मैं बोली—इस डर से थोड़े ही नहीं जाती हूँ, मुझे यहाँ अच्छा ही लगता है। यहाँ माता जी हैं।

खँडवा से जिस रोज़ हम चले, उस रोज़ आप बोले—चलो सागर होते चलें। बेटी को भी देख लें।

मैं बोली—आपने चिट्ठी भेज दी होती तो अच्छा होता।

आप बोले—तार दे दूँगा। उसे भी साथ लेते चलेंगे। अगर नहीं बिदा करेंगे तो उन लोगों से मिल लेंगे।

मैंने कहा—यह ठीक होगा। हम लोग सागर पहुँचे।

वहाँ पाँच रोज़ तक रहे भी। आपके स्वागत में जगह-जगह मीटिंगें होती रहीं। गल्प-सम्मेलन भी हुए।

एक दिन गल्प-सम्मेलन मे आप जा रहे थे तो बोले—तुम भी चलो और बेटी को भी लेती चलो।

मै बेटी से बोली—चलो न तुम भी।

बेटी बोली—अम्माँ, यहाँ पर्दे की प्रथा है। ठीक न होगा।

मैंने कहा—बेटी न जा सकेगी। और मेरी भी इच्छा नहीं है।

आप बोले—चलो बैठो, क्या हर्ज है।

मैंने कहा—यहाँ लोग पर्दा करते हैं।

आप बोले—पर्दा कैसा! चलो।

मै बोली—पर्दा अभी हटा कहाँ है?

"मेरे घर में तो पर्दा नहीं है।"

"समय के मुताबिक सब कुछ करना पड़ता है। मै बूढ़ी ठहरी।"

"ख़ैर, तुम चलो।"

"नहीं मै भी नहीं जाऊँगी।"

जब मै नहीं गई तो वे वासुदेव के साथ गोदी में बेटी के बच्चे को लेकर गये।

पाँचवें रोज़ जब हम वहाँ से चलने लगे तो बड़ी करुणा उमड़ आई। बेटी रोने लगी। उसके बच्चे हम लोगो के साथ आने के लिए रोने लगे।

आप बोले—इस बच्चे को लेती चलो न। तुम्हारी भी तो वहाँ अकेली तबियत नहीं लगेगी।

मैं बोली—बेटी और घबरायेगी।

तब आप बेटी से बोले—रोती क्यों हो? इसी छुट्टी के बाद धुन्नू को भेजूँगा। मै तो इसी ख़याल से आया था कि तुमको लेता चलूँ। मगर अभी शायद उनकी बहन आनेवाली है। ठीक भी है। वह बेचारी उतनी दूर से आयेगी और तुम्हें देख भी नहीं पायेगी। धुन्नू को बीस-पचीस रोज़ ही में मै भेजूँगा।

वहाँ से हम लोग इलाहाबाद आये। स्टेशन पर एक रिश्तेदार कार लिये

खड़े मिले। आपने हँसते हुए पूछा—धुन्नू वगैरह कहाँ रह गये? और तुम्हें कैसे ख़बर मिली?

वे बोले—उन्हीं लोगों से तो। शायद उन लोगों को गाड़ी का टाइम न मिल सका हो।

'तो चलो, बोर्डिङ्ग-हाउस से उन लोगों को भी ले लें।'

यह कहते समय उनके चेहरे पर ऐसे भाव उभर आये थे कि जैसे अब ये बिना बच्चों के देखे नहीं रह सकते। मानो क़ैदी जेल से छूटकर घर के आदमियों को देखने को उत्सुक हो। सीधे कार से बोर्डिङ्ग-हाउस पहुँचे और दर्वाज़े पर आवाज़ लगाई। दोनों बच्चे स्टेशन आने को तैयार हो रहे थे। लड़के आये। वहाँ से चलकर दो दिन लूकरगंज में ठहरे।

मैं बोली—आप लूकरगंज ही ठहरेंगे?

आपने हँसते हुए जवाब दिया—तो कैसे कहूँ कि नहीं चलूँगा।

दूसरे रोज़ आप मेरे भाई के यहाँ गये। पाँच दिन तक हम लोग वहाँ रहे। पाँचवें दिन मुझसे बोले—चलो, सोरांव तुम्हारी बहन से मिल आयें।

मैं बोली—ज़रूर चलिए।

हम दोनों वहाँ भी साथ-साथ गये। वहाँ भी पाँच दिन रहने के बाद हम लोग चलने को हुए तो बहन बोली—अभी न जाने दूँगी। बाबूजी, इन्हें छोड़ते जाइए।

आप बोले—यह तो मेरे साथ आपका अन्याय है। और कौन घर है? यह तो वही बात हुई कि जैसे पिंजड़े में दो पक्षी हों और उनमें से एक निकाल दिया जाय।

बहन बोली—मेरी इच्छा तो नहीं होती कि इन्हें जाने दूँ। मैं दस-पाँच दिनों में ही किसी के साथ भेजवा देती। आपको तकलीफ़ न होती।

मैं उस समय बोली—आप मुझे रहने न दीजिए?

आपने मुझसे कहा—तुम रहना चाहो, रहो। तब मैं कानपूर हो आऊँ।

मैं बोली—बनारस ही न चले जाइए।

आप बोले—अकेले उस घर में मुझसे रहा न जायगा।

मैं बोली—आप तो प्रेस में रहेंगे।

आप बोले—आखिर रात तो घर पर ही बिताऊँगा। जिस घर में तुम नहीं रहोगी, वहाँ मै कैसे रह सकूँगा।

मै बोली—अगर यह बात है तो चलो मै चल रही हूँ।' बहन से मैंने प्रार्थना की कि छुट्टी दो।

हम दोनो बाहर आये। दिन भर वे घर रहते। प्रेस तो कभी शायद गये हों। मुझे घर पर अकेली छोड़ना वे बर्दाश्त नहीं कर पाते थे।

एक रोज़ शहर आ रहे थे। मुझसे बोले—तुम क्यों नहीं चल रही हो? तुम भी चलो।

मैं बोली—आप तो छापेख़ाने बैठेंगे, और मैं क्या करूँगी?

चलो हम तुम्हें बेनिया पर पहुँचा आयेंगे। उनकी अम्माँ से मिल लेना। आख़िर यहाँ दिन भर बैठी-बैठी क्या करोगी?

मै बोली—नहीं आप ही जाइए।

बोले—मै ही क्यों जाऊँ। काम होता रहेगा। कभी फिर चले जायेंगे। मुझे जो ख़ुशी यहाँ मिलेगी, सो वहाँ कहाँ नसीब होगी। जैसे ग्यारह महीने से काम हो रहा है, वैसे ही होता रहेगा। मारो गोली।

मै बोली—बिना मेरे आप नहीं जा सकते?

आख़िर आप उस दिन नहीं ही गये।

उसके पाँचवे दिन इलाहाबाद से ख़त आया कि धुन्नू को चेचक निकल आई है। शाम के सात बजे के लगभग आपको पत्र मिला। दिन को उस दिन हम एक कमरे में आराम कर रहे थे। मैं सो रही थी। दो बजे उनकी नींद खुली। धीरे से वे अपने कमरे में चले गये। दरवाज़ा धीरे से बन्द करते गये। उसी समय मैंने एक बड़ा डरावना सपना देखा। मुझे ख़्वाब में उनके बग़ल ही में सोने का ध्यान था। स्वप्न में मैं उनके पैर को अपने पैर

से खोदना चाहती थी, जिससे वे मुझे जगा दें। एकाएक दरवाज़ा खोलकर मैं उनके कमरे में गई। वे उस समय कुछ लिख रहे थे। मुझे घबराई हुई देखकर बोले—क्या है ?

'आप जगाकर आते। आज के स्वपने से तो मैं बिलकुल घबरा उठी हूँ।'

आप बोले—मुझे क्या मालूम कि तुम्हारी यह हालत होगी। इसी से मैं कहीं बाहर नहीं जाता।

शाम को जब धुन्नू की बीमारी का खत मिला तो बोले—कल सुबह जाना होगा।

मैंने कहा—मुझे भी लेते चलिए।

आप बोले—नहीं, उन्होंने लिखा है कोई घबराने की बात नहीं है। यहाँ कोई इक्का-तांगा तो मिल न सकेगा। तुम कैसे पैदल चलोगी।

मैंने कहा—नहीं मेरी तबीयत नहीं लगेगी। आपने आग्रह करते हुए कहा—मत जाओ। बड़ी तकलीफ पाओगी। मैंने कहा—मेरी तबीयत घबड़ाती रहेगी।

आप बोले—पिछले खत में उसे मैंने डाँटा भी था। बीमारी में उसे और दुःख उससे हुआ होगा।

"क्यों डाँटा था ?"

"वह फिज़ूल ख़र्चा करता है।"

"रुपये के लिए न डाँटा कीजिए।"

"आदत बिगड़ जायगी। उन्हीं लोगों को तो दुःख उठाना पड़ेगा। मुझ से कुछ कहा नहीं जा रहा है, न जाने कैसे होगा ?"

हम दोनों सुबह पाँच बजे पैदल चले। कुछ दूर जाने पर इक्का मिला। गाड़ी छूट गई। तब हम लोग लारी से चले। ४॥ बजे शाम को हम लोग प्रयाग पहुँचे। देखा कि धुन्नू अच्छा हो रहा है। शाम ७॥ बजे तक उसी के पास हम लोग रहे। उस दिन हम लोगों ने कुछ नहीं खाया।

धुन्नू जब अच्छा हो गया तो उसी वक्त चौदह-पन्द्रह दिन की छुट्टी बोर्डिङ्ग

हाउस में हुई। बोर्डिङ्ग हाउस के नौकरों को उन्होंने दो दो रुपये इनाम दिये। हम लोग बच्चा को लेकर बनारस आये। बनारस स्टेशन पर एक तांगे को धुन्नू ने इसलिए वापस कर दिया कि वह ज्यादा पैसे मांगर हा था। वह दूसरा ताँगा बुलाने गया। दूसरे तांगे को पटाकर लाने में उसे देर हुई। आप मुझसे बोले—देखनी हो लौंडों को! अगर वह ग़रीब चार पैसे ज्यादा ही ले लेता तो क्या हो जाता? ख़ुद कंजूसी नहीं करते। यह बडी गन्दी आदत है। संसार विचित्र है।

मैं बोली—आपकी तरह कोई साधु न बने तो! तब आप बोले—क्यों नहीं, बुरी बात है। जब हम दूसरों से ईर्ष्या करते हैं और अपना रोना रोते हैं तब दूसरों के साथ भी वही बर्ताव करना चाहिए। आदमी को अपनी तरह दूसरों को भी समझना चाहिये। फिर अगर ऐसी बात न हो तो दूसरों के मोटे होने पर ईर्ष्या न करो। न फिर तुम्हें गिला करने का हक है। जैसे तुम उन लोगों को मोटा नहीं देखना चाहते, वैसे ही खुद भी मोटे होने की इच्छा न करो।

मैं बोली—यह तो आप रूस के डिक्टेटर के स्वर में बोल रहे हैं।

आप हँसकर बोले—ख़ैर, मैं तो नहीं हूँ; पर देखना कभी भारत का बच्चा-बच्चा रूस के डिक्टेटर से भी ज़्यादा गरम विचार का बनेगा। तुम्हें भी उस समय गरीबों के कठिन से कठिन काम में हिस्सा लेना पड़ेगा।

मैं बोली—और आपको फावड़ा।

हँसते हुए जवाब दिया—कलम फावड़े से ज्यादा ताक़त लेती है। मैंने कहा—पर घट्ठे तो नहीं पड़ते। यहाँ तो देखो, और न सही सुपारी काटने का घट्ठा तो है ही।

आप बोले—तुम्हारे बच्चों का क्या है?

इतने में धुन्नू ताँगा लेकर पहुँचा। फिर भी उससे और ताँगेवाले से खिचखिच हो ही रही थी।

आप बोले—क्या बकबक करते हो जी! ताँगा इधर लाओ। कुलियों

ने सामान रखा। रास्ते भर वे तांगेवाले से दुःख-सुख की कहानी पूछते रहे।

वहां से आने के बाद तीसरे ही दिन बन्नू को चेचक निकली। फिर वही परेशानी। शाम के वक्त धीरे-धीरे उसे कोठे पर ले जाते और उससे बातें करते रहते। तबतक मैं नीचे खाना पकाती रहती।

एक रोज़ बन्नू अपनी चारपाई से उठकर मेरी चारपाई पर सो रहा। मैं पहले ही सो गई थी। उन्होंने देखा कि वह मेरी चारपाई पर सोया है। उससे बड़े प्यार से बोले—बन्नू बेटा अपनी चारपाई पर आओ।

× × ×

प्रिय रानी,

मैं तुम्हें छोडकर काशी आया। मगर यहाँ तुम्हारे बिना सूना-सूना लग रहा है। क्या कहूँ तुम्हारी बहन की बात कैसे न मानता। न मानने पर तुम्हें भी बुरा लगता। जिस समय तुम्हें उन्होंने रोका, मैं जी मसोसकर रह गया। तुम तो अपनी बहन के साथ वहां खुश होगी, मगर मैं यहाँ परेशान हूँ। जैसे एक घोंसले में दो पक्षी रह रहे हों और उनमें एक के न रहने पर एक परेशान हो। तुम्हारा यही न्याय है कि तुम वहां मौज करो और मैं तुम्हारे नाम की माला फेरूं। तुम मेरे पास रहती हो तो मैं भरसक कहीं बाहर जाने का नाम नहीं लेता। तुम आने का नाम नहीं लेतीं। मैं १५ तारीख़ को प्रयाग यूनिवर्सिटी में बुलाया गया हूँ। यही बात है कि मैं अभी तक नही आया नहीं तो अब तक कभी पहुँच गया होता। इसी लिए मैं सब्र किये बैठा हूँ। अब तुम पन्द्रह तारीख़ को आने के लिये तैयार रहना। सच कह रहा हूँ घर मुझे खाये जा रहा है। कभी-कभी मैं यह सोचता हूँ कि क्या सभी की तबीयत इसी तरह चिन्तित हो जाती है या मेरी ही। तुम्हारे पास रुपये पहुँच गये होंगे। अपनी बहन को मेरी नमस्ते कहना। बच्चों को प्यार। कही ऐसा न हो कि इस पत्र के साथ ही मैं भी पहुँचूं। जवाब जल्द लिखना।

तुम्हारा धनपत।

× × ×

बेटी को आम ज़्यादा अच्छा लगता था। बेटी जब ससुराल गई, तभी से आप पहले उसे आम भेजकर तब खुद खाते। सन् '३५ की बात है। आप लखनऊ गये थे। वहाँ से दशहरी और सफ़ेदा लाये। जिस रोज बनारस पहुँचे, उसी दिन बम्बई से मुंशी का तार आया कि आओ।

आप बोले—धुन्नू के हाथ बेटी को आम भेज देना। मैं तो बाम्बे जा रहा हूँ।

मैं बोली—धुन्नू ले जाय तो न!

आप बोले—क्यों न ले जायगा ?

'आम का उसे शौक है। अगर आम वह न ले जाय तो उसे जाने भी न देना।'

मैं बोली—आप जैसा कह रहे हैं, वैसा ही करूँगी।

वहाँ से आप लौटे तो पूछा कि आम भेज दिये तुमने ?

मैंने कहा—हाँ।

साहित्य-परिषद् की मीटिंग अप्रैल, ३६ में वर्धा मे थी।

आप मुझसे बोले—वहां से लौटने पर मैं बेटी को लेता आऊँगा। वहाँ लिख दो।

मै बोली—मैं पहले ही लिख चुकी हूँ। चलने लगे तो मैं बोली—देर न लगायेगा।

आप कहने लगे—मुमकिन है एकाध दिन की देर हो जाय। कई जगह जाना है। मुझे खुद जल्दी रहती है। हाँ, सागर शायद देर लग जाय। जिस दिन लौटे, मैंने देखा बेटी साथ में नहीं। मैं दरवाज़ा खोलने गई। मेरे पूछने पर, बिना जवाब दिये ही ऊपर चले आये। जब मैं ऊपर आई तो बोली—बेटी क्या हुई ?

आप आँखों में आँसू भरकर बोले—बीमार है। मै बोली—क्या हुआ है ? बोले—गर्भ था, गिर गया है, मुझे तो पहुँचते ही डाक्टर ने बताया।

मैं बोली—आप मिले कि नहीं ?

'मिला क्यों नहीं। दो दिन तक रहा भी। अगर उसकी यही हालत रही तो वह बेमौत ही मर जायगी। न मालूम इन गधों को कब समझ आयेगी। इस बीसवीं शताब्दी में भी ये गधे हैं।'

मैं बोली—कोई खुद बीमारी कर लेता है ?

आपका यह कहते-कहते गला भर आया कि सब हमारे कर्म का फल है।

उसी रात को मेरे यहां चोरी हुई। चोरी में १०००) नकद और १५००) के जेवर गये। चोर का कहीं भी पता न लगा। चोरी एक खाना पकानेवाले महाराज ने की थी। जब कुछ भी पता न लगा तो बोले—तुम जेवरों का शोक तो करो न। वे तो तुम्हारे बक्स में रखे ही रहते थे। उस बेचारे की बीवी पहनकर खुश होगी। हाँ, तुम्हें रुपयों का अफसोस होगा। क्योंकि प्रेस के मजदूरों का वेतन देना था। मगर वह भी क्या! कहीं न कहीं से वेतन दे ही दिया जायगा।

मैं बोली—मेरे ढाई हजार निकल गये। आपको मज़ाक सूझी है।

तब अपनी हँसी हँसते हुए बोले—तुम ढाई हजार की चिन्ता कर रही हो। आदमी का जीवन एक दिन चला जायगा। यों ही मज़ाक में चला जाता है, हम कुछ कर नहीं पाते। तुमको तो यही सोचकर खुशी मनानी चाहिए कि बेटी मरने से बची। वह अच्छी हो जाय, यही क्या कम है ? समझ लूँगा, तीन महीने मैंने मजूरी नहीं की। मैं चुपचाप अपने कमरे में आकर बेटी को ख़त लिखने बैठी। आप भी वहाँ से मेरे कमरे में आ गये। बोले—क्या लिख रही हो ?

मैं बोली—बेटी को ख़त लिख रही हूँ।

आप बोले—मैं ख़त लिख दूँगा।

मैं बोली—क्यों ?

आप बोले—तुम्हारे दिमाग में वही चोरी की बात घुसी है, उसे भी लिख दोगी। बीमार लड़की सुनकर अफसोस करेगी।

मैं बोली—आप ही लिख दीजिए। आपने खुद पत्र लिखा।

जून का महीना था। धुन्नू और बन्नू को उसे लाने भेज रहे थे। धुन्नू से बोले—जाकर बगीचे से एक सैकड़ा आम लिवा लाओ।

धुन्नू बोला—बोझा हो जाता है। अब तो बहन यहीं आयेगी।

आप बोले—बोझा क्या हो जायगा? तुम अपने सिर पर ले जाओगे? बेटी आयेगी, पर वासुदेव तो नहीं खायेगा। उसे नहीं खाना चाहिए?

उसे तो कहा ही था, सुबह जब आप घूमने गये तो ६) रुपया का आम खरीदकर लाये। जब आदमी को लिवा लाये तो मुझसे बोले, इसे तुम ठीक-ठीक बन्द कर देना।

मै बोली—ये पके आम क्या होगे?

आप बोले—इन बच्चो को दे देना। नहीं तो ये उसी में से निकाल-निकालकर खाना शुरू कर देगे।

सन् ३२ मे बेटी को बड़ा बच्चा पैदा हुआ। जब बच्चा हुआ तो वहाँ से तार आया। आप नीचे से ही मुझे आवाज़ देने लगे—नीचे आओ। तुम्हें खुशखबरी सुनायें।

मै आँगन मे खड़ी होकर बोली—कहिए क्या है?

आप बोले—बेटी के बच्चा हुआ है। दोनो अच्छी तरह हैं।

मै बोली—ईश्वर को धन्यवाद।

उसके यहाँ जाने की तैयारी हो रही थी कि द्विवेदीजी का स्वागत करने के लिए निमंत्रण मिला। उसी दिन तार भी आया कि बेटी सख़्त बीमार है, चले आइए। प्रेस में यह सूचना मिली। वहाँ से आप घर आये। ऊपर गाना-बजाना हो रहा था। आपने नीचे से आवाज़ दी—इसे बन्द करो और यहाँ आओ। जब मै नीचे गई तो बोले—इत्मीनान से बैठ जाओ।

मैं बोली—'कहिए। क्या है?'

आप बोले—बेटी सख्त बीमार है। सागर के अस्पताल में उठाकर लायी गयी है। अब इस समय कौन-सी गाडी जाती है? हमें चलना चाहिए। या

इलाहाबाद तक लारी से चलें ? वहां से कोई न कोई गाड़ी मिल ही जायगी। टाइम-टेबिल देखने लगे। मालूम हुआ कि इस समय कोई भी गाड़ी इलाहाबाद नहीं जाएगी।

मैं बोली—सुबह चलेंगे।

उस दिन न उन्होंने खाना खाया, न पानी पिया। सुबह के समय हम दोनों चले। वहां इलाहाबाद जाकर नौ बजे उतरे। फिर सागर के लिए कोई ट्रेन न मिली। इलाहाबाद के वेटिंग-रूम में हम गये। मुझसे बार बार पूछें, बताओ बेटी की हालत क्या होगी।

मैं बोली—मैं जानती हूँ ? ईश्वर जाने। वहां कुछ देर रहने के बाद बोले—चलो। लूकरगंज से ख़बर लायें। वहां से लूकरगंज पहुँचे। जब वहां पहुँचे तो पता चला कि यहां कोई ख़बर नहीं।

आप बोले—न जाने उसकी क्या हालत है। अब भगवान ही का सहारा है। किसी तरह दिन भर लगे रहे। रात के नौ-बजे की ट्रेन से सागर को चले। ट्रेन में बार-बार उसकी हालत मुझसे पूछते। मैंने उनकी अधीरता देखकर अपने को पत्थर का बना लिया।

सुबह जब कटनी से ट्रेन की बदली हुई तो मैं बोली—आप हाथ मुँह धो डालिए। बेटी अच्छी है। यह सुनकर वे खिल पड़े। बोले—सच ?

मैंने कहा—हां। इन लोगों ने घबराहट में तार दे दिया। आप हाथ-मुँह धो कर कुछ नाश्ता कर लें।

फिर हम एक बजे के लगभग सागर पहुँचे। प्लेटफार्म पर वासुदेव अपने छोटे भाई के साथ खड़ा था। वासुदेव के भाई के पास फौरन पहुँचकर बोले—बेटी कैसी है ?

'अच्छी है।'

उसके हाथ में दो रुपए देते हुए बोले—मिठाई तो ले लो। जब हम लोग अस्पताल में पहुँचे तो लक्ष्मण से बोले—पहले मुझे बेटी के पास ले चलो। बेटी को खाट पर पड़ी देखा। बुख़ार चढ़ा था। बच्चा दूसरे पालने

पर अलग पडा था। बीमार बेटी हमें देखकर रो पडी। बेटी का रोना सुनकर बोले—घबराओ मत। अच्छी हो जाओगी। बच्चे को देखकर बोले—इस गुलाब के फूल पर, ईश्वर, दया कर। उसके बाद आठ दिन तक आप रहे। आठ दिन के बाद ऐसा मालूम हुआ कि बेटी का बुख़ार उतर गया है। बेटी से बोले—अब हम लोग चलें न? तुम जैसे ही अच्छी होगी धुन्नू ले जायगा।'

बेटी बोली—या मुझे ले चलिए या अम्माँ को छोडते जाइए।

'डाक्टर की राय नहीं है बेगी!'

मुझसे बोले—तुम रह जाओ। बच्चे भी तो अकेले ही है। जब आप वहाँ से चले आये तो मालूम हुआ कि बेटी को फिर बुखार चढा है। यहाँ आने पर रोज़ाना एक खत आता और जाता। अपने मित्रों को तो आप ने यहाँ तक लिख दिया कि मेरी लडकी की हालत बहुत नाजुक है। यहाँ से जब दोनों बच्चों की छुट्टी हो गई तो उन्हें भी भेज दिया, जिससे तबियत न घबराये। बेटी की हालत फिर बिगडने लगी। यहाँ कोई दो महीने वे अकेले रहे। आप को न ठीक से खाना मिलता था, न पानी। पेचिश की शिकायत हो गई। दाँत में भी दर्द हुआ। जब उनको मालूम हुआ कि बेटी की तबियत अब कुछ ठीक हो रही है तो वासुदेव को लिखा—बेटी की माँ को भेज दो। दोनों लडकों को रोक लो। जैसे ही डाक्टर इजाज़त दे, तुम धुन्नू वग़ैरह के साथ बेटी को पहुँचा जाओ।

ख़ैर जब बेटी की तबियत अच्छी हुई तो उनकी सास मुझे देवरी लिवा ले गईं। जब हम लोग वहाँ गये तो वहाँ वासुदेव के बहनोई बीमार पड़े। इस पर मुझे भी क्रोध आया कि अब ये विदा नहीं कर रही हैं। मै भी झल्ला उठी। वासुदेव ने मेरे क्रोध को शान्त किया और बोला—आप चलिए तब तक। कल मैं सुबह लेकर अस्पताल के बहाने आऊँगा। आप तब तक देवरी मे रुकी रहिये।' दो रोज़ मै देवरी में रुकी रही। तीसरे रोज़ मैं बनारस चली आई। मैं यहाँ पर नौ बजे के करीब पहुँची। आप कमरे में बैठे लिख रहे थे, जैसे ही हमारा ताँगा पहुँचा।

आप बोले—तुम आ गईं।

मैं बोली—हाँ आ गई।

आपने पूछा—तुम क्या बीमार थीं ?

मैं बोली—मैं तो नहीं थी। आप अलबत्ता बीमार मालूम पड़ते हैं।

आगे बढ़ी कि सामान उतरवा लूँ।

आप बोले—नहीं मैं उतरवा लेता हूँ। वहाँ जब गये तो बेटी को न देखकर बोले—बेटी को क्यों नहीं लाईं ?

मैं बोली—पहले सामान उतरवाइए तो मैं आपको वहाँ का किस्सा सुनाऊँ। मैंने वहाँ की दास्तान सुनायी। वासुदेव के न आने की बात भी सुनाई। आपने बैठकर बड़े बड़े लम्बे पत्र लिखे। मैं तो खाना खाकर सो गई। न मैं जल्दी उठी, न उन्होंने मुझे जगाया।

तीन बजे के करीब मैं उठी तो आप आये और बोले—मैं जा रहा हूँ प्रेस। मुझे पान दो। मैंने उन्हें पान दिया। वे प्रेस गये। उनके जाते ही वासुदेव बेटी को लिये पहुँचा। जब वे आ गये तो मैंने लड़के को भेजकर बाबूजी को कहलवाया कि बेटी आ गई है। आप उन्नू के साथ खुद चले आये। आते ही बच्चे को गोद में उठा लिया। बोले—देखो इसकी क्या हालत हो गई है ? फिर अपने आप कहने लगे—ईश्वर की दया है। बचा लिया।

उस दिन से बच्चे को आप घंटों खेलाते।

बेटी के आने के तीसरे रोज़ यह तै हुआ कि लेडी डॉक्टर को दिखा देना चाहिए कि अब तो कोई खराबी नहीं है। मुझसे बोले—डा० धगामा को बुला लाओ।

मैं बोली—उसकी क्या फीस है ? बोले—वहाँ जाने पर ८), यहाँ बुलाने पर १६) १) गाड़ी भाड़ा।

मैं बोली—क्यों रुपए मुफ्त में फेंकोगे ? वहीं चले चलें। मेरी राय उन्हें ठीक जँची।

उन्होंने तांगा बुलाया। बेटी को लिये मैं उतर रही थी कि वह गिर

पड़ी। उसके गिरने की आवाज़ सुनकर वासुदेव को लिये पहुँचे। मैंने बेटी को सँभाला। आप जाकर रोने लगे। जब मैं बेटी को सँभालकर पहुँचा चुकी तो देखा रो रहे हैं।

मैं बोली—आप ख़ूब हैं। किसी का पैर फिसल जाय तो क्या, बस !

आप बोले—गिरते सभी हैं। पर देखो इसकी हालत ! बेचारी को चोट कितनी लगी !

मैं बोली—विशेष चोट नहीं लगी है। फिर उसे ज़ंबक लगा दिया। अब वह आराम से है।

आप बोले—कहाँ ज़म्बक मिला ?

मैं बोली—मेरे ऊपर जाते ही धुन्नू साइकिल से दौड़कर लाया।

मेरे साथ-साथ आप उतर आये। बेटी से बोले—कैसी हो ? चोट क्या ज़्यादा लगी ?

बेटी—नहीं बाबूजी, ज़्यादा चोट नहीं लगी है। ज़ंबक मलने से और भी आराम मिल गया।

उसी के दूसरे रोज़ एक नाइन को बुलवाया और उससे बोले—तुम इन दोनों की ख़ूब सेवा करो। जो कुछ तुम माँगोगी, वही मैं दूँगा। शर्त यही है कि दोनों तन्दुरुस्त हो जायँ।

नाइन बोली—मैं भरसक सेवा करूँगी। यह तो मेरी बहन ही है। आप इसकी फ़िक्र न कीजिए।

नाइन उस दिन से रात-दिन बच्चे और बेटी की ख़िदमत करने लगी। बेटी भी अच्छी हुई और बच्चा भी।

उसी बीच में नाइन एक दिन बीमार पड़ी। उसको मलेरिया की शिकायत थी। तीन-चार दिन तक उसकी ख़िदमत मैंने और बेटी ने की। उसकी तबीयत अच्छी नहीं हुई। वह घबरा जाती थी। उसे हमने यद्यपि बहुत रोका, पर वह मानी नहीं। जब वह नहीं मानी, तो उसे मैंने जाने दिया। जब आप

शाम को प्रेस से आये तो पूछा—रमदेई की तबीयत कैसी है? उसका बुखार उतरा?

मैं बोली—उसको बुखार था पर वह तीन बजे के लगभग घर चली गई।

आप बोले—क्यों जाने दिया?

मैं बोली—रोकती बहुत थी। पर वह माने तब तो।

आप बोले—उसके घरवाले सोचेंगे कि जबतक अच्छी रही, तबतक तो रखा, और बीमारी की हालत में यहाँ पहुँचा दिया। यहाँ रहती तो मैं उसकी दवा करता, अच्छी हो जाती। बिचारी कितनी सेवा दोनों की करती थी। इतनी सेवा तो कोई अपनी भी न कर पाती। अब तुम दोनों को बड़ी मुसीबत हुई। फिर उसके यहाँ बदपरहेजी होगी, अच्छी भी न होगी जल्दी। अब कल कुनैन मँगाकर कुछ रुपयों के साथ उसके घर भेजवा दो।

उसके दूसरे दिन उन्होंने प्रेस कर्मचारियों के हाथ दो रुपया और कुनैन भेजी। कहला भी दिया कि कह देना एहतियात से रहेगी। कुनैन के ऊपर जितना भी दूध पीना चाहे पीये।

शाम को प्रेस से लौटे तो मुझसे बोले—जो अपनी सेवा करता हो, उसकी सेवा को हमेशा तैयार रहना चाहिए। हमारे यहाँ तो नौकर को कोई आदमी ही नहीं समझता, हालाँ कि घर की आदमी की ही तरह नौकर ज़रूरी होता है। हम लोगों में वह बात नहीं पाई जाती जो अंग्रेज़ों में है। अँग्रेज़ के नौकर जब अपने मालिक को पानी देते हैं तो मालिक कहता है—थैंक यू।

मैं बोली—वहाँ लंठ बसते हैं। मा-बीबी को तो डण्डे से प्यार करते हैं। नौकर को थैंक्यू कहेंगे?

आप बोले—तभी तो पैंतीस करोड़ के ऊपर मुट्ठी भर अंग्रेज़ शासन कर रहे हैं। अपने घर में मा-बीबी से सीधी तरह बात नहीं करते, अँग्रेज़ों की जूतियाँ चाटते हैं।

जब आप नाश्ता करने बैठते तो बिन्नू को गोद में लेकर उसे दो-चार

चम्मच दूध रोज़ पिलाते, संतरा चुसाते, खाना खाकर उठने पर बिन्नू को गोद में लेकर नीचे उतर जाते। वहाँ घण्टों फ़र्श पर लिटाकर खिलाते। कभी-कभी वह दोनों हाथों से उनकी मूँछें पकड़ लेता। उसके हाथ को मूँछ से धीरे-धीरे अलग करते। कभी-कभी वह उसी जगह पाखाना भी कर देता। उसे साफ़ करके ऊपर दे जाते। नीचे जो फ़र्श पर पाखाना कर देता, तो उसे साफ कर बिछावन धूप में डाल देते। जब मुझे मालूम होता तो मैं बोलती—किसी को बुलाकर साफ करा लेते।

आप बोलते—महात्माजी तो दूसरों का साफ़ कर देते हैं। मैं अपना साफ कर लेता हूँ तो क्या हर्ज है ?

शाम को चार बजे बच्चे को गोद में लेकर बाहर टहलते। जब दो बच्चे हो गये तो एक को गोद में ले लेते, दूसरे को उँगली पकड़ा लेते। वे बच्चे उनसे इतना हिल-मिल जाते कि मैं लेना चाहती तो वे उनकी गोद में मुँह छिपा लेते। पाँच बजे फिर सब बच्चों के साथ आकर बैठते। पास पड़ोस के भी जवान लड़के उन्हें घेरकर बैठते। ऐसी बातें करते कि खुद भी हँसते और दूसरों को भी हँसाते। वे बातें क्या होतीं, उपदेश होते। उन दोनों बच्चों को भी अपने ही पास तब तक रखते। इसलिए उन्हें नहीं छोड़ते कि छुटने पर वे बेटी के पास जायँगे, बेटी वहाँ से उठ जायगी। बड़े बच्चे का नाम उन्होंने ज्ञानचन्द रखा। मैं एक रोज़ बोली—दूसरा नाम रखिए।

आप बोले—तुम्हें न अच्छा लगता हो, मुझे तो अच्छा लगता है। पहले मेरा नाम राय से था। इसलिए अपने बड़े बच्चे का नाम श्रीपतराय और छोटे का अमृतराय रखा। अब मैं चंद करके मशहूर हूँ इसलिए इनका नाम चंद से होगा।

मैं बोली—नाम बड़े, दर्शन थोड़े। पता नहीं ये कैसे होंगे। कहीं बद-माश निकलेंगे तो लोग उस नाम की भी खिल्ली उड़ायँगे। ज्ञानू को गोद में लिये हुए, मुँह चूमकर बोले—सुन बदमाश, मेरे नाम की लाज रखना।

मैं बोली—अब तो यह सब समझ गया। अभी से पढ़ा न दीजिए।

बड़े-बड़े उपन्यास यह भी लिखेगा। गुण-अवगुण सब अपने साथ लाते हैं। आपके नाना कौन बड़े भारी लेखक थे। आप क्यों लेखक हुए?

आप बोले—ज़रूर नाना साहब में कोई बात रही होगी, जिससे मैं इस तरह का हो सका हूँ। नाना का प्रभाव नाती पर कम नहीं पड़ता। बाप का स्वभाव लड़के लड़कियां कम लेते हैं।

मैंने कहा—कैसे?

आप बोले—यह कुदरत की देन है। जो गुण और अवगुण अपने लड़के-लड़कियों में नहीं मिलते, वे ही नाती-पोतों में हो जाते हैं।

× × ×

सन् १९२५ की बात है, स्थान काशी। रात भर आप को बुख़ार चढ़ा हुआ था। यहाँ तक कि दूध भी नहीं ले सके। सुबह को करीब ४ बजे बुख़ार उतरा। सुबह के समय रोज़ाना की तरह हाथ-मुँह धोकर नाश्ता भी नहीं किया था कि 'हंस' के लिए सम्पादकीय लिखने बैठ गये। दूध जब गरम हो गया, तो मैंने जाकर देखा कि आप कमरे में बैठे लिख रहे हैं। मैं बोली, 'यह आप क्या कर रहे हैं?' 'क्या कर रहा हूँ, हंस के लिए सम्पादकीय लिख रहा हूँ, कल ही लिखना चाहिए था।'

मैं बोली—आप भी खूब हैं, कल दिन भर और रात भर पड़े रहे और सुबह हुई कि लिखने बैठ गये। मैं इन्तजारी कर रही थी कि शायद आप दरवाज़े से ही नहीं आये। और अधिक काम से ही आप बीमार भी पड़ गए थे। आज दूसरा दिन है, खाने की कौन कहे, दूध तक आपने नहीं लिया।

आप बोले—पांच मिनट का समय और दो, कम्पोज़िङ्ग करनेवाले आ गये है।

मैं बोली—अब एक सेकेण्ड का समय मैं आप को नहीं दूंगी, और हाथ से क़लम छीनकर बोली—अब उठिए चुपके से।

आप बोले—अरे भाई मेरी समझ में नहीं आता कि फिर वह क्या कम्पोज़ करेंगे।

मैं बोली—मैं कम्पोज़ वग़ैरह का ठेका नहीं लिये हूँ।

'अरे भाई। तुम ठेका नहीं लिये हो, मैं तो ठेका लिये हुए हूँ। फिर 'हंस' कैसे छपेगा? समय पर अगर 'हंस' नहीं छपेगा तो, ग्राहक यह थोड़े ही समझेगा कि मैं बीमार हो गया था, वह तो समय पर 'हंस' चाहता है। उसने रुपये दिये हैं।

मैं बोली—यह बकवाद पीछे कीजिए, अगर आप लिखेंगे तो मैं फाड़ दूँगी, चलिए उठिए।

इस धमकी पर उठकर आये और नाश्ता किया। वह नाश्ता कर ही रहे थे, जब नीचे से आदमी आया और बोला—'हंस' के लिए मैटर दीजिए।

मैं बोली—चलो एक घंटे में देते हैं मैटर।

आदमी तो चला गया, बोले—तुमने मुझे लिखने नहीं दिया, आदमी व्यर्थ बैठे हैं।

मैं बोली—तो कौन हंस मोती उगल रहा है।

आप हँसकर बोले—साहब, हंस मोती उगलता नहीं चुनता है।

मैं बोली—हां खाता है। जब देखा एक न एक बला अपनी जान को पाले रहते हैं। आपको आराम से रहना ही नहीं आता। सूखकर नहीं रह गये हैं। वही मसला है "दाना न घास खरहरा दिन रात"। परसों रात भर बुखार चढ़ा रहा, कल दिन रात पड़े रहे, आज जब बुखार उतरा, तब दस सवेरे से 'हंस' का चरखा लेकर बैठ गये। और काम ऐसा कि जिसका "कन छूटे और न भूसी"। अभी इसी महीने में मालूम हुआ कि अभी ८ साल के अन्दर कोई २० हज़ार की किताबें बिकीं, और 'हंस' और 'जागरण' और प्रेस तुम्हारा खा गया। अगर इन्हीं किताबों की रॉयल्टी ही मिली होती, तो कोई १२०००) बिना किसी मेहनत के घर आ गये होते, नहीं, कोई तीन हज़ार रुपये कागजवालों को घर से देने ही पड़े, जिसके लिए आप बम्बई गये हुए थे।

आप बोले—तुम व्यर्थ ही क्रोध करती हो।

मैंने उसी दिन आप से कह दिया—जिसे काम से बाज़ आये, उनको छोड़ो। मगर आप तो उसके पीछे हाथ धोकर पड़े हैं। फिर मैं कहती हूँ ऐसे कामों से क्या फायदा जिनके पीछे तन, मन, धन की आहुति चढ़ानी पड़े।

तब आप मेरे क्रोध को शान्त करते हुए बोले—रानी! तुम भूलती हो, इसमें मैं कोई त्याग नहीं कर रहा हूँ, न कोई तपस्या। जब कोई त्याग तपस्या न करता हो, और शौक से करता हो तो आहुति चढ़ाना न कहना चाहिए। जैसे जुआरी को जुआ, शराबी को शराब, अफीमची को अफीम में मजा मिलता है, और अगर उनको वह चीजें न मिलें तो वह परेशान होता है—इसमें उसका कोई त्याग थोड़े ही है? उसी तरह यदि मैं इन तरह के काम न करने पाऊँ तो मुझे सुख-शान्ति नहीं मिलती।

मैं बोली—तब कहिए आपको भी नशा है।

आप बोले—हाँ नशा है, किन्तु अच्छा नशा है, शायद मेरे इस नशे से किसी मनुष्य का लाभ हो जाय।

मैं बोली—पहले आप अपना लाभ तो कर लीजिए, फिर दूसरों को क्या होगा, इसको तो ईश्वर जाने। खुद तो सूखकर काँटा हो गये हैं, और दूसरों की फिक्र में दीवाने हैं।

तब आप बोले—दीया होता है, उसका काम है रोशनी करना, सो वह करता है, उससे किसी का लाभ होता है या हानि, इससे उसको कोई मतलब नहीं। उसमें जब तक तेल और बत्ती रहेगी, तब तक वह अपना काम करता रहेगा। जब तेल खत्म हो जायगा, तब ठंडा हो जायगा। तब उस ठंडे चिराग से न तो तुम कभी पूछती हो कि कहाँ गया, न वही तुमसे ढूँढने आता है।

मैं क्रोध और रंज के साथ बोली—सब चिराग पचायती होते होंगे, मगर आप तो एक आदमी की चीज हैं, पचायती नहीं है। पचायती चीज़ को कोई पूछनेवाला नहीं होता, मगर आप को तो ऐसा नहीं है आप के साथ तो मैं ब्याही गई हूँ, और आप मेरे हैं, इसलिए मुझे हक है कि आपकी हिफाज़त रखूँ, और आप बहुत दिनों तक मेरे रहें।

आप बोले—यह तुम ग़ल्ती करती हो, लेखक का जीवन ही ऐसा होता है। वह मजबूर होता है। इसमें तुम और मैं क्या करूँ, इसमे दोनो मजबूर है।

मै बोली—मै तो आप से मजबूर हूँ, जो कहना नहीं मानते।

आप बोले—रानी, तुम खुद ही मजबूर हो, मै देखता हूँ और डरता हूँ कि जो रोग मुझे लगा है, वह कहीं तुमको न लग जाय। मै इसी लिए बार-बार मना करता हूँ। इस बला मे न पडो। मगर तुम मानती नहीं, आराम से तो रहती थीं, मगर नहीं तुम भी एक बला पाल रही हो।

मै बोली—मैं आराम से हूँ, मै इस तरह की बला नहीं पालती हूँ, जिससे कि अपना खून जले।

तब आप बोले—तभी तो आप इतनी तगडी है।

जिन चीज़ो पर मै पहले आलोचना करती थी, आज उन्हीं को हृदय से चाहती हूँ और सबसे ज़्यादा उसी 'हंस' को जिसको नादिरशाही हुक्म दिया था कि अगर यह नुकसान देगा, तो इसको बन्द कर दूँगी। उन्ही दिनो 'हंस' को 'हिन्दी-परिषद्' को दे दिया था, कि इसका नुक़सान कहाँ तक बर्दाश्त किया जाय। महात्मा गान्धी के हाथो कोई दस महीने तक रहा, उसके बाद जुलाई के महिने मे 'हंस' से ज़मानत मॉगी गई, और "हिन्दी परिषद्" ने इसको बन्द कर दिया। आप बीमार पडे हुए थे।

आप मुझसे बोले—रानी एक हज़ार रुपया बैंक से निकालकर जमा करा दो, और 'हस' को फिर से जारी करा दो।

मै बोली—पहले आप अच्छे तो हो जाइए, अभी आप ख़ुद तो बीमार पड़े हुए है, और 'हंस' की फ़िक्र पडी हुई है।

आप बोले—मेरी बीमारी से और 'हंस' के निकलने से क्या बहस ?

मै बोली—काम कौन करेगा ?

आप बोले—मै आदमी ठीक किये देता हूँ। मैने कहा—आखिर कौन निकालेगा, किस आदमी को ठीक किये दे रहे है ?

'जैनेन्द्र इसके लिए तैयार है।'

'दूसरा समय होता तो शायद मैं कुछ बोलती भी !'

एक हजार मैंने बैंक से निकलवाकर जमा करा दिया।

जब वह नहीं रहे, कई मित्रों ने सलाह दी, इसको बन्द कर दो। अब भला मैं इसको कैसे बन्द करती? मैंने लोगों को जवाब दिया—भाई, मैं इसको छोड़ नहीं सकती। सब लोगों ने कहा कि अभी तक तो यह चलता था, अब कैसे इसको चलाइएगा? मैंने एक ही जवाब उनको दिया, कि जब मेरे पति, पिता होकर हंस को न छोड़ सके, तो मैं तो मां हूं। और मां शायद बेकार और निकम्मे बेटे को, फिर ऐसी हालत में जब उसका पिता न हो, सबसे ज्यादा प्यार करती है। क्योंकि वह समझती है कि आखिर लायक को तो सभी पूछते हैं, प्यार करते हैं, अपनाने की भी कोशिश करते हैं, मगर बेकमाऊ और निकम्मे को कौन पूछे? फिर मां डरती है कि कहीं भाग जाय, ज़हर खाकर मर जाय, मां को छोड़ कर उसको कौन पूछने वाला बैठा है? यहां तक होता है कि ईश्वर भी अच्छे ही को चुन-चुनकर लेता है, फिर दूसरों का करना ही क्या है। माता ही ऐसी है जो अच्छे बुरे सभी को छाती से लगाये रहती है। यही हालत मेरी और मेरे 'हंस' की है।

जैनेन्द्र की माँ गुजर गयी (१९३५)

जैनेन्द्रकुमार का दिल्ली से पत्र आया कि मां मर गई। वे आंखों में आंसू भरे मेरे पास आये और बोले—जैनेन्द्र अब अकेला हो गया। उसकी मां मर गई।

मरने की ख़बर सुनकर मैं भी सकपका गई। बोली—हुआ क्या था?

आप बोले—उनको जलोदर बहुत पहले से था। बाप तो पहले ही मर चुके थे। मां भी चल बसीं। बड़ा दुःखी होगा, फिर उसकी मां बड़ी शरीफ़ आदमी थीं। अभी तक सारा बोझ उन्हीं के सिर पर था। जैनेन्द्र घर की ओर से लापरवाह, जहां भी होता, घूमता रहता था। मां उसके लिए सब कुछ थी। जैनेन्द्र को प्राणों से भी ज्यादा चाहती थी। जितनी ही की वह

सभ्य थीं, उतनी ही दिलेर भी थीं। मैं दो बार उनसे मिला हूँ। ऐसे मिलती थीं जैसे कोई उनके घर का ही आदमी हो। बातचीत भी आदमी ही की तरह करती थीं।

मैं बोली—जैनेन्द्र के मामा भी तो उन्हीं के साथ थे।

आप बोले—वह भी बड़े शरीफ थे। उनकी महात्मा पदवी ग़लत थोड़ी ही है। देखने में भाई बहन अलग मालूम होते थे, पर दोनों के अन्दर एक ही आत्मा काम करती थी। और जैनेन्द्र को देखकर तुम सोच लो कि वे लोग कैसे थे? नहीं अक्सर लड़के बाप के न रहने पर आवारा हो जाते हैं। उन्होंने लड़का-लड़की दोनों को ठीक राह पर लगा दिया। उन्हीं दोनों की तपस्या का फल है कि जैनेन्द्र ऐसा है। अगर कोई गँवार स्त्री होती तो ऐसा कभी बना सकती थी? उनका प्यार ही बच्चों के लिए ज़हर हो जाता। प्यार में जैनेन्द्र उनका प्राण है। मगर अच्छाई के लिए, बुराई के लिए नहीं। उस बेचारे के लिए तो दुनिया ही खाली हो गई।

मैं बोली—जैनेन्द्र स्वयं अच्छी प्रकृति का आदमी है।

आप बोले—पर लड़कों की अच्छाई-बुराई का पता तो बाद में चलता है। अब जो कुछ करेंगे जैनेन्द्र, उन्हीं की शिक्षा का परिणाम होगा।

'फिर वह बहू अब कैसे रह सकेगी। उसका प्यार करनेवाला तो कोई न रहा। वह तो लड़की की तरह है भाभी।'

मैं बोली—मरते भी तो वही हैं जिनकी ज़रूरत होती है जिनकी ज़रूरत यहाँ नहीं है उसकी ईश्वर के यहाँ भी नहीं है।

आप बोले—अभी जैनेन्द्र की माँ की उमर ही क्या थी? अभी तो बहुत छोटी थीं। अभी उसे मरना नहीं चाहिए था। अब वे सब अकेले हो गये।

मैं बोली—मर तो वे स्वर्ग गईं। उन्हें थोड़े ही मालूम होगा कि हमारे जैनेन्द्र को दुख होगा कि सुख? उनकी बात न करिए, बेचारी ने तकलीफें उठाई होंगी। उसने इन्हें तो खड़ा कर दिया; पर खुद गिर गईं। उन्हें कौन सुख मिला? कुल चार ही महीने का जैनेन्द्र था। उनकी तो उमर बीत

'दूसरा समय होता तो शायद मैं कुछ बोलती भी।'

एक हज़ार मैंने बैंक से निकलवाकर जमा करा दिया।

जब वह नहीं रहे, कई मित्रों ने सलाह दी, इसको बन्द कर दो। अब भला मैं इसको कैसे बन्द करती? मैंने लोगों को जवाब दिया—भाई, मैं इसको छोड़ नहीं सकती। सब लोगों ने कहा कि अभी तक तो यह चलता था, अब कैसे इसको चलाइएगा? मैंने एक ही जवाब उनको दिया कि जब मेरे पति, पिता होकर इसको न छोड़ सके, तो मैं तो मां हूँ। और मां शायद बेकार और निकम्मे बेटे को, फिर ऐसी हालत में जब उनका पिता न हो, सबसे ज्यादा प्यार करती है। क्योंकि वह समझती है कि आख़िर लायक को तो सभी पूछते हैं, प्यार करते हैं, अपनाने की भी कोशिश करते हैं, मगर बेकमाऊ और निकम्मे को कौन पूछे? फिर माँ डरती है कि कहीं भाग जाय, ज़हर खाकर मर जाय, मां को छोड़ कर उसको कौन पूछने वाला बैठा है? यहां तक होता है कि ईश्वर भी अच्छे ही को चुन-चुनकर लेता है, फिर दूसरों का कहना ही क्या है। माता ही ऐसी है जो अच्छे बुरे सभी को छाती से लगाये रहती है। यही हालत मेरी और मेरे 'हंस' की है।

जैनेन्द्र की माँ गुज़र गयीं (१९३५)

जैनेन्द्रकुमार का दिल्ली से पत्र आया कि मां मर गई। वे आंखों में आंसू भरे मेरे पास आये और बोले—जैनेन्द्र अब अकेला हो गया। उसकी मां मर गई।

मरने की ख़बर सुनकर मैं भी सकपका गई। बोली—हुआ क्या था?

आप बोले—उनको जलोदर बहुत पहले से था। बाप तो पहले ही मर चुके थे। मां भी चल बसीं। बड़ा दुःखी होगा, फिर उसकी मां बड़ी शरीफ़ आदमी थीं। अभी तक सारा बोझ उन्हीं के सिर पर था। जैनेन्द्र घर की ओर से लापरवाह, जहां भी होता, घूमता रहता था। मां उसके लिए सब कुछ थी। जैनेन्द्र को प्राणों से भी ज्यादा चाहती थी। जितनी ही की वह

सभ्य थीं, उतनी ही दिलेर भी थीं। मैं दो बार उनसे मिला हूँ। ऐसे मिलती थीं जैसे कोई उनके घर का ही आदमी हो। खातिर-बात भी अपनों ही की तरह करती थीं।

- मैं बोली—जैनेन्द्र के मामा भी तो उन्हें के साथ थे।

आप बोले—वह भी बड़े शरीफ थे। उनकी महात्मा पदवी ग़लत थोड़ी ही है। देखने में भाई बहन अलग मालूम होते थे, पर दोनों के अन्दर एक ही आत्मा काम करती थी। और जैनेन्द्र को देखकर तुम सोच लो कि वे लोग कैसे थे? नहीं अक्सर लड़के बाप के न रहने पर आवारा हो जाते हैं। उन्होंने लड़का-लड़की दोनों को ठीक राह पर लगा दिया। उन्हीं दोनों की तपस्या का फल है कि जैनेन्द्र ऐसा है। अगर कोई गँवार स्त्री होती तो ऐसा कभी बना सकती थी? उनका प्यार ही बच्चों के लिए ज़हर हो जाता। प्यार में जैनेन्द्र उनका प्राण है। मगर अच्छाई के लिए, बुराई के लिए नहीं। उस बेचारे के लिए तो दुनिया ही खाली हो गई।

मैं बोली—जैनेन्द्र स्वयं अच्छी प्रकृति का आदमी है।

आप बोले—पर लड़कों की अच्छाई-बुराई का पता तो बाद से चलता है। अब जो कुछ करेंगे जैनेन्द्र, उन्हीं की शिक्षा का परिणाम होगा।

'फिर वह बहू अब कैसे रह सकेगी। उसका प्यार करनेवाला तो कोई न रहा। वह तो लड़की की तरह है अभी।'

मैं बोली—मरते भी तो वही हैं जिनकी ज़रूरत होती है जिसकी ज़रूरत यहाँ नहीं है उसकी ईश्वर के यहाँ भी नहीं है।

आप बोले—अभी जैनेन्द्र की माँ की उमर ही क्या थी? अभी तो बहुत थोड़ी थी। अभी उसे मरना नहीं चाहिए था। अब वे सब अकेले हो गये।

मैं बोली—अब तो वे स्वर्ग गई। उन्हें थोड़े ही मालूम होगा कि हमारे जैनेन्द्र को दुःख होगा कि सुख? अभी की बात न कहिए, बेचारी ने तकलीफें उठाई होंगी। उसने इन्हें तो खड़ा कर दिया; पर खुद गिर गई। उसे कौन सुख मिला? कुल चार ही महीने का जैनेन्द्र था। उसकी तो उमर बीत

गई बच्चों का पालन-पोषण करने में। उसका शरीर जीर्ण हो गया। वेश्या होती तो शायद ज़िन्दा भी रहती। मेरे तो आँसू आ ही रहे थे, उनकी तो यह हालत पहले ही से थी।

गला साफ करते हुए आप बोले—इसी से ईश्वर पर विश्वास नहीं होता कि अगर सचमुच ईश्वर है तो क्या दुखियों को दुख देने में ही उसे मज़ा आता है? फिर भी लोग उसे दयालु कहते हैं और कहते हैं वह सबका पिता है। फला-फूला बाग उजाड़कर वह देखता है और खुश होता है। दया तो उसे आती नहीं। लोगों को रोते देखकर शायद उसे खुशी ही होती है। अगर ऐसा ही ईश्वर बेरहम है तो ईश्वर कहने को जी नहीं चाहता, जो अपने आश्रितों के दुख पर दुखी न हो, वह कैसा ईश्वर है।

मैं बोली—कौन जाने कौन उसका आश्रित अपने को समझता है और कौन नहीं?

आप बोली—कहने के लिए तो सभी कहते हैं कि वह तो सबका माता-पिता है। तब यह कैसी बेरहमी! यह तो बच्चों का खिलवाड़ हो गया। दिन भर घरौंदा तैयार किया, शाम को घर जाते समय लीप-पोतकर उसे बराबर कर दिया। जैसे उन बच्चों के दिलों में कोई प्रेम नहीं, कोई मुहब्बत नहीं, उसे इस विषय में पागल ही कहना ठीक होगा।

मैं बोली—लोग तो कहते हैं कि अपने कर्मानुसार सभी को भुगतना पड़ेगा।

आप बोले—जब तुम लोग यह कहते हो कि बगैर ईश्वर की इच्छा के हम पलक तक नहीं गिरा सकते, तब कैसे ईश्वर हमसे अन्याय कराता है। जो अच्छा समझे वही हमसे कराये, हम जिससे दुखी न हो सकें। कुछ नहीं। ये सब धोखे में डालनेवाली भावनाएँ हैं। बस अपने को धोखे में डालने के लिए यह सब प्रपंच रचे गये हैं। और नहीं तो हम जब प्रत्यक्षत कोई बुरा काम नहीं करते तो लोग कहते हैं अगले जन्म में कोई बुरा काम किया होगा, उसी का यह फल है। और मैं कहता हूँ यह सब गोरखधन्धा है। उस बेचारी को यहाँ कौन-सा सुख मिला? जैनेन्द्र की आत्मा अपने

भीतर से उसके लिए तड़प रही है, तसवीर उसकी आँखो में नाच रही होगी। पर वह अब मिलती न होगी। उसका जी जाने कैसा होगा। दो बच्चो का बाप हो गया पर उसे अभी गृहस्थी की ज़रा भी चिन्ता नहीं थी। जो कुछ ज़रूरत होती, उसे वही बेचारी पूरी करती। अब उन लड़कियो को कौन पूछेगा। अब तो इस समय सभी अनाथ हो गये। वह भी तो अकेली थी पर सबका भार स्वयं उठाये हुए थी। मेरी तो इच्छा होती है कि जाऊँ। पर जाऊँ कैसे ?

उन्ही दिनो मेरे दामाद वासुदेवप्रसाद आये हुए थे।

'बेटी के जाने पर आप जा सकते है।'

आप बोले—उस समय तुम अकेली रहोगी और मै गया भी एक दिन के लिए तो क्या हो जायगा। यह तो सहज फर्ज़ अदाई होगी। कोई फ़ायदा नही होगा।

मै बोली—तो फिर यही रोना है। आप उसी को क्यो नहीं बुला लेते ?

आप बोले—यह सबसे अच्छा होगा।

उसके बाद बोले—सबसे अच्छा मै ही रहा। कभी-कभी तो थोड़ी सी तस्वीर मा की मेरे आंखो के सामने आती है। क्योकि मै इसके दुखों का अन्दाज़ लगाता हूँ तो मुझे अपनी मा की तस्वीर ही याद आती है।

मै बोली—तकलीफ़ तो महसूस करने की चीज़ है।

आप बोले—तुम्हारा कहना ठीक है, क्योकि अगर मेरी माँ रही होती तो मै इससे कहीं आगे होता। ख़ैर, यह तो सोचने की बातें है। मगर उस बेचारे को तो अभी बहुत दिन रोना होगा। उसके लिए तो आज संसार ही सूना हो गया। उसके मामा को भी बड़ा दुःख हुआ होगा, पर करेंगे क्या ? जिसने अपनी बहन के प्रेम में सारे संसार को ठुकरा दिया, क्या वे कम दुःखी होंगे ? पर कोई क्या कर सकेगा ?

मै बोली—मै तो उसे देख भी नहीं सकी।

आप बोले—देखा होता तो और भी दुःख होता।

मैंने उनको देखा, वे कई दिनों तक उदास रहे। अपने ही में जैसे खोये-से रहते थे। हमेशा जब कभी कोई बात उन दिनों चलती तो उन्हीं की चर्चा चल जाती। शायद उन्होंने अपने दिल के अन्दर जैनेन्द्र के दुख की तस्वीर बैठा ली थी। मेरा ख्याल यह है कि जैनेन्द्र के बराबर ही दुख उनको भी हुआ।

गाँव में आखिरी बार आना और छज्जों का बनवाना, १९३५

बंबई से लौटने के बाद मैं गांव रहने को चली गई। जून के महीने में लड़की भी आ गई। मकान की छतें बुरी तरह से टपक रही थीं। मालूम हुआ कि छत तो बिलकुल बेकाम होगई है। मजदूर छतों की मरम्मत करने को बुलाये गये। उन्होंने बतलाया कि मरम्मत से काम नहीं चलने का। छत पूरी बनवानी पड़ेगी। उसको खुदवाना ते पाया। जिस वक्त छत खोदी जा रही थी, आप उस पर बैठे रहते थे। मैं समझ रही थी, कमरे में काम कर रहे होंगे, पर जाकर देखा तो आप धूप में बैठे मजदूरों से बातें कर रहे रहे हैं।

मैं बोली—आप धूप में बैठे बैठे क्या कर रहे हैं? चलिए। आराम कीजिए।

आप बोले—मैं भी थोड़ी सज़ा भुगतूँ।

मैं बोली—यह सजा नहीं है, देह दो मौ को चपत पड़ जायगी।

आपने हँसते हुए कहा—तुम सौ दो सौ के लिए रोती हो, उन बेचारों को समझो जिनका सर्वस्व भूकम्प में अपहरण हो गया।

मैं बोली—यह तो भूकम्प की मेहरबानी है।

आप बोले—ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिए।

मैं बोली—अगर भूकम्प न आता तो सभी इस आफत से बच जाते। ईश्वर पहले मुसीबत डाल दे, फिर धन्यवाद का पात्र बने।

आप खुद शुरू से अन्त तक छत बनवाने में लगे रहे। उसके बाद छज्जे की मरम्मत हुई।

बेटी के बच्चे को ।सूखा हो गया था। उसके इलाज और मकान की मरम्मत आदि के झगडे में पडना पडा।

अगस्त तक हम लोग वहीं रहकर फिर शहर में आ गये। तीन-चार महीने शहर मे रहे। 'गोदान' उसी समय छप रहा था। मैनेजर से भी झगडा हो गया था। बेटी भी बच्चे के अच्छे होते ही दिसम्बर में घर चली गई। घर जाने की फुरसत नहीं मिली। दशहरे के दिन कुआर में बोले—चलकर मकान की मरम्मत तो करवा लो।

मै बोली—दीवाली तो अभी काफी दिन बाद पडेगी।

आप बोले—नहीं तो, बीस रोज़ है महज़। उस बार की तरह फिर जल्दी-जल्दी सब करना पडेगा।

मै हँसती हुई बोली—मकान पर जाने की तबियत हो रही है?

आप बोले—नहीं जी, आराम से धीरे-धीरे काम होगा।

हम लोग दशहरे को फिर गाँव गये। साथ में गाय-बछडे भी थे, भूसा-खली सब यहीं से ले गये। फिर काम लगा। वही फिर वही रंग-रोगन-सफेदी चलने लगी। खैर दीवाली के दिन खूब अच्छे तरीके से दीवाली मनाई गई। दीवाली के दिन आप बोले—इस साल पाँच सेर तेल आना चाहिए।

दीवाली तो ठीक-ठीक हो गई। बेटी का छोटा बेटा फिर बीमार पड़ा। उसके अच्छे होने के बाद जब वहाँ से फिर शहर आने लगे तो काफी भीड जमा हो गई। मेरी समझ में नहीं आता कि जब मै प्राय: आती-जाती रहती हूँ, तब भी लोग इतना क्यो जमा हो जाते है, जैसे मै विदेश जा रही हूँ। आप दरवाज़े पर खडे मुझसे बोले—जल्दी करो, धूप हो जायगी।

मै बोली—कैसे जल्दी करूँ? लोगो से दो बात भी न करूँ तो क्या मन मे महसूस करेंगे। मै एक आदमी से बोली—कंडाल का पानी गिराकर उसे भीतर रखवा दो।

आप बोले—दस-पन्द्रह दिन मे तो फिर आओगी। रखा रहने दो।

यह कहकर आप बाहर निकल गये। आप बाहर खड़े रहे। जब मुझे और देरी होने लगी तो आप बोले—मैं चल रहा हूँ। आओ तुम देर न करना।

मुझे जाने में देर होने लगी। तब आप अपनी एक चचेरी बहन के साथ एक्के पर आगे बढ़े। मेरा एक्का पिछड़ गया। पिसनहारिया पर उनके एक्के के साथ मेरा एक्का पहुँचा। आप उस एक्के से उतरकर मेरे एक्के पर आकर बैठे।

मैं बोली—जीजी को कहाँ छोड़ आये ?

आप बोले—मैंने इक्केवान को समझा दिया है। आ रहा है पीछे। मैंने सोचा तुम अकेली इक्के पर जा रही हो।

मैं बोली—तो अब तक आप पहुँच गये होते।

आप बोले—तुमको अकेली जाते बुरा भी लगता है।

वही आख़िरी जाना था।

बड़े दिन में जानेवाले जरूर थे, पर जा न सके। बड़े दिन के पहले बेटी भी घर चली गई। मैंने बड़े दिन में उनसे कहा ज़रूर था कि आप मकान चलनेवाले थे, क्या हुआ ?

आप बोले—चलते तो, पर लड़कों की छुट्टी सात-आठ दिन की ही है। यहाँ ज़रूरी काम भी पूरा करना है। 'गोदान' भी तो अभी नहीं छपा।

'हंस' का सम्पादन भी आप ही कर रहे थे।

'मैं यहाँ आ जाया करूँगा दिन में। तुम्हें अकेली रहने से वहाँ तकलीफ ही मिलेगी। अभी रहो, फिर चले चलेंगे। कोई नौकर तो हैं नहीं कि फिर छुट्टी न मिलेगी।

इस बार जब वे दीवाली पर घर गये थे, वे उन्होंने अपने पढ़ने की पुरानी सारी चीज़ें—किताब, पत्र-पत्रिकाएँ—क्रम से झाड़-पोंछकर बड़ी सावधानी से रखी।

[३१९]

'गोदान' छप जाने पर शान्ति-पूर्वक तीन-चार महीने घर रहने का उनका विचार था। पर उन्हें बिल्कुल शान्ति मिलनेवाली थी, घर क्यो जाते। मै अलबत्ता उस घर में जाती हूँ; पर घर समझकर नहीं, देवता का मन्दिर समझकर। मुझे वहाँ जाने पर थोडी शान्ति ज़रूर मिलती है। वहीं तो अपना सब कुछ था। मगर मन्दिरो में जाने पर जैसी शान्ति लोगो को मिलती है, वैसी मुझे नही मिलती। क्योकि वह घर तो देवता से अब सूना है। वहाँ उन लोगो को स्वर्ग की लालच रहती है। उससे उन लोगो को शान्ति मिलती है। मगर मै तो ऐसा नहीं कर सकती। क्योकि मेरा देवता अभी कुछ दिन पहले वहां हँसता था, बोलता था, खाता-पीता था, सब कुछ करता था। वह मेरा था, मै उसकी थी। वह मेरी उपासना करता था, मै उसकी। मन्दिर के पुजारियो को मन्दिर में शान्ति मिलती है; पर मुझे दर्द। पर यही दर्द तो मेरा प्राण है।

सन् १९३५ की बनारस की बात है। रात का समय था, हम दोनो ही घर पर थे।

मै बोली—अबकी बार जब कौंसिल का चुनाव हो तो आप खडे हो जाइए।

तब आप बोले—मुझे नहीं खडा होना है। मै इसी में अच्छा हूँ।

मै बोली—क्यों? खड़े होने मे क्या नुकसान है। आप कांग्रेस की तरफ़ से खडे होइए।

आप बोले—मेरे जीवन का ध्येय कौंसिल में जाने का नहीं है।

मैं बोली—तुम्हारे जीवन का ध्येय क्या है?

तब आप हँसते हुए बोले—मेरा काम कौंसिल में काम करनेवालो की समालोचना करना है।

मै बोली—क्या आपने समालोचना करने का ठेका ले लिया है कि घर से बैठे बैठे सब की समालोचना करते रहें?

आप बोले—जो लेखक का काम है, वही काम मै करूँगा। आख़िर वह लोग जो काम करेंगे तो उनकी समालोचनाएँ कौन करेगा?

मैं बोली—शायद आप इसी डर से नहीं जाते कि दूसरे लोग आपकी समालोचनाएँ करेंगे ?

आप बोले—यह बात नहीं है। तुम समझती हो, कि जो नेता होता है उसमें गुण ही गुण होते हैं, अवगुण उसमें होता ही नहीं है ? मैं तो समझता हूँ कि शायद ईश्वर भी निर्दोष न होगा। इसलिए जब तक हमारी कमज़ोरी या गलती कोई हमको सुझा या समझा न दे, तब तक हमको हमारी गलती कैसे मालूम हो ? इस लिए अगर वह सच्चा समालोचक है तो मैं समझता हूँ कि वह सबसे ज्यादा मूल्यवान काम करता है। मैं तो समझता हूँ कि सच्चा हितैषी उसी को समझना चाहिए जो हमारी कमजोरियाँ और गलतियाँ हमारे सामने रख दे।

मैं बोली—अक्सर तो समालोचक पर छींटे ही उछालते हैं।

आप बोले—वे सच्चे समालोचक नहीं हैं। वह तो द्वेष के कारण एक दूसरे पर कीचड़ उछालते हैं। समालोचक का काम बड़ी ज़िम्मेवारी का होता है। इसलिए जिसकी समालोचना करनी हो उसका पहले पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए, तब जाकर किसी पर कलम उठाना चाहिए। यही तो सबसे बड़ा लेखक का गुण है।

मैं हँसकर बोली—क्या आप इसके लिए अपने को ठीक समझते हैं ?

आप बोले—मैं किसी की आलोचना दिल में मैल रखकर नहीं करता, अपने बस भर इससे अपने को अलग रखने की कोशिश करता हूँ।

मैं बोली—इसी तरह दूसरे लोग भी अपने को समझते होंगे, जो हमको बुरा लगता है।

आप बोले—अगर ऐसा होता तो शायद आज किसी को अपनी आलोचना बुरी न मालूम होती।

उस रात को यहीं तक बातें हुईं, और उन्होंने ये बातें मुझे ठीक-ठीक समझायीं। जब मेरा भ्रम दूर हो गया, तब मैं बोली—पहले ही से समझा-

कर मेरा भ्रम दूर कर दिया होता तो आज मुझे क्यों इतनी देर तक बक-बक करनी पड़ती।

आप बोले—तुमने इसके विषय में कभी मुझसे पूछा ही नहीं था। फिर हँसकर बोले—तुम पागल हो।

उस पागलपन की मिठास पर मैंने भी हँस दिया।

अगस्त सन् १९३५

काशी की घटना है। जिस मकान मे हम लोग रहते थे, उसी में प्रेस और बुकडिपो भी था। उसमें मैं और वह, दो आदमी थे, बच्चे प्रयाग मे पढते थे, लडकी ससुराल मे थी। किताबो का स्टाक भी ऊपर के दो कमरो में था, जिनसे हम लोग न रहते थे।

रात के १० बजे होगे, हम दोनो बैठे गपशप कर रहे थे। उस समय हमारा नौकर भी चला गया था, बडी जोर की वर्षा आई और साथ ही आँधी भी। उसी के साथ ही घर की बिजली भी फेल हो गई। आप हँसते हुए बोले—'यह अच्छा मज़ा रहा, आँधी और पानी तो थे ही, उसके साथ रोशनी भी ग़ायब हो गई।

मै बोली—हाँ, सब मज़ा ही मज़ा तो है।

तो आप बोले—कही किताबो के घर मे पानी तो नहीं आ रहा है। पर देखा जाय तो कैसे देखा जाय। चारो तरफ अँधेरा है। मै बोली—किसी तरह अँधेरे को तो उजाला करना ही पडेगा।

लालटेन देखती हूँ तो उसमें तेल नदारत। किसी तरह कटोरी मे तेल डालकर कडुए तेल का दीपक जलाया और जब स्टाक के कमरे में पहुँची तो एक कमरे मे तो खैर ठीक था, दूसरे में छत फट जाने से तेज़ी से पानी आ रहा था। ख़ैर उसी के पास तीसरा कमरा था। उसमें जल्दी जल्दी किताबे हटाने की कोशिश की। मगर स्टाक भरा था। वह बोले—भीगने से बीमार पड़ जाओगी। मुफ्त में। जब कोई आदमी ही नहीं तो कौन इन्हें हटाये।

मैं बोली—मैं बीमार नहीं पड़ूँगी। बैठे बैठे नुकसान भी तो नहीं देखा जाता, और फिर समय भी नहीं है, सारी किताबें चौपट हो जायँगी, अब इसको हाथ लगाकर हटाना चाहिए।

हम लोग बुरी तरह भीग तो गये लेकिन नुकसान थोड़ा ही हुआ, किताबें बचा लीं। मगर हम दोनों बुरी तरह भीग गये। इसके बाद हम दोनों ने अपने अपने कपड़े बदले।

उसी रोज़ जाड़ा देकर मुझे बुख़ार चढ़ा, और कई दिन तक मैं बीमार रही। आप मेरे पास बैठे अफ़सोस करते रहते थे कि मुझे तुम्हारे ऊपर कभी कभी क्रोध भी आता है और दया भी आती है। मैं उस रोज़ मना ही करता रह गया कि किताबें भीगने दो, मगर तुमने न माना, तुम्हारी भी वही बनियेपन की आदत है कि जीव तो जाय मगर जीविका न जाने पाये।

मैं बोली—कौन मैं मरी जाती हूँ। यों ही अगर बुख़ार आ जाता और बीमार पड़ जाती तो आप किसको दोष देते? मैं तो इसी में खुश हूँ कि आप बीमार नहीं पड़े। मैं पड़ी तो मुझे आराम है, मगर हाँ, अगर आप बीमार पड़ गये होते तो मुझे परेशानी होती।

आप व्यंग की हँसी हँसते हुए बोले—क्यों नहीं, अपना सर बचे, दूसरे का सर बेल बराबर। तुमको तब बुरा लगता जब मैं बीमार पड़ता, तुम अपनी तरह मुझे भी क्यों नहीं सोचती हो। वर जैसे मुझे खाने दौड़ता है, और काम-धन्धा जाये भाड़ में।

मैं बोली—मैं अच्छी हूँ और काफ़ी अच्छी हूँ, आप इसकी चिन्ता छोड़ दें।

आप मेरे सिरहाने बैठे थे। हलकी-सी चपत मेरे गाल में लगाते हुए बोले, 'तुम पागल हो।'

१९३६ की बात है

फागुन का महीना था।

आप बोले—मुझे दिल्ली जाना है।

मैने कहा—क्या कोई काम है ?

आप बोले—हाँ। मुझे रेडियोवालों ने रेडियो पर कहानी कहने के लिए बुलाया है।

मै बोली—अभी इसी मे तो होली भी होगी।

आप बोले—हां। तुम भी चलो।

मै बोली—मेरी क्या ज़रूरत है ?

'ज़रूरत की बात थोडे ही है। होली में तुम यहां अकेली रह कर करोगी क्या ?'

मै बोली—केवल चलने की बात थोडे ही है। ख़र्च भी तो करना पडेगा।

आप हँसते हुए बोले—तुमको सबसे अधिक ख़र्च की ही फिक्र रहती है।

मै बोली—फिक्र न हो ? मुफ्त मे पैसे आते हैं ?

आप बोले—चलो भाई, वहां तुम्हें रुपये मिल जाएँगे, घर से रुपया नहीं ख़र्च करना पडेगा।

मै बोली—अगर घर से ख़र्च न करने पडेंगे तो क्या आकाश से टपक पड़ेंगे ?

आप बोले—समझ लो आकाश से ही टपक पडेंगे। रेडियो वालों ने मुझे १००) देने को कहा है। उसी मे शायद १०)-५) रुपये बचा भी लोगी।

मै बोली—अगर मै नहीं जाऊँगी तब तो और भी अधिक बच रहेंगे।

आप बोले—तुम तो इस तरह कहती है जैसे एक देहाती कहावत है कि मरे नहीं तो घर-घर हो।

मै बोली—यह तो उसी तरह हुआ, अल्लाह मियां बडे स्यानें, पहले काट लिये दो आने। मिलेंगे तो पीछे, ख़र्च आपने पहले ही तैयार कर लिया है।

आप थोडी देर कुछ चुप रहे। फिर बोले—हां मुझे याद आया कि

तुम्हारी भाभी ने तुमको बुलाया था और मैं वादा कर आया था कि होली में मैं उनको लेकर आऊँगा।

मैं बोली—तब क्या आप दिल्ली जा रहे हैं या इलाहाबाद ?

तब आप बोले—लौटती बार इलाहाबाद आयेंगे। अभी तो सीधे दिल्ली जाना है।

मैंने कहा—त्यौहार को अपने ही घर रहना ठीक होगा।

आप बोले—घर पर भी तो सूना सूना रहेगा। बल्कि वहाँ जैनेन्द्र के रहने से अच्छा रहेगा। उसकी बहन वगैरह रहेंगी। इस साल उनकी माँ भी नहीं है। उन लोगों का भी जी बहल जायगा।

मैं चलने के लिए राज़ी हो गई। बोली—रुपये भी काफी लगेंगे।

आप बोले—वहाँ मुझे १००) एक कहानी पर मिलेंगे, वह खर्च होगा।

मैं बोली—अगर मैं न जाऊँ तो वे रुपये बच जायेंगे।

वे बोले—तुम भी खूब हो। खर्च से भी बचा जायगा ?

हम दोनों सीधे दिल्ली गये। दिल्ली पहुँचने के तीसरे दिन होली हुई।

जैनेन्द्र के यहाँ हम लोग ठहरे थे। नाश्ता करके मैं, महात्मा भगवान्-दीन, आप और जैनेन्द्र बैठे थे। बीस-पचीस आदमियों ने एक साथ आकर इन लोगों को नहलाना शुरू किया। ये तीनों रंग में बुरी तरह डूब गये। मैं अलग खड़ी यह तमाशा देख रही थी। एक महाशय मेरी ओर बढ़े। दूसरे सज्जन ने कहा—नहीं, नहीं आपके ऊपर मत डालो। सब लोग एक साथ उन्हें नहला रहे थे और आप चुपचाप बैठे थे। उनका इस तरह का भाव देखकर मुझे हँसी आ गई। जब ये लोग चले गये तो मैंने देखा उनके सारे कपड़े तर हो गये। सारे बदन में रंग और गुलाल भर गया था।

मैं बोली—आप तो जैसे रंग डलवाने के लिए बिल्कुल तैयार बैठे थे।

आपने हँस कर जवाब दिया—होली के दिन सभी तैयार रहते हैं।

मैं बोली—तब तो ठीक है।

मैंने उनसे कहा कि आप कपड़े उतार डालिए, नहीं तो ज़ुकाम हो जायगा। उन्हें उस समय थोड़ी-थोड़ी खाँसी आ रही थी। वे दूसरे कपड़े बदलकर बैठे ही थे कि दूसरा गोल आ गया। जो हालत पहले हुई थी वही फिर हो गई। मैं साफ कपड़े पहने आराम से बैठी थी और इन लोगों की हालत पर मुझे हँसी आ रही थी।

आपने हँसते हुए कहा—तुम्हें हँसी सूझी है। हम लोग तो परेशान हो रहे हैं। वाह !' हम दोनों से बातें हो रही थीं कि जैनेन्द्र की बीबी आकर बोलीं—अम्माँ, हट जाओ। स्त्रियों की टोली आ रही है।

आप बोले—अब हटेंगी क्यों ?

मैं बोली—तो मेरी भी आपकी ही-सी गति हो जायगी।

आप बोले—होली तो हुई है। सिवाय इसके और क्या होता है !

मैं बोली—नहीं साहब, क्षमा कीजिए।

हम दोनों में बातें हो ही रही थीं कि महात्माजी* बोले—आप मेरे कमरे में चले जाइए। नहीं तो वाकई वे लोग नहीं छोड़ेंगे।

मैं चुपके से दरवाज़े बन्द कर अन्दर हो रही। जब स्त्रियाँ होली खेलकर चली गईं तो आप बोले—तुम भी अजीब आदमी हो। इस तरह कहीं कोई आदमी घबराता है।

मैं बोली—मुझे भूत बनाना अच्छा नहीं लगता। दिन भर में उन्होंने दो-तीन कुर्त्ते बदले, पर सबके सब रँग गये। शामको मैं बोली—अब तो साफ कपड़े बदल डालो। खाँसी बढ़ गई तो मज़ा आ जायगा।

आपने हँसकर कहा—मैं फूल का बना हुआ नहीं हूँ। ज़रा ज़रा-सी बात पर कहीं बीमारी हो जाती है ?

शाम तक हम लोग इसी तरह बैठे रहे।

शाम को जब रेडियो पर अपनी कहानी सुनाने जाने लगे तो मुझसे बोले—तुम भी चलो।

* जैनेन्द्रकुमार के मामा महात्मा भगवानदीन

मैं बोली—मैं भला वहां क्या करूंगी।

आप बोले—आई हो घूमने कि घर में बैठने। चलो देख आओ, रेडियो पर लोग कैसे बोलते हैं।

मैं बोली—मेरी तबीयत नहीं कह रही है।

उस दिन मैं बड़ी मुश्किल से गई।

दूसरे दिन उर्दू और हिन्दी के लेखकों की मीटिंग हो रही थी। शायद आपके ही सम्मान में हो रही थी। आप फिर मुझसे चलने का आग्रह करने लगे। जब मैं चलने पर राज़ी न हुई, तब आप बोले—तुम घर में बैठने को इस तरह आयी हो कि बाहर जाने के नाम से घबड़ाती हो।

मैं बोली—वहां कोई नई चीज तो मिलेगी नहीं। उसमें लेखक और सम्पादक होंगे। आपस में तू-तू मैं-मैं करेंगे। इन लोगों के बीच जाना मुझे सचमुच रुचता नहीं, इन लोगों से ख़ुदा बचाये। ये दोनों आफ़त के घर हैं।

तब आपने हँसकर कहा—उसी आफ़त की एक शाखा तुम भी तो बन रही हो।

मैं बोली—मैं अपने को इन लोगों से दूर रखना चाहती हूँ। काम तो कुछ होता नहीं, केवल आपस में तू-तू मैं मैं करते हैं।

आप बोले—कैसे अपने को अलग रखती हो? अभी जनवरी के प्रयाग महिला सम्मेलन में तो तुम सभानेत्री बनी हुई थीं। जब जानती हो कि तुमको इसी तरह करना है, तब उसमें घबराने का क्या काम।

मैं बोली—तबियत नहीं कहती तो कैसे जाऊं?

उस दिन वे चले गये। उसकी सुबह हम लोग पुरानी दिल्ली देखने गये। पहले हम लोग कुतुबमीनार देखने गये।

आप नीचे खड़े बड़े गौर से हर एक चीज़ को परखते हुए देख रहे थे।

महात्माजी बोले—ऊपर चलिएगा?

आप बोले—मैं तो ऊपर नहीं जाऊँगा।

मैं बोली—मैं तो जाऊँगी।

आपने हँसकर कहा—मीनार के ऊपर चढकर उसे नष्ट करोगी ?

मैं बोली—यह कैसा ? मैं देखने जा रही हूँ न कि नष्ट करने।

आपने कहा—देखो न, तुम नीचे हो तो वह कितनी ऊपर है। जब तुम उसके ऊपर पहुँच जाओगी तो उसका भी बड़प्पन नष्ट हो जायगा।

मैं बोली—तो क्या फिर दर्शन न करूँ ?

आप बोले—हाँ, अक्सर ऐसे ही होता है।

मैं उनकी इन बातों पर गहराई से सोचने लगी। मैं उसे देखती जाती थी और आँखों से आँसू गिरता जाता था। उसके इतिहास के अध्ययन से मेरा मन कमज़ोर हो रहा था। इस मीनार को देखती हुई मैं सोचती—जाने कितनी स्मृतियाँ खो गईं। इसे बनानेवालों को ढूँढने की कोशिश कोई करे तो बेकार होगा। मनुष्य स्थायी नहीं है। जब ईश्वर की बनाई चीज़ स्थायी नहीं है तो मनुष्य की कैसे होगी। यह एक तमाशा है, मनुष्य कोई चीज़ नहीं होता। बार-बार मेरे अन्दर यही सवाल नाच रहा था।

हम सब मीनार चढने के लिए बढे। मेरे मन मे इतने भाव थे कि किसी की ओर आँख तक भी नहीं उठा सकती थी। उसके बाद हम लोग नीचे उतरे।

नीचे आने पर उन्होंने कहा—तुम्हारी तो अजीब हालत है। चलो पुरानी दिल्ली देख लें। पुरानी दिल्ली मे मैंने बादशाहों के महल देखे। उनमें अभी भी स्मृति नाच रही थी। इतने दिनों के बने वे महल बिल्कुल ताजे लग रहे थे।

बादशाहों की हिन्दू और इसलामी रानियों के मन्दिर और महल जुदा-जुदा बने थे। दोनों के तौर-तरीके अलग-अलग थे, उन महलों को देखकर आश्चर्य होता था कि पहले के लोगों मे कितनी एकता थी। वहाँ भी मैं आँसू न रोक सकी।

मै बोली—ये विभिन्न संस्कृतियाँ बहुत ही अच्छे ढङ्ग की हैं। इन दोनों से आपस में खूब पटती थी। एक दूसरे के भक्त थे। जितनी खींचतान इधर आपस में हो रही है, उतनी और कभी न हुई थी।

मैं बोली—ये लोग हिन्दू लड़कियों को क्यों ब्याहते थे ?

आप बोले—जब शौक़ से लोग उनके यहाँ करते हैं तो हर्ज क्या हुआ ? मुसलमानों ने सामाजिक तरक़्क़ी की है। हिन्दू और मुसलमानों दोनों को बराबर समझना चाहिए।

मैं बोली—अब तो बहुत जल्दी उन लोगों को एक दूसरे से मतभेद भुला देना होगा।

आप बोले—हमारे और इनके बीच में अँग्रेजों ने झगड़ा करा दिया।

मैं बोली—अच्छा !

'जी हां, जब से अंग्रेज़ शुरू-शुरू में आये तभी से यही लोग इनको उभाड़ रहे हैं।'

मैं बोली—इन लोगों को समझ लेना चाहिए।

आप बोले—पैंतीस करोड़ आदमियों पर ये डेढ़ लाख हुकूमत करते हैं।

उस दिन हम लोगों ने वहाँ सारा दिन बिताया। एक-एक चीज़ को हम लोगों को बारीकी से समझाते हुए घर लाये।

दिल्ली में हम आठ रोज़ रहे। उसके बाद हम लोग प्रयाग चले गये।

इलाहाबाद में उतरने पर दुबारा ट्रेन पकड़ने के पहले तीन घंटे का समय था। आप स्टेशन ही पर बोले—तुम्हारे लिए महज़ तीन घंटा टाइम है।

मैं जब भाई के घर पहुँची तो आप मेरी भाभी से बोले—मैंने अपना वादा पूरा किया।

यही आपकी आख़िरी होली थी। मेरी भावजों ने उनसे होली खेली। मैंने हालांकि मना कर दिया था, तब भी आप पर ख़ूब अबीर पोती गई। आप ख़ामोश बैठे थे। वे लोग रङ्ग लगा रही थीं, जब वे रङ्ग लगा चुकीं तो मैं बोली—आप भी उन लोगों को रङ्ग लगाइए। आपने ठहाका मारकर हँसते हुए कहा—इस लम्बे घूँघट में मुँह मिलना भी तो मुश्किल है। इससे यही अच्छा है कि चुपचाप बैठा रहूँ।

उसके बाद भावज ने बहुतेरा रोकने की कोशिश की, पर आप बोले—मकान पर कोई नहीं है। फिर जल्दी आऊँगा।

घर पहुँची तो देखा, घर सूना। साथ में भाभी ने बनाकर खाना रख दिया था। हम दोनो ने खाना खाया। सुबह के वक्त विश्वविद्यालय से बहुत आदमी होली मिलने आये। मेरी भाभी ने होली खेलने के लिए मुझे एक रङ्गीन साडी दी थी। मैने उसे घर पर पहना। जब आदमी लोग मिलकर चले गये तो मुझसे बोले—यह साड़ी तुम्हें नहीं अच्छी लगती। मैने पूछा—क्यो ? बोले—यो ही। जाओ इसको बदल दो।

मै जाकर साडी उतारकर आई ही थी कि मास्टर लोग आ गये।

उन लोगो से वही आखिरी मिलन था। क्या ये बीते हुए दिन फिर देखने को नहीं मिलेगे ? दिन वही रहते हैं और रातें वही रहती हैं, साज-सामान वही रहते है। हाँ, वह आदमी नहीं रह जाते। तब फिर कैसे कहा जाय कि वे ही दिन हैं। दुनिया का कार-बार ज्यों का त्यों चलता रहता है। जिनके अच्छे दिन बीत जाते है, वह हाथ मलते रहते है। हाँ वह स्थायी तस्वीर हृदय के अन्दर एक कसक पैदा करती रहती है। सच कहा जाय तो स्थायी वही चीज़ है जो दिल के अन्दर दर्द पैदा करती रहे। जो मिलनेवाली चीज़ है वह अपनी नहीं है। आज है, कल नहीं। हां अपना दर्द ही मरने दम तक साथ देता है।

सन् १९३६,

अप्रैल का महीना था, आपको लाहौर से निमंत्रण आया। कहानी सम्मेलन था। मुझसे बोले, भाई लाहौर से न्योता आया है, और मेरी इच्छा है कि चला जाऊँ, मगर यह सोचता हूँ कि तुम भी चलतीं तो ज्यादा बेहतर था और चले चलो उसमें हर्ज ही क्या है।

मै बोली—मै अभी कई जगह गई हूँ, थक गई हूँ और फिर दूसरी बात, घर पर भी तो कोई नहीं है।

आप बोले—घर में और बैठा ही कौन है, यहाँ अकेली रहोगी और मुझे भी चिन्ता बनी रहेगी। साथ साथ दोनों रहेंगे, और तुम घूम भी आओगी।

मैं बोली—महीनों से घूमते हो तो बीता है, और फिर हम दोनों साथ-साथ चलें तो ख़र्च भी ज्यादा पड़ेगा।

आप बोले—अरे भाई मेरा ख़र्च तो वह दे ही देंगे, जिन्होंने मुझे बुलाया है। तुम्हारा ख़र्च मैं दूँगा।

मैं बोली—तो क्या वह फालतू हैं, बिना मेहनत के आयेंगे ?

आप बोले—कैसे रुपये तुम्हारे यहाँ हो, जिन्हें तुम बगैर मेहनत के समझो ?

मैं बोली—आकाश से रुपयों की बारिश हो, तब। और जो मेहनत ही करके आयें तो चाहे मैंने दिये चाहे आपने, इससे तो कोई बात नहीं।

आप बोले—तो आकाश से जब रुपयों की बारिश होगी, तब भी तो चुनकर रखना ही पड़ेगा, तब भी तो मेहनत ही होगी। और मुमकिन है कि सर पर रुपये गिरें तो शायद चोट भी लग जाय, तब भी तुम शायद चुनने नहीं दोगी कि कहीं चोट भी न लग जाय!

मैं बोली—मैं जाना ही नहीं चाहती हूँ। मैं घूमने से घबरा गई हूँ। इच्छा तो नहीं है कि आप को भी जाने दूँ, क्योंकि कम से कम १०-१२ दिन लग जायेंगे। आप वहाँ रहेंगे और मैं घर में बैठी हुई घबड़ाया करूँगी।

आप बोले—मेरी इच्छा ख़ुद जाने की नहीं थी, मगर जब बच पाऊँ तब।

मैं ताना कसती हुई बोली—लीडर होना क्या आसान है ?

आप बोले—अरे बाबा कौन लीडर बनने का ख़्वाहिशमंद है। मैं तो तुमसे कई बार बतला चुका कि घर में बैठा काम करता हूँ, मुझे ही कौन बाहर आनन्द मिला जाता है ? एक तो काम का नुक़सान हो और दूसरे परेशानी। गईं तो थीं तुम भी, क्या आनन्द मिला ? फिर दुबारा चलने का नाम तक नहीं ले रही हो, उस पर मेरे साथ साथ गई थीं, मुझे तो अकेला ही जाना होगा। तिस पर तुम्हारी चिन्ता।

मै बोली—जाइए साहब, आप ठहरे लेखक, बातो में कौन जीतेगा।

जिस तारीख़ को आप आने को कह गये थे, आये उसके तीसरे दिन। जब आये, मै झल्लाई हुई बैठी थी। देखते ही पूछा—अच्छा! आप बहुत जल्दी आये। जिस तारीख को आप कह जाते है, उस तारीख़ को आप कभी नहीं आते, और जब जाते है तो शायद घरवालो की याद भी भूल जाती है। और शायद कभी यह भी नहीं सोचते कि इस देरी का घरवालों पर क्या असर पडता होगा। जाते वक्त तो मालूम होता है कि आपकी जाने की बिलकुल इच्छा नही है, मगर वहाँ जाकर यह भी भूल जाते है कि वहाँ घर पर हमारी कोई इन्तज़ारी भी करता होगा। आपको नहीं मालूम होगा कि यह तीन दिन मैने कैसे काटे है। मै तो तार दिलवाने जा रही थी। जब मैनेजर को बुलाया तो मालूम हुआ कि शायद वहाँ न हो, चल दिये होंगे। इसी तरह करते-करते आज तीसरा दिन है।

मेरे मुँह पर हलकी सी चपत लगाते हुए बोले—पहले पागलराम मेरी बात तो सुन लो।

मै तिनककर अलग खडी हो गई—मै बात नहीं सुनती, आपने मुझे बहुत परेशान किया है।

आप बोले—अरे! भाई मै तो ख़ुद ही तुम्हारा कैदी हूँ, मै तुमको छोडकर भागनेवाला जीव थोडे ही हूँ। मै तो तुमसे इसी लिए कहता था कि तुम मेरे साथ चलो, तुम गई ही नही, मै तो जानता था कि बुलाते लोग एक काम के लिए हैं, मगर वहाँ जाने पर सब को मेरी ज़रूरत हो जाती है। सुनो, मै तो ख़ुद घबडा रहा था कि तुम घर में अकेली हो। वहाँ कई जगह मुझे भाषण देना पडा। एक दिन तो भाषण मे देरी हो गई, कई जगह लोग पकड़ ले गये, कल दिन भर मुझे बुख़ार हो आया था, रात के दो बजे बुखार उतरा है। सुबह, मै जिनके मकान मे ठहरा था, उनको ख़बर भी नहीं दी, चुपके से ताँगा करके स्टेशन भागा हूँ, तब जाकर ९ बजे की गाडी मिली है, तब इस वक्त घर पहुँचा हूँ। परसो ही का मैं खाना खाये हूँ।

मैं बोली—आख़िर, आपने उन लोगों को ख़बर क्यों नहीं दी, वह क्या समझते होंगे।

आप बोले—उनको ख़बर देता तो आज भी नहीं छूट पाता। कहते, रात भर बुख़ार था, आज जाने नहीं देंगे।

मैं बोली—अच्छा! वह ऐसे भलेमानुस हैं कि वह आज भी नहीं आने देते ?

'अच्छा, तुम्हीं बताओ कि तुम्हारे घर कोई आता और बीमार पड़ जाता तो तुम कभी उसको जाने देतीं ? और कई बार मैं देख भी चुका हूँ कि मैं शायद जान भी जाऊँ मगर तुम तो कभी भी नहीं जाने देती।'

मैं बोली—मैं तो मैं हूँ।

फिर आप बोले—तो अपने ही हाथ से अपने मुँह में तमाचा मार लो, तुम्हारी हार हो गई है। जैसे तुम्हारे कोई आता है, तुम उसकी ज़िम्मेदार हो जाती हो, उसी तरह दूसरे भी अपने यहाँ बुलाते हैं, तो वह भी उसी तरह जिम्मेवार हो जाते हैं। मान लो, सफ़र में मेरी तबियत ज़्यादा ख़राब हो जाती, तो तुम किसको दोष देतीं, उन्हीं को तो ?

मैं बोली—अब लड़ाई-झगड़ा जाने दीजिए, मैं थोड़ा गरम दूध लाऊँ, थोड़ा दूध पी लीजिए और आराम कीजिए।

'हाँ लाओ थोड़ा-सा दूध पी लूँ, और शायद तुमने भी कुछ नहीं खाया है।

मैं बोली—मैं क्यों न खाती, मैं तो घर पर थी।

आप बोले—सच बतलाना, तुमने शायद कुछ खाया नहीं।

मैं बोली—खाती क्यों नहीं, खाया तो है।

वह बोले—मालूम होता है कि तुमने भी कुछ खाया नहीं, मुँह सूखा-सा मालूम होता है। इसी गुस्से में बैठी रही हो, तुम्हें मेरी क़सम सच बतलाओ।

उनके क़सम रखाने पर मुझे बतलाना पड़ा कि मैंने भी दो दिन से

खाना नहीं खाया था। मुझे चिन्ता हो रही थी, और साथ-साथ क्रोध भी था। मैंने बतलाया—मैंने भी खाना नहीं खाया है।

आप बोले—तुम बहुत बेवकूफ आदमी हो, अकेली रहो तो तुम खाना ही न खाओ। चलो तुम भी दूध पिओ और शायद् तुमने खाना बनाया ही नहीं।

वह भी साथ-साथ मेरे चौके में गये, उन्होंने तो खाली दूध ही पिया। मैं भी थोड़ा दूध पी करके, पान लेकर उनको देने गई। पान लेकर बोले—मेरे सर में कुछ दर्द-सा हो रहा है।

मैं बोली—सर मे तेल मल दूँ?

आप बोले—नेकी और पूछ-पूछ।

मैंने तेल लेकर उनके सर में मालिश की। मालिश करने के बाद बोले—अब तो दर्द भग गया।

मैं बोली—तो अब सर में कंघी कर दूँ। आप कंघी करते समय बोले—अगर कोई आ जाय और देख ले तो क्या हो? अपने दिल में यही सोचेगा कि अच्छे रईस है। बीबी सर मे तेल भी मले, कंघी भी कर दे।

मैं बोली—तो यह क्या कोई जुर्म है? अपने घर में सभी लोग करते है।

आप बोले—कहाँ तक ख़िदमत करोगी, लाओ, मैं तुम्हारा हाथ दबा दूँ? खैर साहब मत दबवाओ, मेरे ऊपर डाँट भी पड़ी, खिदमत भी हुई, मैं ही अच्छा रहा।

पहले ये बातें रोज़मर्रा की थीं। आज वही कहानी हो रही है। आदमी कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है, इसको कभी कोई भूलकर भी नहीं सोचता था। अब उससे कहीं ज्यादा दर्द इन घटनाओं को सोचने में हो रहा है। मैंने कभी सोचा था कि यह कहानी मुझे कभी लिखनी पड़ेगी? मगर नहीं, समय सब कुछ करा लेता है। इन्सान समय के हाथ का खिलौना है। जैसा समय खिलाता है, इन्सान उसी तरह खेलता है। उसी मे एक मैं भी हूँ।

मई, सन् १९३६

'गोदान' छप चुका था। 'मंगलसूत्र' का प्लाट सोच रहे थे। छपकर गोदान मेरे पास पढ़ने को आया। मैं उसे पढ़ रही थी। आप अपने कमरे में अकेले थे, मैं भी अपने कमरे में थी। मैं होरी की मृत्यु की बात पढ़ रही थी। होरी की मौत पर मुझे रुलाई आ गई। रोते-रोते मेरी हिचकियाँ बँध गई। आप अपने कमरे से पान खाने के बहाने मेरे कमरे में आये। वे अपने कमरे में अकेले रहते तो किसी-न-किसी बहाने से ज़रूर आते। मैं अपने रोने में इस तरह सुस्त पड़ गई थी कि उनका आना मुझे न मालूम हुआ। जब वे मेरे पास बैठ गये तब बोले—बतलाओ रोती क्यों हो?

मैं क्या जवाब देती, क्योंकि मैं बोल तक न पा रही थी। मगर उन्हें मेरे रोने का कारण मालूम हो गया। गोदान की खुली प्रति मेरे सीने पर पड़ी थी। उसे उठाकर अलग रखते हुए बोले—तुम बड़ी पागल हो। कल्पित बातों पर रोने बैठती हो। उस पर आपको नाज़ है कि स्त्रियों को रोने का मर्ज़ नहीं है। अब खुद ऐसा क्यों कर रही हो? यह जानते हुए भी कि ये बातें कल्पित हैं। भला किसी दूसरे का लिखा हुआ होता, तो वह भी बात थी।

मैं उस झेंप को मिटाती हुई बोली—आपने उस बेचारे को मारा क्यों? उस बेचारी झुनिया को विधवा बना दिया। तब आप हँसकर बोले—चलो, तुम हार गई। इसका तुम्हें जुर्माना देना पड़ेगा। चलकर मेरे कमरे में बैठो और मेरा हाथ पकड़कर मुझे अपने कमरे में ले गये। वहाँ पंखा लगा हुआ था। उसे खोलकर बोले—अब मुझे पान तो खिलाओ। और हँस दो तो तुम्हें अपने नये उपन्यास का प्लाट सुनाऊँ। मेरे साथ ही मेरा पान का डब्बा भी वे लाये थे। मैंने उनके मुँह में दो बीड़े पान दिये और बोली—अभी नहीं सुनूँगी।

आप बोले—नहीं सुनो।

मैं बोली—मेरी तबियत नहीं कहती।

फिर बोले—न मालूम तुम कब से रोती रही होगी। अच्छा तुम सो जाओ। कहो तो मैं तुम्हारा सिर दबा दूँ।

मैं बोली—नहीं मेरे सिर में दर्द नही हो रहा है।

मेरे मना करने पर भी उन्होंने मेरा सिर दबाना शुरू किया। मुझे नींद भी आ गई। वे कब तक मेरा सिर दबाते रहे इसका मुझे ज़रा भी स्मरण नहीं। जब मैं सोकर जगी तो उनकी इस हरकत पर मुझे बड़ी शरम मालूम हुई। क्या इन सब बातों को सोचकर मैं सुखी रह सकती हूँ?

सन् १९३५

मैं शहर मे थी। गांव से एक नाइन आई जिसका लडका चोरी से भाग गया था। वह उसे देखकर बोले—क्या हालचाल है?

उसने लड़के के भागने की बात उनसे कही।

आप बोले—आखिर वह भागकर कहाँ गया?

वह बोली—आज आठ दिन से पता नहीं है।

आठ दिन में वह भी मरीज जैसी हो गयी थी।

आपने पूछा—क्या तुम बीमार थीं?

वह बोली—मैं बीमार नहीं हूँ। लडके की चिन्ता से ऐसी हालत हुई है।

आप बोले—बच्चा तो है नहीं, जो घबराती हो। अब उसको तेरी फ़िक्र करनी चाहिए।

मैं बोली—वह रो-रोकर मर रही है। ख़बर है?

आप बोले—फिज़ूल रोना नहीं चाहिए।

मैं बोली—नहीं, फिक्र होती ही है।

आप बोले—बच्चा तो है नहीं, जवान है इसी लिए भाग गया। खुद-गर्ज़ है नालायक, तू आराम से यहीं रह। अगर वह तेरी फ़िक्र नहीं करता तो जब उसकी इच्छा होगी चला आवेगा। जवान लडकों के भागने पर नहीं रोना चाहिए। लडकी भी तो नही है कि बदनामी होगी।

वह बोली—जी नहीं मानता चाचाजी।

आप बोले—अगर वह बीमार होता तो तुम्हारी चिन्ता सही कही जाती। या कोई उसे जबरन पकड़ ले गया होता। तब रोना चाहिए था। तब तुम उसकी फिक्र करतीं। जब उसमें प्रेम नहीं है तो उसकी क्या दवा।

उस नाइन ने अपने बच्चों को बड़ी कठिनता से जिलाया था।

वह अपने पुराने दिनों को याद करके रो पड़ी।

आप बोले—तुम बेकार क्यों मर रही हो? तुझे वहां न अच्छा लगता हो तो यहीं पड़ी रह। मुझे इस तरह के लड़कों पर रहम नहीं आता। तुझे जो ज़रूरत हो अपनी चाची से मांग लिया कर।

मैं बोली—यह लोंडे के लिए मर रही है, इसे चाहिए क्या?

आप बोले—इसकी गलती है, कह तो दिया।

मैं बोली—कहाँ तक सब्र करे।

एक महीने तक वह परेशान रही। जब वह आती तो उसे इसी तरह समझाते। इसी बीच में रोते-रोते वह हमारे यहाँ बीमार पड़ गई। आठ दिन तक इसी जगह पड़ी रही। दवा अपने हाथ से उसे देते। आठ रोज़ के बाद उसका दूसरा लड़का आया उसे लिवा ले गया। उसके जाने के समय वह घर पर नहीं थे। लौटने पर सुना तो बोले—नाहक जाने दिया। अपने दिल में क्या सोचा होगा।

मैं बोली—मैं भेजने थोड़े ही गई थी। उसका लड़का आकर लिवा ले गया। मैं तो उसे रोक ही रही थी। पर वह नहीं मानी।

उसके लिए उन्होंने कई बार रुपए भेजवाये।

उनका सिद्धान्त था कि नौकर को नौकर मत समझो। नौकर तो अपना एक मददगार होता है। तुमको नौकर की जरूरत होती है, नौकर को तुम्हारी। दोनों को एक-सी ज़रूरत होती है। ऐसा ही समझना चाहिए। वे अक्सर हम लोगों को ऐसा समझाते। सब लोगों को ऐसा समझाते। सब लोगों के सामने इस तरह की बातें किया करते। इतनी बड़ी बीमारी में सिर्फ मैंने दो

बार उन्हें क्रोध करते देखा। नहीं ज्यादातर शान्त रहते थे। रोगी तो क्रोधी और चिड़चिड़े हो जाते हैं। पर वे इस बीमारी में भी शान्त थे। जैसे पहले रहे, वैसे ही बीमारी में भी। सुबह जैसे ही उन्हें नाश्ता करवा चुकती, वैसे ही मेरे नाश्ते की फ़िक्र उन्हें हो जाती। जब तक मैं नाश्ता न कर लेती, वे हठ करते ही रहते। वे बराबर मेरा ध्यान रखते थे।

एक रोज़ उनका क्रोध देखकर मैं घबरा गई। धुन्नू को कुछ छपवाने के लिए प्रेस में कहा था। धुन्नू से पूछा कि छपा?

धुन्नू ने कहा—अभी नहीं।

ज़ोर से हाथ पटकते हुए बोले—क्यों नहीं छपा?

मैंने प्रार्थना करके कहा—क्या है? आप यह क्या करते हैं?

वे हाँफते हुए बोले—इस लौंडे को देखती हो, मेरा कहना नहीं मानता।

मैं बोली—लड़का ही तो है। भूल गया होगा।

आप बोले—भुलक्कड़ आदमियों पर मुझे क्रोध आता है। यह थोड़ा बहुत काम क्या देखने लगा, समझता है मैं बहुत लायक़ हो गया।

मैं बोली—क्रोध न कीजिए। अभी बच्चा है। घबरा गया है।

उस रोज़ वे शान्त हो गये। एक रोज चारपाई पर ही पाख़ाना हुआ। उनके सारे कपड़े खराब हो गये। मैं पाख़ाना साफ कर रही थी। मेरे मुँह से निकला, सारे कपड़े गन्दे हो गये हैं। उन्होंने समझा शायद ज़िद के मारे ऐसा मैंने कह दिया है।

इस पर बोले—मत आना, मरने दो।

उस दिन मैं घबराकर बोली—क्रोध न कीजिए। जब चुप हो गये, तो सारा क़िस्सा मैंने समझा दिया। मेरा दुर्भाग्य है कि आप बीमार हैं। आपके प्रति भला मेरी ऐसी धारणा होगी!

आप हाथ जोड़ते हुए बोले—मुझे माफ करो रानी!

मैंने कहा—मुझे कोई दुःख थोड़े ही है। हाँ, इसका दुःख ज़रूर है कि क्रोध करने से आपकी कमज़ोरी बढ़ जायगी। आइन्दा आप क्रोध न करें।

दो बार क्रोध करते मैंने उन्हें देखा है। मगर मुझे डाँटने का उन्हें अफ़सोस हुआ था। जिस आदमी ने अपनी ज़िन्दगी में सबको सुखी करने की कोशिश की वह महान् आत्मा किसी को कभी दुख पहुँचा सकती थी? मैं तो ख़ैर उनकी ही थी।

१९३६ की जनवरी

आप घूमकर सुबह लौटे। नाश्ता करने आये तो हँसकर आप बोले—खाने को तो अच्छी से अच्छी चीज़ खाता हूँ; मगर शरीर में कुछ बल नहीं मालूम होता। मैं घूमने जाता हूँ, तो पैर थके-से लगते हैं।

मैं बोली—आपको इसी तरह बम्बई में भी तो मालूम होता था। आप किसी अच्छे डाक्टर को दिखलाइए और दवा कीजिए। आख़िर ऐसा होता क्यों है?

आप बोले—तुम भी अजब आदमी हो। ज़रा-सी बात सुनकर तिल को ताड़ कर दिया। इसी तरह हो जाता है। फिर मैं भी तो अब साठ के पेट में हूँ। काम करने को तो जवानों से भी अच्छा कर सकता हूँ। तब फिर? अब दिन पर दिन ऐसे ही बीतेगा। जिस बुढ़ापे को मैं ख़त्म करना चाहता हूँ, शायद वह अब हम पर ही हावी होनेवाला है। मैं भी जल्दी हार मानने का नहीं। क्योंकि अगर मैं उसका लोहा मान जाऊँ तो वह मुझे और सतायेगा। उससे मज़बूत होकर उससे लोहा लेना पड़ेगा।

मैं क्रोध के साथ बोली—तुम्हारी हमेशा की पीसने की आदत पड़ गई है। उसे भला तुम छोड़ सकते हो?

आप बड़े ज़ोर से ठहाका मारकर हँसते हुए बोले—जब मैं उसे अब तक नहीं छोड़ सका तो भला कैसे छोड़ सकता हूँ। एक तरह से वह अब हमारा पेशा हो गया है। अब वह अलग थोड़े ही हो सकता है।

मुझे यह सुनकर और क्रोध आया। मैं बोली—अगर इस समय तुम्हारी माँ होतीं तो बिना तुम्हें दो तमाचे दिये हरगिज़ न मानतीं।

तब फिर उसी तरह हँसते हुए बोले—तब मेरी ऐसी आदत पड़ती ही क्यों ?

मैं बोली—तब क्या यह सब मुझे दिखाने और चिढ़ाने के लिए है।

तब आप हँसते हुए बोले—क्या मालूम। यह देखने के लिए ही अगर तुम बनी हो, तब ?

इस पर मैं और भी झल्लाई। कहाँ तो मैंने सोचा था कि शायद डाँटने पर अपने को डॉक्टर को दिखायेंगे। किया उन्होंने उसका उलटा। तब बोले—सुनो, मुझे कोई बीमारी नहीं है। डॉक्टर के पास जाऊँगा तो वह एक-न-एक बीमारी ज़रूर बता देगा।

मैं बोली—क्या डॉक्टर से आपकी दुश्मनी है ? कैसे बीमारी न होने पर बीमारी बता देगा।

बोले—तुम जानती नहीं हो। उनका यही पेशा है। जो कहता हूँ, मान जाओ।

मैं बोली—दिखलाने से तो शायद हर्ज नहीं। आगा-पीछा सोचने की ऐसी कोई ज़रूरत नहीं।

बोले—दिखाऊँगा। कल और देख लूँ, तब जाऊँगा डाक्टर के पास। अब तो ख़ुश हो न ! लाओ पान दो। अब तक तो काफ़ी काम हो गया होता। नहीं तो फ़िज़ूल की बक-झक हुई।

दूसरे दिन मैंने पूछा—गये थे ?

आप बोले—कुछ नहीं है। मैंने तो तुमसे कल ही कह दिया था। इसी तरह कभी-कभी हो जाता है। ज़रा-ज़रा-सी बात के पीछे डॉक्टरों के पीछे दौड़ता रहे तो दुनिया का काम ही बन्द हो जाय। रात-दिन डॉक्टर ही के फेर में पड़ा रहे।

अब मुझे मालूम होता है कि शायद यह रोग उन्हें बम्बई से ही लगा था। वे अपने काम की धुन में उसे भुलाये बैठे थे। मैं भी अन्धी बनी बैठी थी। अब जब सब खो गया तो अपनी नादानी पर हाथ मल-मलकर पछता

रही हूँ, जो मूर्खों का काम है। हालांकि मैं यह जानती हूँ कि व्यर्थ सोचने से क्या लाभ होगा। फिर भी जी नहीं मानता। असल में यह बात भी ठीक है। इसे छोड़कर मेरे हाथ में है ही क्या? क्योंकि दिल और दिमाग तो हमेशा साथ में रहता है और रहेगा।

१६ जून, १९३३

आप किसी काम से शहर गये हुए थे। पांच-छः बजे के लगभग शाम के समय जब आप आये तो मैं कमरे में लेटी थी, क्योंकि घर में और कोई न था। दोनों लड़के लड़की को बुलाने गये थे। आप आते ही सीधे मेरे पास गये। बोले—कुछ पानी पीने को ला दो। प्यास बड़ी तेज़ लगी है।

मैंने अन्दर जाकर थोड़ी सी मिठाई लाकर रख दी।

उसको खाने के बाद बोले—थोड़ा गुड़ दो और थोड़ा पानी।

मैं बोली—आप गये कहां थे? इस कदर कैसे प्यास लगी?

आप बोले—शहर चला गया था। हंस छपने के लिए कागज नहीं था।

मैं बोली—मुझ से तो कह जाते भले आदमी! इसी लू और धूप में बिना कहे चल दिये।

मैं आया था, तुम सो रही थीं, जगाना उचित न समझा। सोचा कि तुम्हारे सोते तक मैं काम करके चला आऊँगा। मगर ऐसा उलझा कि तीन बजे का गया छः बजे लौटा।

मैं बोली—उस वक्त जाते।

आप बोले—शामको कैसे जाता? रात को लौटता तो और देर हो जाती। तुम रात को अकेली रहतीं। कई दिनों से जाने को सोच रहा था। पर समय नहीं मिलता था। सुबह घूमने जाता हूँ, फिर काम का समय आ जाता है। शाम को तुम अकेली पड़ जाओ अगर चला जाऊं। अकेली घबराती न तुम?

मैं बोली—घाम और लू की अपेक्षा शाम ही अच्छा था।

तब आप बोले—यह सब अमीरों के नख़रे हैं। क्या कोई काम बन्द रहता है। आख़िर वे भी तो आदमी ही हैं?

मैं बोली—आप कैसी बातें करने लगते हैं? जैसे दुनिया भर के ठीके-दार आप ही हों।

कुछ देर तक इसी तरह बातें होती रहीं। इसके बाद उन्हीं के गाँव से एक नाइन आ गई। उससे वह गाँव का हालचाल पूछने लगे। चिराग़ जलने का समय हो गया था। मेरे डिब्बे से पान निकालकर खाते हुए वे अपने बैठक में चले गये। नौ बजे रात तक काम करते रहे।

मैंने जाकर कहा—चलकर खाना तो खा लीजिए। काफ़ी देर हो रही है।

आप घड़ी की ओर इशारा करते हुए बोले—अभी नौ ही तो बजा है।

मैंने घड़ी की ओर देखकर कहा—आपके यहाँ नौ से ज़्यादा बजता ही नहीं।

आप बोले—घड़ी को मैं घूँस थोड़े ही देता हूँ। घड़ी तो तुम्हारे सामने रखी है, क्यों नहीं देख लेतीं।

खाना खाने बैठे तो एक रोटी मुश्किल से खाई होगी। बोले—मुझे बिलकुल भूख नहीं है।

मैं बोली—आम का पना है उसे खा लीजिये।

तब बोले—नहीं जी, अब कुछ खाने की तबिअत नहीं होती।

मैं बोली—गरमी बहुत पड़ रही है, फ़ायदा करता। ख़ैर मत खाइए।

उस नाइन को जाकर मैंने खिलाया। जब मैं खाना खा चुकी तो उन्हें पानी देने गई। यह सोचा कि पानी देकर आऊँगी तो नाइन से पाँव दब-वाऊँगी। मेरी तबियत कुछ भारी थी। जब उनके कमरे में गई तो मसनद के सहारे डेस्क पर बैठे कुछ लिख रहे थे।

मुझे देख कर बोले—न मालूम क्यों पेट में दर्द हो रहा है।

मैं बोली—कब से? आप बोले—जब से खाना खाकर आया हूँ, तभी से।

मैं बोली—क्या बात है? आप ने आज कुछ खाना भी नहीं खाया। फिर भी क्यों दर्द होने लगा?

मैं उसी जगह खड़ी थी कि आप को कै आने लगी। मैं दौड़ी। उनकी पीठ और गर्दन पर हाथ फेरने लगी। उसके बाद उन्हें कुल्ली करवाई। फिर उनको पान और इलायची दी। पान मुँह में डालने ही को थे कि फिर उन्हें कै आ गई। फिर एक और कै हुई। तिबारा जब कै होने लगी तो मैं घबरा गई। मैं भी पाखाने गई। तब तक आप कुल्ला करके बैठे थे।

मैं बोली—कैसी तबियत है?

आप बोले—पेट में दर्द है। हाँ कै अब नहीं मालूम होगी।

उन्होंने अपना पेट मुझे दिखाया। पेट की नस मोटी पड़ गई थी। पेट की फूली नस और दर्द देखकर मैं घबरा गई।

मैं बोली—मैं किसी डाक्टर को ले आती हूँ।

आप बोले—घबराओ नहीं, और यह कहते हुए मेरा हाथ पकड़कर मुझे उन्होंने कुर्सी पर बैठाया। उनके पास बैठते मेरा विचार हुआ कि इन्हें पुदीना वग़ैरह पीसकर क्यों न दिया जाय। मैं दवा कूटने-पीसने लगी। नाइन से पानी गरम करने को कहा। दवा लाकर उन्हें पिलायी। बोतल में गरम पानी भरकर उनके पेट पर सेंक करने लगी। उस दिन तीन बजे के बाद उनके पेट का दर्द शान्त हुआ। जब उनके पेट का दर्द कुछ शान्त हुआ तो उन्हें कुछ नींद आ गई। मैं भी अपनी चारपाई पर सो रही।

उसी दिन उन्हें ख़ून के दस्त आने लगे। उस दिन से न उन्होंने भरपेट खाना खाया, न नींद भर सोये। तीन-चार रोज़ तक होमियोपैथी दवा खाते रहे। २३ तारीख़ को एलोपैथ डाक्टर के पास गये। उसी दिन रात को बच्चे आये। रात को मैंने खाने के लिए कहा तो आप बोले—मेरी खाने की इच्छा बिल्कुल नहीं है।

मैं बोली—थोड़ा दूध ही ले लीजिए।

आप बोले—भाई इच्छा नहीं है तो कैसे खाऊँ?

बच्चों ने कहा—हम लोग मुग़लसराय में खा चुके हैं। दोनों बच्चे बेटी के साथ बैठकर बड़ी देर तक बातें करते रहे।

जो आदमी एक रात में दो चार घण्टे अकेले रहने पर तकलीफ़ महसूस करता था और अपने को लू और घाम में बग़ैर रोक-टोक के चलने को तैयार रखता था, इस ख़्याल से कि शाम के पहले घर लौटें, क्या उस आदमी को मैं अपनी ज़िन्दगी में भूल सकती हूँ? मैं चाहे जहाँ जाऊँ और पड़ी रहूँ, मैं वही हूँ। उनका दर्शन तो अब दुर्लभ हो गया। उनका किसी भी तरह का सहयोग मुझे सुलभ नहीं। वाह री किस्मत! कहाँ से कहाँ ला पटक दिया। मुझ ऐसी जड़ को ख़ुदा अभी ज़िन्दा रखे है, क्यों? हां, आशे, तू ख़ूब है। जिसको ज़िन्दा मैं न पा सकी, उसको पाने की आशा मरने के बाद। आशा ही हाथ है। आशा में बड़ा बल होता है। किसी ने ख़ूब कहा है—

अपने पहरे दीजिये जाग। दूसरे के पहरे लग जाए आग।

उसको मेरे पतिदेव ने ठीक-ठीक समझा और ख़ूब निबाहा। मगर मैं? जैसे जुआरी सब-कुछ हारकर एकान्त में चुपके-चुपके बैठकर आहें भरता है, उसी तरह एक मैं भी हूँ।

अगस्त १९३६

गोर्की की मौत पर 'आज' आफिस में मीटिंग होनेवाली थी। रात को जब आपको नींद नहीं आई तो आप उठकर भाषण लिखने लगे। उन दिनों मुझे भी रात को नींद नहीं आती थी। मेरी आँख खुली तो देखा कि आप ज़मीन पर बैठे कुछ लिख रहे हैं।

मैं बोली—आप यह क्या कर रहे हैं?

बोले—कुछ नहीं।

मैं बोली—नहीं, कुछ तो ज़रूर लिख रहे हैं।

तब बोले—परसों 'आज' आफिस में गोर्की की मृत्यु पर मीटिंग होने-वाली है।

मैं बोली—कैसी मीटिंग? तबियत अच्छी नहीं, भाषण लिखने बैठे। मालूम है, दो बजे हैं।

आप बोले—नींद नहीं आती तो क्या करूँ। भाषण तो लिखना ही पड़ता।

मै बोली—जब तबियत ठीक नहीं तो भाषण कैसे लिखा जायगा।

आप बोले—ज़रूरी तो हुई है। बिना लिखे काम नहीं चलेगा। अपनी ख़ुशी से काम करने में आराम या तकलीफ का बोध नहीं होता। जिसको आदमी कर्त्तव्य समझ लेता है, उसके करने में मनुष्य को कुछ भी तकलीफ नहीं होती। इन कामों को आदमी सबसे ज्यादा ज़रूरी समझता है।

मैं बोली—यह मीटिंग है कैसी?

आप ने कहा—शोक-सभा है।

मैं बोली—वह कौन हिन्दुस्तानी थे?

आप बोले—यही तो हम लोगों की तङ्गदिली है। गोर्की इतना बड़ा लेखक था कि उसके विषय में जातीयता का सवाल ही नहीं उठता, लेखक हिन्दुस्तानी या यूरोपियन नहीं देखा जाता। वह जो लिखेगा, उससे सभी को लाभ होता है।

मैने कहा—ठीक। उसने हिन्दुस्तान के लिए भी कुछ लिखा?

आप बोले—तुम ग़लती करती हो, रानी! लेखक के पास होता ही क्या है, जिसे वह अलग-अलग बांट दे। लेखक के पास तो उसकी तपस्या ही होती है, वही सबको वह दे सकता है। उससे सब लोग लाभ भी उठाते हैं। लेखक तो अपनी तपस्या का कुछ भी अंश अपने लिए नहीं रख छोड़ता। और लोग जो तपस्या करते हैं वह तो अपने लिए। लेखक जो तपस्या करता है, उससे जनता का कल्याण होता है। वह अपने लिए कुछ भी नहीं करता।

मैं बोली—गांववालों में तो शायद ही कोई गोर्की का नाम जानता हो।

आप बोले—यहाँ के गांवों की क्या? यहां के आदमी तो अपनों को नहीं जानते। इसके माने यह नहीं कि यहाँ के लोगों के लिए कुछ काम ही नहीं किया जाय।

मैं बोली—जानते क्यों नहीं ? तुलसी, सूर, कबीर, वे किसको नहीं जानते ?

आप बोले—इनके भी जानकार गाँव में थोड़े हैं। इसका कारण है शिक्षा का अभाव। अभी यहाँ बहुत थोड़ी शिक्षा है। उसी वजह से यहाँ जो कुछ होता है, वह थोड़े लोगों के लिए होकर रह जाता है। जब घर-घर शिक्षा का प्रचार हो जायगा, तो क्या गोर्की का प्रभाव घर-घर न हो जायगा ? वे भी तुलसी-सूर की तरह चारों ओर पूजे जायँगे।

मैं बोली—यहाँवालों को तो पहले अपनों की पूजा करनी चाहिए। आगरे का कवि-सम्मेलन आप को याद नहीं रहा क्या ? जब हरिऔधजी को भरी सभा में कुशब्द कहा गया था। आप ही उस पर बिगड़े भी थे। और लोग तो चुप रह गये थे।

तब आप और गम्भीर होकर बोले—इसमें लेखकों और पाठकों का दुर्भाग्य है। क्योंकि जब तक उनके दिलों में उनके प्रति श्रद्धा और प्रेम न हो, तब तक उनके उपदेश वे कैसे ले ही सकते हैं ?

मैं बोली—वे लोग सबसे ज़्यादा बुद्धिमान् अपने को ही समझते हैं। पहले वाले एम० ए० बी० ए० की डिग्रियाँ नहीं हथियाये रहते थे कि उससे अपनी योग्यता नाप सकें। उनकी श्रद्धा का शायद यही कारण था।

आप बोले—डिग्रियों से यह सब नहीं होता। बल्कि ईश्वर की दी हुई एक ख़ास शक्ति होती है। कबीर और तुलसी को क्या कोई डिग्री मिली थी ? मगर उन लोगों ने जैसी चीज़ें दीं वैसा क्या अब लोग दे पा रहे हैं ? फिर और तो जाने दो। अभी गाँव में जो स्त्रियाँ गीत गाती हैं, वे क्या कविता से कम हैं, उन स्त्रियों ने तो अपना नाम तक नहीं लिया ?

इसी तरह बातें करते-करते चार बज गये। सामने घड़ी डेस्क पर रखी थी, देखकर बोले—मुझे तो नींद नहीं आती, तुम व्यर्थ में क्यों जागती रह गईं। कहीं तुम्हारी भी तबियत ख़राब हो जाये तो और भी मुसीबत हो। जाओ सो रहो।

मैं बोली—मुझे भी नींद नहीं आती है।

आप बोले—लेट तो जाओ। जाओ, मैं भी लेटता हूँ। मैं उसी जगह चारपाई पर लेट रही। मैं डरती थी कि चले जाने पर ये फिर काम करने लगेंगे। और कोई ख़ुशी की बात भी न थी। मैंने देखा कि लिखते समय उनकी आँखों में आँसू थे।

सुबह हुई। दूसरे दिन मीटिंग में जाने को तैयार हुए तो मैं बोली—आप चल तो सकते नहीं फिज़ूल में जा रहे हैं।

आप बोले—तांगे पर जाना है। पैदल तो जा नहीं रहा हूँ।

मैं बोली—ज़ीने पर उतरना-चढ़ना है न?

आप बोले—यह तो लगा ही रहता है। मेरी तबियत नहीं मानती।

मैंने उनके साथ में बड़े लड़के को भेज दिया। नीचे तक ख़ुद पहुँचाने आई। मैं यह डर रही थी कि कहीं ज़ीने पर से ये गिर न जायँ।

जब वे वहाँ से लौटे तो मैं फिर दरवाज़े पर मिली। जब वे ऊपर चढ़ने लगे तो बहुत करने पर भी उनके पैर लड़खड़ा गये। मैं उनके पीछे-पीछे आ रही थी, जिससे कि उन्हें मेरा सँभलना मालूम न हो। ऊपर आने पर चारपाई पर लेट गये। सुस्त पड़ गये। मैं उनके पास बैठी धीरे-धीरे उनके पैर दबा रही थी। जब वे कुछ सुस्ता लिये, तब बोले—मैं वहाँ खड़ा न हो सका। भाषण पढ़ना तो दूर रहा। एक और महाशय से भाषण पढ़वाया।

मैं बोली—मेरा कहा आप मानें तब न? मुफ्त में परेशानी उठानी पड़ी।

आप बोले—कमजोरी आये या चाहे जो कुछ, कहीं इस तरह बैठा जाता है।

मैं बोली—जब इस तरह करने से नुकसान होता है तो भाषण किसी और से भेजवा दिया जाता।

आप बोले—ऐसा ख़याल नहीं था। हाँ, कमज़ोरी मुझे बहुत आ गई है।

मैं बोली—थोड़ा दूध पी लीजिए।

तब आप बोले—खाता-पीता हूँ तो सब।

उसी दिन से उनसे पूरी ख़ूराक नहीं खाया जाता था। दूसरी क़ै उन्हें २५ जुलाई को ढाई बजे रात को फिर हुई। उन्हें नींद लाने के लिए पैर के तलवे और सिर में तेल की मालिश करती थी। मैं रात को एक बजे उनका सिर सहला रही थी कि किसी तरह उन्हें नींद आ जाय।

मुझसे वे बोले—अब तुम सो रहो। कब तक बैठी रहोगी।

मैं बोली—मैं तो आपकी फ़िक्र में हूँ और आप मेरी।

आप बोले—तुम सो जाओगी तो मैं भी सो जाऊँगा। मैं उसी कमरे में एक तख्ते पर लेट गई। आप धीरे से उठे। पाख़ाने जाने लगे। पाख़ाने में बैठते ही आपको फिर कै आ गई। आवाज सुनकर दौड़ी गई। उस समय इतनी शिथिलता उनमें आ गई थी कि वे उठ-बैठ भी नहीं पा रहे थे। फिर दुबारा कै का ख़ून हम दोनों पर तैर गया। उसके बाद पानी माँगकर मैंने उससे उनका मुँह धोया। कुल्ला करवाकर उन्हें चारपाई के पास कर दिया। कुछ देर बाद तबियत कुछ सँभली।

उस समय तक तीनों बच्चे भी जाग गये थे।

मैं धुन्नू से बोली—जाकर डाक्टर को बुला लाओ।

आप बोले—लड़के को इस वक्त मत परेशान करो। डाक्टर ईश्वर नहीं। सुबह जायगा। जाकर कलम-दावात और कागज लाओ। जल्दी-जल्दी कह गये—अब मैं नहीं बचने का। कम-से-कम कागज़ तो दो।

मैं बोली—होगा क्या ?

'तुमको बैठने का तो ठिकाना करता जाऊँ।'

मैं बोली—घबराइए नहीं। आप अच्छे हो जायँगे। बोले—उठो, लाओ।

मैं बोली—अन्दर चलिए। वे मेरे मुँह की तरफ़ देखकर रो पड़े। मेरी भी आँखों से आँसू बह चले। मैं आँसुओं को छिपाना ज़रूर चाहती थी। पर मजबूरी भी कोई चीज़ है। फिर भी मैं अपने में साहस भरकर अपने सहारे उन्हें अन्दर ले गई। चारपाई पर जब उन्हें लिटा दिया, तब फिर वे बेहोश-से हो गये।

पहली बार भी वे इस तरह सुस्त पड़ गये थे। मैं ख़ामोश बैठी थी। बैठी क्या थी, अपनी किस्मत को रो रही थी। जब सुबह हुई तो फिर वे उठे। पाख़ाने गये। उस दिन वे सारा दिन बेहोश-से रहे। उस दिन तीन बजे के करीब उन्हें थोड़ा-सा दूध दिया। अब उस डॉक्टर पर से मेरा विश्वास उठ गया।

डॉक्टर गुप्ता को बुलाया। तीन-चार रोज़ तक उसकी दवा हुई। मगर उसकी दवा से कोई फायदा नहीं हुआ। अब रोजाना उन्हें कै होने के समय की तरह गरमी रहने लगी। जब उसकी दवा से कोई लाभ नहीं हुआ तो लखनऊ चलने का आग्रह मैं करने लगी। एक्सरे की मशीन बनारसवाली ख़राब हो गई थी। बोले—ठीक कहती हो, लखनऊ चलो।

लखनऊ जाने के दिन साथ चलने का आग्रह मैं भी करने लगी।

आप बोले—तुम्हारे साथ चलने से क्या होगा?

मैं बोली—क्यों?

बोले—कोई ज़रूरत तुम्हारे जाने की नहीं है।

मैं बोली—धुन्नू जायगा?

आप बोले—धुन्नू की भी कोई ज़रूरत नहीं। तुम्हारे इत्मीनान के लिए फ़ोटो लेता जाऊं।

वहां वे दस-ग्यारह रोज़ रहे। वे ग्यारह दिन किस तरह कटे, कैसे बताऊं? वहां से जो चिट्ठियां आती थीं, वे भी गोल-मोल लिखी हुई। मैं जाने को तैयार ही थी कि वे आ गये। दरवाजे पर जब उनका तांगा आया तो देखकर मैं घुल रह गई। इससे अच्छे तो वे पहले ही थे। उन्हें किसी तरह ऊपर ले आई। जब ऊपर लाने लगी तो दरवाज़े पर पूछा—कैसी तबियत है?

बोले—ठीक है, ऊपर तक आते-आते उन्हें गर्मी हो आई।

मैंने जल्दी से उनको बगल की एक चारपाई पर लेटा दिया।

कुछ देर में बोले—मैं अब नहीं बचने का।

मैं सुनकर क्या कहती—आँसू की धारा बह चली। उस समय मुझे दूनी ताकत चाहिए थी।

वे रोते हुए बोले—जलोदर है। मैंने दो-चार कड़े शब्द डॉक्टर के लिए भी कहे।

मा की तरह उन्हें समझाती हुई बोली—डाक्टर ऐसे ही बेहूदे होते हैं। वैसे ऐंठने के लिए कह दिया होगा। आप अच्छे हो जायेंगे। बोलिए खाते क्या हैं?

उन्हें जैसी मेरी बातों का विश्वास हो आया। बोले—खाना भी छुड़ा दिया है। तीन रोज से तो कुछ नहीं खाया।

मैं बोली—कुछ भी नहीं खाया तीन दिनों से?

आपने कहा—नहीं।

मैंने कहा—तभी आप कमज़ोर पड़ गये हैं। आखिर उसने खाने के लिए कुछ बताया कि कुछ नहीं?

आप बोले—बार्ली और बोतल का दूध खाने को बतलाता है।

मैंने पानी गरम करवाकर बार्ली चढ़वा दी। पहले दूध पीने को दिया। मेरा ख़याल था कि खुद दूध पिलाऊं।

आप बोले—अभी मैं ऐसा कमज़ोर नहीं हो गया हूँ।

दूध पी चुके तो मैं बोली—मैं खुद कल लखनऊ जानेवाली थी।

आप बोले—कई रोज रात भर दस्त आते रहे। शायद उसने जुलाब दे दिया था। मैंने ही धुन्नू से लिखवाया था कि चली आओ। क्योंकि दस्त मुझे आते थे तो रात का कमोड हकीमजी को खुद साफ करना पड़ता। हकीम देवता है। उसकी शराफ़त क्या बताऊँ? उन्होंने मेरी सेवा जी-जान से की। दस दिन वहाँ था, तब तक हकीमजी सोये नहीं। धुन्नू को सुलाकर रात भर वे मेरे पास बैठे रहते थे। ऐसा शरीफ आदमी मैंने नहीं देखा। ऐसे मुसलमान पर हजारों हिन्दू क़ुरबान हो सकते हैं। उसने जैसी मेरी सेवा की उसकी तारीफ़ मैं क्या करूँ? मैं अच्छा हो गया तो उनकी सेवा मैं करूँगा।

उस दिन से मेरे दिल के घाव ऐसे हो गये है कि अगर हकीमजी की सेवा मैं कुछ भी कर पाती तो अपना अहोभाग्य समझती। हाँ, मै उन्हें अपना भाई समझती हूँ। अपनी एक एक तकलीफ़ का बयान उन्होने किया।

मै बोली—आप वहीं रहते। मै तो कल आ जाती।

आप बोले—मैने सोचा कहीं मर गया तो देख भी नहीं पाऊँगा।

इन बातो में सोचिए कितना दर्द भरा है और कितना अपनापन। इन बातो को सुनकर मुझे कितना खून पीना पडा होगा। सिर्फ़ इस आशा से कि इसका प्रभाव कही बुरा न पड़ जाय। बस सिर्फ यही आशा थी कि वे अच्छे हो जायँगे। मगर यह आशा और वे भगवान्, इन दोनो से मुझे अरुचि हो जाय, अविश्वास हो जाय, तो शायद मेरी गलती नहीं होगी। क्योंकि जिस चीज को आदमी अपनाता है, विश्वास करता है अगर उससे किसी का अविश्वास हो जाता है तो दिल में एक क्रान्ति-सी पैदा हो जाती है। वह क्रान्ति हम लोगो को भस्म नही कर सकती, पर खुद भस्म हो सकती है। फिर इन दोनो पर विश्वास लाना मेरे काबू के बाहर की बात है। इसमें भी मेरा दुर्भाग्य ही है। जो इन पर विश्वास करते है, उन्हें थोडी-सी शान्ति मिलती है ; मगर मै इनमें भी जलन ही महसूस करती हूँ।

धुन्नू डाक्टर को लेकर आया। यह दूसरा होमियोपैथ डाक्टर था। मैने उससे पूछा—क्या बीमारी है ?

डाक्टर ने कहा—अभी बताता हूँ।

आप बोले—मै तो जानता हूँ। आपको छिपाने की कोई ज़रूरत नहीं।

डॉक्टर ने विश्वास दिलाया—आप अच्छे हो जायँगे।

आप बोले—यह सब बातें है।

लखनऊ से आते ही मुझसे कहा—मुझे देहात ले चलो। एक दफा नहीं, अनेको बार कहा। बल्कि यह कहा कि देखा देहात जाने से उस बार अच्छा हो गया था।

मै भी चलने को तैयार हो गई। मगर बीमारी देखकर डर लगता था,

जाते नहीं बनता था। पर उनकी यही ज़िद थी कि घर चलो। मैंने धुन्नू से कहा—मैं देहात ले जाना चाहती हूँ।

धुन्नू बोला—एक तो शहर से दूर, दूसरे पानी इतना तेज़ गिर रहा है कि एक क्षण के लिए भी गुंजाइश नहीं। बाबूजी की जाने वहाँ कैसी हालत हो जाय। यहाँ समय से डाक्टर वग़ैरह तो मिल जायगा।

मैंने भी कहा—तुम्हारा कहना ठीक है। मुझसे दुबारा फिर बोले—रानी, तुम घर नहीं चल रही हो।

मैं बोली—हिम्मत नहीं होती, कैसे ले चलूँ। ज़रा आपकी तबियत सँभल जाय तो कुछ हिम्मत पड़े।

गाँव जाने का लोभ उन्हें आख़ीर तक रहा।

रामकटोरावाले मेरे आजकल के मकान को वे पहले ही देख गये थे। मुझे भी यह पसन्द आया था। मैंने पण्डित से पुछवाया। पण्डित ने दस अगस्त को नये मकान में जाने को बताया। उनकी बीमारी का हाल सुनकर मेरे भाई भी देखने आये थे। भाई ने मेरी परेशानी देखकर अपनी स्त्री को मेरे पास भेजवा दिया। पानी ज़ोरों से बरस रहा था, फिर भी मेरे घर का सामान ढोया जा रहा था। उनके कमरे में कुछ किताबें बिखरी पड़ी थीं। सब सामान अस्त-व्यस्त था। आपने एक बार उठने की कोशिश की। मगर अपनी तबियत से लाचार। मुझे देखा तो लेट रहे।

मैं बोली—आप यह क्या कर रहे हैं?

बोले—कुछ नहीं। दोनों लड़के कहाँ गये?

मैं बोली—यहीं कहीं सामान वग़ैरह ठीक कर रहे होंगे।

आप बोले—किताबों का बण्डल वग़ैरह क्यों नहीं बँधवा देतीं?

मैं दरवाज़े से आँगन को लौट रही थी तो बोले—कोई ठीक करे या नहीं, अपने को क्या?

इन शब्दों में सोचिए कितनी विरक्ति भरी थी। ये शब्द कितने मार्मिक थे। जिसने अपने हाथ से एक-एक चीज़ों का संग्रह किया हो, जिन चीज़ों के

लिए पसीने की जगह ख़ून बहाया हो, जिन चीज़ों के समेटने के लिए अभी एक मिनट पहले ही वे उठे थे, उसी के प्रति ऐसी उदासीनता ?

थोड़ी देर बाद मैं फिर उसी कमरे में गई। उसके कुछ ही मिनट पहले पानी की बूँदें थमी थीं।

मुझसे बोले—चलती क्यों नहीं तुम ? पानी में भीग जाऊँगा, नहीं तो।

मैं थोड़ी-सी दही और शक्कर लाकर सामने रखकर बोली—ज़रा इसे ज़बान पर लगा लीजिए।

मेरे कहने से उन्होंने ज़बान पर तो ज़रूर लगाया; लेकिन कुल्ला करते हुए मेरी ओर देखकर मुस्करा दिया।

वह खुशी की हँसी नहीं थी। सोचिए उसमें कितना व्यङ्ग भरा था। वह व्यङ्ग यह था कि मरता हुआ आदमी कहीं दही चाटकर स्वस्थ हुआ है। यही हँसने का कारण रहा होगा।

मैं उसी तरह ताँगे में बैठकर नये मकान पर लाई। रास्ते भर मैं एक हाथ से बेटी के बच्चे को, दूसरे से उन्हें पकड़े आ रही थी। क्योंकि मुझे उन पर विश्वास न था। वे बच्चे की तरह ही उस समय हो गये थे। जब मैं नये घर में पहुँची तो लड़का तो खुद उतरकर चला आया। उन्हें मैं अपने सहारे लाई। वह मेरा सहारा क्या था, आत्म-विश्वास था। क्योंकि अगर वे गिरते ही तो मैं कब रोक पाती। उन्होंने मेरा सहारा शायद इसलिए मंज़ूर किया था कि मैं समझूँ कि उन्होंने मेरी बात मान ली।

चारपाई पहले ही से बिछी हुई थी। वह उत्तर-दक्खिन बिछी हुई थी। जब वे लेट गये तो दिशा का ज्ञान हुआ।

मैंने कहा—ज़रा चारपाई को ठीक करने दीजिए तो।

आप बोले—इससे क्या होगा जी। जो होना होता है, वही होगा।

मैं बोली—ज़रा उठ जाइए।

बोले—अच्छा, थोड़ी देर में उठता हूँ।

जब सुस्ता चुके तो उठकर खड़े हो गये। बेटी को बुलवाकर मैंने उनकी चारपाई पूरब से पच्छिम कर दी। उस दिन शाम के वक्त खाना नहीं पका। खाना पकता ही कैसे।

आप बोले—बाज़ार से पूरी मँगवा लो। मेरे लिए गरम पानी करके दूध बना दो।

मैं बोली—बार्ली न लीजिएगा?

बोले—मेरी तबीयत बार्ली लेने की बिलकुल नहीं है।

जिस रोज़ मैं उस घर में आई, ठेले में सामान लदकर नये मकान में आ रहा था। ठेले के साथ छोटा लड़का बन्नू आ रहा था।

बरसात जारी थी।

ठेला बन्नू के पैर पर चढ़ गया।

किसी तरह ठेला भीतर आया।

मैं उसके पैर को देखकर बोली—यह क्या हो गया।

मैं उसके पैर को ठीक करने के लिए इधर-उधर घूम रही थी कि उसका पैर किसी तरह ठीक हो जाय।

आप कमरे से बोले—यहाँ आओ।

जब मैं उनके पास गई तो बोले—किसी को चोट लग गई क्या?

मैंने कहा—हाँ, बन्नू के पैर में चोट आ गई।

आप बोले—सब आफत एक ही दिन आती है क्या? क्या ज्यादा चोट आ गई?

मैंने कहा—नहीं तो।

बोले—तुम यहीं बैठो, और लोग हैं उसके दवा लगा देंगे।

दूसरे दिन बेटी के दोनों बच्चे शोर मचा रहे थे। बेटी भी दुःखी ही थी। बेटी ने बच्चों के दो तमाचे लगाये। मैं भी डाँट बैठी।

बेटी दूसरे रोज़ उनके पास बैठी थी। ये दोनों लड़के भी वहीं पहुँच गये। पहले बड़ा जाकर पूछने लगा—बाबूजी, कैसी तबियत है? उसी को देखकर

छोटा भी पूछने लगा। उन दोनों के सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—अच्छी है।

बड़ा उन्हीं के पास बैठकर बातें करने लगा। बेटी की ओर छोटा बढ़ा। बेटी कमरे के बाहर निकल आयी, साथ ही दोनों लड़के भी बाहर आ गये। जब वे चले आये तो मुझसे बोले—इन बेचारों को तो कोई प्यार करता नहीं।

मैं बोली—मैं आप की सेवा में लगी हूँ। प्यार करनेवाला और कौन है? सभी परेशान हैं, कौन किसकी खबर ले?

आप बोले—बेटी भी तो बीमारी ही में उठी है। जिस दिन ये सब आये उसी दिन से मैं भी पड़ा हूँ। इन बेचारों को पूछे तो कौन पूछे? मैं अच्छा होता तो इन बेचारों को खिलाता। बेचारे लावारिस की तरह इधर-उधर घूम रहे हैं। इन बच्चों के लिए एक नौकर रख लो। बेटी को आराम भी मिलेगा। मैं अच्छा हो जाऊँगा तो सब ठीक हो जायगा।

सन् १९३६, २५ अगस्त,

अगस्त महीने की २५ वीं तारीख़ को रात २ बजे मैं जाग रही थी। उस दिन सुबह ही से मैं चिंतित थी। रात को आप सोये हुए थे। मैं खामोश पड़ी सिर दाब रही थी। सामने घड़ी थी। बार बार उसी पर निगाह जाती। बार-बार ईश्वर से प्रार्थना करती कि ईश्वर दया कर।

दो या सवा दो का समय था। मुझसे बोले—रानी मुझे गर्मी हो रही है। शायद मुझे फिर ख़ून की कै होगी। आज २५ वीं तारीख़ है न।

मैंने कहा—नहीं तो। आज २४ है।

आप बोले—मुझे बड़ी गर्मी लगी है। देखो घड़ी में २॥ तो नहीं बजा है।

मैं बोली—आपको व्यर्थ की शङ्का हो रही है।

मेरे ज़ोर देने पर उन्होंने मान लिया। तभी भी मैंने आध घंटा लेट

कर दी। बोली—अभी तो दो बजे हैं। फिर इन बातों का सोचिए मत। सोचने से और चिन्ता बढ़ जायगी।

आप बोले—मैं इन बातों को सोचने थोड़े जाता हूँ। इन बातों के सोचने में मुझे आराम भी नहीं मिलता। मुझे इस कै में बेहद तकलीफ होती है। इतनी तकलीफ होती है कि जान भर नहीं निकलती और सब कुछ भुगत लेता हूँ। मैं करूँ क्या, मुझे खुद ही परेशानी हो रही है।

मैं बोली—आप चिन्ता छोड़ दें। कुछ न होगा। सो जाइए। उन्हें समझा तो मैं ज़रूर रही थी, पर मैं खुद सहमी थी। वे तो शायद इन बातों को सुनकर कुछ ज़रूर प्रभावित हुए।

उस दिन रात भर जागकर ही सुबह की। उनकी उग्र चिन्ता से मुझे घबराहट हो रही थी। क्या उन्हें सचमुच बोध हो गया कि आज २५ है? बीमारी ही में नहीं हर बार मेरी बात को वे मान जाते थे। इसलिए वे मेरी बातों को नहीं मानते थे कि मैं उनसे ज्यादा समझदार थी। बल्कि इस-लिए कि वे मेरा मान रखना चाहते थे। कई बार मुझसे उन्होंने कहा था कि मेरी तरह, मुझे विश्वास है, तुम्हारे बच्चे तुम्हारी बात न मानेंगे। उसी का ख्याल कर बच्चों की कोई शिकायत मैंने उनसे नहीं की। हाँ, उन्हें यही जवाब देती थी कि लड़कों के साथ तो ब्याही नहीं गई हूँ। जिसने अपने लड़कों पर अपना हक न समझा हो और एक आदमी पर अपना सारा जीवन डाल चुका हो, और उसे वह भी छोड़कर चला जाये तो उसके जीवन में क्या बाकी रह जाता है? बस आखीर में उसके हाथ लगती है निराशा और दुर्भाग्य।

पहले जिस मकान में रहती थी, नीचे उसी में प्रेस भी था। जब वहां से हटे तो साथ ही प्रेस भी आया। जिस हिस्से में प्रेस है, वह उस समय बन रहा था। दिन भर उधर ही आपकी आँख रहती। राज़ों की कारीगरी देखते थे या प्रकृति का खेल, नहीं मालूम। देखते उसी की तरफ़ रहते थे।

पहले हम लोग आये। बाद में दस-पन्द्रह दिनों पर प्रेस आया। जब

दूसरे नये मकान में आये तो दो दिन तक शाम को वे लॉन मे टहलते। कहते—इसमें मेरी तबियत अच्छी हो जायगी। मैंने भी समझा कि शायद इसमें अब अच्छे हो जायँ।

सच है धरती सभी को खा जाती है, पर धरती को कोई नहीं खा पाता। किस्मत अपनी ख़राब होती है, जगह वग़ैरह तो बहाना होता है। उस मकान में किताबों का स्टॉक लद रहा था। दिन मे अक्सर मुझसे कहते—देखो, ठीक ठीक रखा जा रहा है कि नहीं। नया बना हुआ मकान है। दीमक ज़्यादा लगेंगे।

नहीं मालूम होता कि क्या मेरा देखना वे अपना देखना समझते थे। जब कई बार मुझसे कहा, देख आओ तो मै बोली—भाई रखते-रखाते होंगे, मै क्या देख आऊँ।

आप बोले—इसकी चिन्ता करने की ज़रूरत तो तुम्हें है। जितनी फिकर मुझे और तुम्हें है, उससे अधिक होगी उन्हें? दीमक लग जाने से नुकसान हो जायगा।

मैं बोली—देखती तो हूँ सब हालत।

जाकर देखा तो दीवाल से सटाकर किताबें रख रहे थे। आदमियों से मै बोली—दीवाल से सटाकर क्यों किताबे लगाते हो?

आपने सुन लिया था। बोले—मेरा कहना सुन लिया न। बेफिक्र होकर कभी आदमी न बैठे। अपने काम मे अपना सिर लगा देना चाहिए।

मैं बोली—रख देंगे। आपने कहा—यही दुनिया का तरीक़ा है। एक तो नुकसान का नुकसान हो, दूसरे दुनिया बेवकूफ बनाये।

सामान पुराने मकान से आ रहा था। कुछ सामान आ गया था। कुछ बाकी था। मकानमालिक और धुन्नू में झगडा हो गया था। मकान-मालिक सामान निकालने ही नहीं देता था, उसमे ताला डाल दिया था, कर्म-चारियों को लेकर धुन्नू वहाँ पहुँचा। ताला अपने आदमी तोडने लगे तो मारपीट होने लगी। आपको पता चला कि धुन्नू और मकानमालिक मे

झगड़ा हो रहा है। दामाद यहीं थे। उनसे कहा—बेटा, जाकर सामान उठवा लाओ। जब उधर वह लड़का चला गया तो मुझसे बोले—मैं तो इधर बीमार पड़ा हूँ और यह फौजदारी करने पर तुला हुआ है।

मैंने कहा—गलती उन्हीं की है। क्योंकि सामान नहीं देता, ताले लगा दिये हैं। फिर वह भी तो लौंडा ही है। आपको नहीं मालूम जब हम लोग वहां रह रहे थे तो वह दूसरों की तरह आपसे भी झगड़ता था। हम लोग लड़का समझकर बोलते न थे। आख़िर दोनों लौंडे ठहरे।

आप बोले—यह समय शान्ति से काम चलाने के लिए है। आख़िर झगड़ा बढ़ा क्यों ?

मैं बोली—झगड़ा इस बात पर बढ़ा कि वह पानी का पैसा माँग रहा है। वह कहता है मकान का पानी तुम्हीं ने ख़र्च किया है, टैक्स और कौन देगा ? धुन्नू का कहना है कि नये मकान में तुम पानी ले जाते थे, इसलिए ज्यादा पानी लगा।

आप बोले—तुम्हीं दे दोगी तो क्या हो जायगा। गुण्डों के साथ गुण्डा-पन करने से काम नहीं चलता। बुलाकर रुपये दे दो। आपने मकानमालिक को बुलवाया। जब वह आया तो उससे पूछने लगे—कल क्यों झगड़ा कर बैठे ?

वह बोला—आपत ने झगड़ा किया। पानी का टैक्स आपको देना चाहिए था।

मैं सुनकर बोली—तुम चारों धुन्नू से बड़े होकर भी कितना झगड़ा हमसे करते थे। मकान जब किराये पर दे दिया गया तो पानी लेने के मुस्तहक तुम नहीं रहे।

लड़का बोला—आप के दामाद न गये होते तो वे जाने क्या करते ? वे बड़े शरीफ़ हैं।

मैं बोली—झगड़ा तुम्हारी ओर ही से शुरू हुआ। तुम अपनी पूरी ताक़त से वहां थे, धुन्नू भी पूरी ताक़त से गया था।

आप बोले—अब तुम झगड़ा करोगी क्या? बोलो जी, कितने रुपये हुए? उसने कहा—अठारह रुपये।

मुझसे बोले—दे दो जी। लो, अपने रुपये ले जाओ। सीधे मेरे पास चले आये होते। रुपये मिल जाते। झगड़ा भी न होता। अभी लड़के हो, ज़रा सँभलकर चला करो। और तो नहीं कुछ बकाया है? किराया तो नहीं बाकी है?

उन लोगों ने कहा—नहीं, किराया पूरा मिल गया।

आप उसे उपदेश देने लगे—देखो, थोड़ी-थोड़ी बात के लिए झगड़ा नहीं करना चाहिए। ईमानदार बनो, व्यवहार-कुशल बनो। ज़रा-सी बात के पीछे अपनी इज्जत न गँवाना। तुम अपनी बदनामी कराओगे, दूसरे की भी। इन सब बातों में महत्ता नहीं है। इन रोज़ के व्यवहार की बातों में ईमानदार और व्यवहार-कुशल होने की बहुत ज़रूरत होती है।

इनसे दोनों बातें—प्यार और उपदेश—हैं। उपदेश की फटकार बहुत ज़रूरी होती है। यह फटकार अपने को पहचानने की ताक़त देती है।

× × ×

बीमारी के दिनों में उन्होंने मुझसे एक घटना बताई। एक दिन उन्हें रात को नींद नहीं आ रही थी। मैं उनके सोने के लिए कोशिश कर रही थी। रात का एक बजने का समय था। आप बोले—मैं बीमार क्या पड़ा, तुम्हारे लिए खाना-पीना सब हराम हो गया।

अपने सिर से हाथ खींचते हुए बोले—इधर आओ। जब नींद नहीं आती तो कुछ बात ही करें।

मैं बोली—नहीं आप सो जाइए। रात ज़्यादा चली गई है।

तब आप बोले—मैं घंटों से सोने और तुम्हें सुलाने की कोशिश में हूँ। पर नींद आवे तब न! देखो तुमसे अपनी एक चोरी की बात बताऊँ। पर मुँह के बाहर निकालते झिझक होती है।

मैं बोली—कैसी चोरी ?

तब बोले—उस बंगाली युवक को तुम्हारी जान में जो दिया था सो तो दिया ही था। अपनी बीवी के ज़ेवर और कपड़े भी उसने मेरी ही ज़मानत पर लिये थे। उस रुपए को तुम्हारी चोरी से मैंने अदा किया।

मैं बोली—आपने कैसे दिया ?

तब आप बोले—तुम्हीं सोचो करता क्या ? जो तुम्हारी चोरी से कहानियाँ लिखता था, उसी के पैसे उसे दे आता था। तुमसे रुपयों का नाम भी नहीं लेता था। क्या करता उसका भी कर्ज़दार रहा होऊँगा। और मैं क्या कहूँ ?

मैं बोली—नहीं साहब, मुझे सब मालूम होता रहता था। मैं भी चुप रहती थी।

आप बोले—सच ? बताओ कैसे मालूम होता था ?

मैं बोली—सराफ और बज़ाज को कई बार आपके पास आते मैंने देखा था। तभी मुझे मालूम हो गया था।

आप बोले—तुमने कभी मुझसे पूछा नहीं ?

मैं बोली—मैं पूछती क्या ? जब आप चोरी से देते थे, तब पूछने की क्या ज़रूरत थी ? फिर मैंने समझा कि जब धोखा खा चुके तो देना पड़ेगा ही।

आप बोले—अच्छा एक और चोरी सुनो। मैंने अपनी पहली स्त्री के जीवन-काल में ही एक और स्त्री रख छोड़ी थी। तुम्हारे आने पर भी उससे मेरा संबंध था।

मैं बोली—मुझे मालूम है।

यह सुनकर वे मेरी ओर देखने लगे। उस देखने के भाव से ऐसा मालूम होता था जैसे वे मेरे मुँह को पढ़ लेना चाहते हों। मैंने उनको अपनी तरफ देखते देखकर निगाह नीची कर ली। बड़ी देर तक वे गम्भीर होकर मेरे चेहरे की ओर देखते रहे। मैं शर्म से सिर झुकाये थी। बार-बार मेरे

दिल के अन्दर ख़याल हो रहा था कि इन बीती बातों के कहने का रहस्य क्या है ?

कुछ देर के बाद बोले—तुम मुझसे बड़ी हो।

उनके उस कथन का रहस्य मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आया।

मै बोली—आज आपको हो क्या गया है ? मै बड़ी हो सकती हूं ?

तब आप हँसते हुए बोले—तुम हृदय से सचमुच मुझसे बड़ी हो। इतने दिन मेरे साथ रहते हुए भी तुमने भूलकर भी ज़िक्र नहीं किया।

यह सुनकर मैने उनका मुँह बन्द कर कहा—मै इसे नहीं सुनना चाहती।

उस वक्त मेरे दिल में यही ख़याल आया कि बात क्या है ? आज इस बीती बात को इस तरह करने का रहस्य क्या है ? इन सब बातों को सोचकर मै शिथिल पड गई।

आप अपने आप बकने लगे—हे भगवान्, मै आज तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे कुछ दिन के लिए अच्छा कर दो। वे इस तरह की प्रार्थना कर रहे थे। और मै चारपाई पर पडी-पडी रो रही थी।

फिर अपने आप वे बोले—तुम सुनते नहीं हो भगवान् ? अगर हो तो तुम्हें सुनना चाहिए। मै और कुछ नही चाहता। इस बार अच्छा होना चाहता हूँ। जो यह निष्कपट मेरी सेवा कर रही है। महज़ इसके लिए मुझे तू एक बार ज़िंदा कर। शायद वे रो भी रहे थे। अगर भगवान्, तू मेरी इस प्रार्थना पर कान नहीं देता तो अगले जन्म मे फिर इन्हें तू मुझसे मिला दे। अगर नही मिलाया तो मै यही समझूँगा कि मेरा जन्म व्यर्थ ही गया।

मुझमें उस समय जडता आ गई थी। मेरा गला भर आया था। आँखों में आँसू भरे हुए थे। आँसू रोकने की बहुतेरी कोशिश की पर सब बेकार। जितनी ही कोशिश मैं रोकने की करती, आँसू और निकलते आ रहे थे। उसके साथ ही यह डर था कि कहीं इन्हें मालूम न हो जाय कि मै रो रही हूँ। आख़िर मै करती क्या ? मैं भी तो एक निर्बल नारी हूँ। अपने को कहाँ तक वश में कर पाती। जिसका ऐसा स्नेही अलग हो रहा

हो, उसे कैसे चैन मिले। थोड़ी देर के बाद वे उठकर पाख़ाने चले गये। पाख़ाने से लौटकर दूसरी छत पर टहल रहे थे। मैंने चुपके से उठकर मुँह धोया। गला साफ़ किया। जैसे मेरा गला साफ़ हुआ, वे भी आकर चारपाई पर लेट रहे। मुझे जागती समझकर बोले—मैं तुमसे कई दिनों से अपनी बातें बता देने का इच्छुक था।

मैं बोली—मुझे इन बातों के सुनने की इच्छा नहीं है।

आप बोले—कोई दूसरा समय होता तो शायद मैं भी न कहता। मगर इस समय मैं बिना इन बातों के कहे सुने रह भी नहीं सकता था। मैं जितना ही तुम्हारे विषय में सोचता हूँ, उतना ही मुझे क्लेश होता है। मैं चाहता हूँ तुम मेरे पास से एक सेकेण्ड के लिए भी न हटो। न जाने मुझे इधर कई सालों से क्या हो गया है। तुम कहीं चली जाती हो तो मुझे कुछ भी नहीं अच्छा लगता।

मैं बोली—तो मैं जाती ही कहाँ हूँ।

'फिर आख़िर मैं ऐसा क्यों होता जा रहा हूँ।'

मैं बोली—घर में दो आदमी रहे। उसमें अगर एक चला जायगा तो ज़रूर सूना लगेगा।

आप बोले—नहीं जी, कुछ भी समझ में नहीं आता। क्या जाने सभी की हाल ऐसी हो जाती है या हमारी ही ?

यों पहले भी उनकी तबियत ऐसी ही थी। बीमार होने पर वे पास से उठने न देते थे। शायद उनको अच्छा न लगता था। आदमी अपने को सबसे ज़्यादा अक्लमन्द समझता है तथा सबसे ज़्यादा शक्तिमान् समझता है। अपने को प्रेमी और कोमल समझता है। होता उसका उल्टा है। अक्ल की तो यह हालत है कि जिस्म के अंदर का पता नहीं पाते। कब क्या हो जायगा, इसका कुछ ठिकाना नहीं। शक्ति की यह हालत है कि सब कुछ आँखों के सामने होता रहता है और हम कुछ नहीं कर पाते। ख़ाली हाथ बैठे रह जाते हैं। जो कुछ अक्ल मौके पर रहती भी है, वह जवाब दे

देती है। कोमलता की यह हालत है कि कड़ा से कड़ा दुःख सहते रहते है, पर कुछ नहीं कर पाते।

यह सब कुछ देखने के बाद यही मालूम होता है कि परिस्थितियो के सामने हारकर सभी अपना सिर झुका देते है। सबको परिस्थिति के सामने विवश हो जाना पड़ता है। आदमी करे ही क्या ? उसमें ऐसी शक्ति नही कि उसका मुकाबला कर सके। मुकाबला तो तभी हो सकेगा जब वह खुद मरने के लिए तैयार हो। तभी तो कोई कुछ कर सकता है। आज मै उन बातो को सोचती हूँ तो बराबर यही मालूम होता है कि मै कितनी नीच और कितनी कायर हूँ। जो मै कुछ नहीं कर पाती। जो कभी एक दिन के लिए भी अलग होना न चाहता हो उसके चले जाने पर भी उसी रफ्तार और उसी ढंग से मै आज चली जा रही हू। इससे ज्यादा और क्या कायरता तथा नीचता होगी। अगर यह सब बातें किसी को महसूस न हों भी तो कोई बात नहीं। मगर सब महसूस करते हुए भी कोई खामोश बैठा रहे तो क्या यह नीचता नहीं है ? और एक दिन दो दिन की बात नही है। जिसने अपनी दिल की सारी बाते सह चुकी हो, उसके लिए शेष रह ही क्या जाता है ?

मै उस महान् आदमी को ज़रा भी न पहचान सकी। महान् आत्माओं को पहचानने के लिए अपने में जोर चाहिए, ताकत चाहिए। फिर मै समझती हूँ, वह शक्ति आ ही कैसे सकती थी। मै पहचानती ही कैसे ? मै तो अपने पागलपन मे मस्त थी। मै तो उन्हें अपनी चीज़ समझती थी। वे अगर अपने नहीं थे तो डरते क्यों थे ? मुझसे छिपाकर कोई काम वे न करते। मै उनके सामने थी ही क्या ? उनके समान भला मै हो सकती थी। मगर नही, मेरी आँखो को धोखा था। आँख खुली भी तो उस समय जब कोई लाभ नहीं, वे अपने हृदय की सारी बातें एक एक करके कह गये। मै उस समय भी उन्हें न पहचान पाई। अब बाकी क्या रहा ? अँधियारी रात और उसी रात में भटकना ! और अपने भाग्य को कोसना। हारकर यही मुँह से निकल जाता है कि मै उस देवता को पहचान न सकी।

× × ×

इस घर में आने पर आपके पेट में दर्द होने लगा।

मैं बोली—गरम पानी करके सेंक दूँ?

आप बोले—सेंक दो, शायद कुछ आराम ही मिल जाय। मैंने गरम पानी करके मँगवाया। चारपाई पर बैठकर उनके पेट को सेंक रही थी। मेरी जेठानी बैठी हुई मेरी मदद कर रही थीं। उनको देखकर बोले—तुम्हीं सेंको जी।

मैं बोली—और कौन है? मैं ही सेंक रही हूँ।

आप बोले—भौजी को क्यों तकलीफ दे रही हो?

मैंने उनके क्रोध से बचने के लिए उन्हें इशारे से हटा दिया। जब वे चली गईं तो कहा—दरवाजा बन्द कर दो। तब मैंने दरवाजा बन्द कर दिया।

मुझसे बोले—मेरा काम तुम खुद किया करो।

मैंने कहा—मैं ही करती हूँ।

आप बोले—हाँ, मैं किसी का ऋणी नहीं होना चाहता। किसी का ऋणी अगर होना चाहता हूँ तो तुम्हारा ही।

मैं बोली—इसमें ऋण की क्या बात है?

आप बोले—जो सेवा करेगा वह सेवा लेगा नहीं?

मैंने कहा—अपने घर में कोई किसी का ऋणी नहीं होता।

यह सुनते ही उनकी आँखों में आँसू आ गये।

मैं बोली—आप यह कर क्या रहे हैं?

बोले—कुछ नहीं जी। मैं खाली तुम्हारा ही ऋणी होना चाहता हूँ, दूसरों का नहीं। तुम जितनी भी सेवा करोगी, मुझे खुशी ही होगी। क्योंकि इस जन्म में आराम मिलेगा, उस जन्म में भी।

उस वक्त मेरी भी आँखों में आँसू आ गये थे। मैं इस ख़याल से कि इन्हें मेरे आँसू न दिखाई पड़ें, बाथरूम में चली गई। सोच-सोचकर मुझे और आँसू आ रहे थे। इस महान पीड़ा में भी इन्हें मेरा कितना ख़याल

है। मगर मुझे रोने की जगह कहाँ ? उनके सामने रोने से उनकी तबियत और भी ख़राब हो जाती। बाहर रोऊँ तो लड़के-लड़कियों को कैसा लगेगा ? मेरी ही हिम्मत पर घर के सभी आदमी आश्रित थे। बार-बार यही दिल में आता कि क्या होगा ? अभागों को रोना भी नहीं नसीब होता। सबको समझानेवाली मैं थी। मेरा समझानेवाला तो खुद ही अधीर हो रहा है। मैं किसके पास रोऊँ ? फिर मेरी ड्यूटी भी रोने की नहीं थी।

रात को फिर पेट में दर्द उठा। फिर वही बेचैनी। चारपाई पर सेंकने से भी आराम नहीं पहुँच रहा था। उठने को शक्ति नहीं, फिर भी उठकर बैठ गये। मैं करती क्या ? यह सब बातें मेरी आँखों के सामने ही हो रही थीं। मैं उन तकलीफों से उन्हें बचा न पाती। घर भर सो रहा था। मैं अकेली रात को बैठी कभी पेट सहलाती, कभी पंखा करती। जब पेट का दर्द कुछ कम हुआ तो बोले—रानी मैं अब नहीं बचूँगा।

मैं बोली—क्या बात है ?

बोले—मेरी हालत देख रही हो, तुम तब भी यही कहती हो।

मैं बोली—डाक्टर भी तो यही कहता है। घबराइए नहीं।

बोले—घबरा न जाऊँ तो करूँ क्या ?

मैं बोली—घबराने से कहीं काम चलता है ?

फिर बोले—रात-दिन तुम भी तो मेरे साथ पिस रही हो। मैं तुम्हारी सेवा देखकर चकित रह जाता हूँ।

मैं बोली—आपको अच्छा होना है।

आप बोले—न अच्छा होऊँ तब ?

मैं बोली—मैं यह नहीं सुनना चाहती।

बोले—आखिर...

मैंने कहा—इसके पहले मैं अपनी मौत चाहती हूँ।

बोले—सुनो। अगर तुम पहले चले जाओ तो मुझे दुःख होगा बिल्कुल तुम्हारी तरह। मगर सोचो तुम्हारे कर्तव्य तब मैं और ज़्यादा ज़िम्मेदारी से

निबाहता न। वैसे ही तुम्हें भी चाहिए कि तुम अपने कर्तव्य निभाओ। अगर मैं न रहूँ तो तुम्हारा कर्तव्य हो जाता है। बन्नू को आराम से रखना, ईमानदार और नेक बनाना। तुम अभी भी तो अपने लिए नहीं जी रही हो। बाद को भी न जिओगी। कौन तुम्हीं अमर होकर आई हो। एक दिन सबको मरना है।

मुझमें उस समय बोलने की ताकत बिलकुल नहीं थी। मैं रो रही थी। वे अपने आप बक रहे थे। वे कहते सब कुछ थे, मगर मेरी आशा वैसे ही बंधी हुई थी। उन्हीं आशाओं को लेकर मैं जी रही थी। उन्हीं में तन्द्रा में सो गई हूँ। उस वक्त एक मिसरा पढ़ रहे थे: ख़ुश रहो अहलेवतन हम तो सफ़र करते हैं।

दुनिया की दुआ कर रहे थे, और अपने जाने की तैयारी। फिर वह कहने लगे—

दुनिया की सब न्यामतें रहेंगी पर हम नहीं रहेंगे।

इन बातों को सुनकर मेरा हृदय फटा जा रहा था। इसके बाद मैंने पीछे का दरवाज़ा खोला। अँधेरी रात में बाहर खड़ी खड़ी रोती रही। रोने के बाद मेरी यह भावना हुई कि मैं आखिर ज़िन्दा क्यों हूँ? भीतर से मेरी आत्मा पुकार-पुकारकर कह रही थी कि देखो, तुझे कितना दुःख सहना पड़ेगा। मैं उसी अँधेरी रात में कुएँ की तरफ़ चली। जब कुएँ की जगत पर पहुँची तो तो ध्यान आया तुम डूबने तो जा रही हो, इनकी सेवा कौन करेगा? यह प्रेम नहीं है। प्रेम तो इसी में है कि घुट-घुटकर मरो। अगर अच्छे रहे तो सुख से रहना। पैर में जैसे बेड़ी पड़ गई। वह महज़ एक आशा थी।

तब तक आप जाग रहे थे। बोले—आओ चारपाई पर बैठकर पंखा खींचो।

मैं पंखा झलने लगी। शायद उन्होंने रोना तो नहीं देखा था, पर अन्दाज़ से जान लिया कि मैं रो रही थी। मेरा बायाँ हाथ अपने हाथ में लेकर बोले—तुमको सुस्त देखता हूँ तो घबरा जाता हूँ। कहीं तुम बीमार

पड़ गई तो मैं मर जाऊँगा। अच्छा भी होनेवाला होऊँगा तो तुम्हारे बीमार पड़ने पर बचने का नहीं।

मैं बोली—मैं बीमार कहाँ पड़ी जाती हूँ। बीमारी तो उन्हें ही आती है जो सबको सुखी करते हैं। मुझ ऐसों को बीमारी नहीं आ सकती!

मेरे गाल पर धीरे से एक चपत लगाते हुए बोले—अगर तुम बीमार पड़ जाओ तो मैं कहीं का न होऊँ। औरों को चाहे तुम्हारी ज़रूरत न हो, पर मुझे तो तुम्हीं सबसे ज़्यादा ज़रूरी हो।

इन शब्दों में कितना प्यार और अपनापा है। चाहे इन्सान और कुछ न चाहे पर प्यार तो चाहता ही है। इन दोनों के पीछे आदमी जो भी लुटा दे थोड़ा है।

बीमारी के उन्हीं दिनों में नाथूराम प्रेमी बम्बई से मिलने के लिए आये। उन्हीं दिनों 'हंस' की ज़मानत भी देनी थी।

आप बोले—'हंस' की जमानत जमा करा दो।

मैं बोली—अच्छे होने पर सब ठीक हो जायगा, घबड़ाइए नहीं।

आप बोले—रानी, 'हंस' ज़रूर निकलेगा, चाहे मैं रहूँ या न रहूँ।

जब मैंने यह सुना तो चुप रह गई। बोली—कल जमा करवा दूँगी।

प्रेमीजी कई दिन रहे। एक दूसरे सज्जन भी इलाहाबाद से मिलने के लिए आये थे। वे मेरे भाई के मित्र थे। इन दोनों महाशयों को चिन्ता हुई कि कहीं मैं भी न बीमार पड़ जाऊँ। इन दोनों ने उनके छोटे भाई से कहा—यह रात-दिन जागती हैं। अगर ये बीमार पड़ीं तो सब चौपट हो जायगा।

उनके भाई बोले—अगर वे कहें तो मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ।

प्रेमीजी मुझसे धीरे-धीरे कह रहे थे कि आप कह दीजिए कि वही जागा करें।

मैं उन्हें कह रही थी कि मैं क्यों किसी से कहूँ। मैं ही क्या कम हूँ, फिर मुझे दूसरों की सेवा पर विश्वास भी नहीं है।

न मालूम कैसे यह आवाज़ उनके कान में चली गई। मुझे बुलाकर

बोले—यहां तो आओ। जब मैं गई तो बोले—प्रेमीजी क्या कह रहे थे?

मैं बोली—आपने कहाँ से सुन लिया?

बोले—आखिर क्या बात थी? मैं किसी और की सेवा कराना नहीं चाहता। बस केवल तुम्हारी सेवा चाहता हूँ।

मैंने कहा—मैंने कहा ही आखिर किससे जो आप ऐसा कह रहे हैं? आप ही दुलहिन से पैर दबवाने के लिए कहते हैं, तभी भेजता हूँ, कहिए उन्हें भी मना कर दूँ।

बोले—उनसे तो मैं अपनी इच्छा से पैर दबवाता हूँ। उनको मेरी सेवा करने का शौक है तो मैं क्या रोकूँ?

मैं बोली—मैं भी नहीं चाहती कि दूसरे आपकी सेवा करें। यों लड़की-लड़का चाहे जो कर दे। कहिए तो मैं उनसे भी मना कर दूँ?

तब बोले—नहीं जी, ये तो अपने ही हैं।

दूसरे दिन तीज की सुबह थी। दुलहिन बैठकर पैर दबा रही थी। मैं आकर पास खड़ी हो गई। बेटी मन मार ज़मीन पर बैठी थी। दुलहिन लाल रंग की साड़ी पहने उनके पैर दबा रही थी। मेरी तरफ इशारा करके बोले—आज बड़ी अच्छी पहनी है। अच्छा, कल शायद तीज था।

मैंने कहा—बेटी की साड़ी नहीं आई।

आप बोले—ख़ैर, मैं अच्छा होते ही ढेर की ढेर साड़ियाँ ला दूँगा।

मेरी ओर देखकर बोले—तुमने बड़ी गलती की। इन लोगों के लिए साड़ियाँ मँगा देनी चाहिए थीं।

बेटी और दुलहिन दोनों बोलीं—आप अच्छे होते तो बड़ी साड़ी ला देते।

बोले—सब्र करो। अच्छा होने पर अच्छी से अच्छी ला दूँगा।

आज सभी हमेशा के लिए निराश हो गये। उनकी बात में कितना प्रेम भरा रहता था।

प्रेमी जी कई दिन रहे। घंटों बैठकर उनसे बातें करते। प्रेमीजी जिस

दिन दो बजे रात की गाडी से जाने को तैयार थे, मैं शायद सो गई थी, मुझे जगाकर बोले—रानी, उठो प्रेमी को पहुँचा आओ।

प्रेमीजी बोले—नहो, नहीं सोने दीजिए।

मैं जाग गई थी। बोली—कहिए क्या है ?

बोले—प्रेमीजी जा रहे है। इनको कुछ दूर तक पहुँचा दो।

मै प्रेमीजी को पहुँचाने गई। मगर मेरे हृदय में एक अजीब तरह की व्यथा देने लगा उनका वह शब्द कि मेरी ड्यूटी तुम पूरी करो। मै अपने दिल से उन शब्दो को बार-बार दुहराने लगी। बार-बार मेरे दिल मे यही शब्द नाच रहा था। ये अपनी ड्यूटी मुझे सोप रहे है। ये तो अपने मित्रो का स्वागत स्वयं करते थे। अपने मित्रा को पाकर ये निहाल हो जाते थे। यहाँ तक कि अपने मित्रो को पाकर खाना-पीना तक भूल जाते थे। इसी तरह मुंशी दया-नारायण साहब के जाते समय भी यही दृश्य हुआ था। उस दिन आँखो से आपने इशारा किया था। उनमे दिखावा नहीं था। वे प्रेम से ऐसा करते थे। यह उनकी आदत की बात थी। उनसे मिलने कोई भी आता, उससे हँसकर मिलते।

आज यही मेरी ज़िम्मेदारी है। यही बार-बार आता है कि ईश्वर, तुमने इनको उतना विवश कर दिया था। पहले किसी भी काम को नहीं करने देते थे। आज मेरी ड्यूटी बताते हैं। प्रेमीजी को पहुँचा आने पर जब मै लौटी तो मुझे घण्टों रुलाई आई। पर ज़्यादा साँस लेने की गुज्जाइश मुझे न थी।

दाँतो के बीच ज़बान की तरह मै अपने बोझे से दबी थी। क्योंकि साँस लेने की मुझे बिल्कुल गुञ्जाइश न थी। सब कुछ सहने के लिए मै भी तैयार थी। मगर यह देखने के लिए नहीं तैयार थी कि वे दु:खी हो जायँ। मुझे विश्वास था कि वे अच्छे हो जायँगे।

मेरी आशा की रस्सी टूट चुकी है। उनको तो खो ही चुकी, उनकी आशा और विश्वास भी खो बैठी और उसके बिना जीवन मेरे लिए अमावस्या की रात की तरह है। इसके आगे और क्या कहूँ।

× × ×

एक पुरानी घटना और मुझे याद आती है।

प्रेस खुल गया था, और आप स्वयं वहाँ काम करते थे, जाड़े के दिन थे। मुझे उनके सूती पुराने कपड़े भद्दे जँचे और गरम कपड़े बनाने के लिए अनुरोधपूर्वक दो बार चालीस-चालीस रुपए दिये, परन्तु उन्होंने दोनों बार वे रुपये मज़दूरों को दे दिये। घर पर जब मैंने पूछा—कपड़े कहाँ हैं? तब आप हँसकर बोले—कैसे कपड़े? वे रुपये तो मैंने मज़दूरों को दे दिये, शायद उन लोगों ने कपड़ा खरीद लिया होगा। इस पर मैं नाराज़ हो गई। तब वे अपने सहज स्वर में बोले—रानी, जो दिन भर तुम्हारे प्रेस में मेहनत करे वह भूखा मरे और मैं गरम सूट पहनूँ, यह तो शोभा नहीं देता। उनकी इस दलील पर मैं खीझ उठी और बोली—मैंने कोई तुम्हारे प्रेस का ठेका नहीं लिया है। तब आप खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—जब तुमने मेरा ठेका ले लिया है, तब मेरा रहा ही क्या? सब कुछ तुम्हारा ही तो है। फिर हम तुम दोनों एक नाव के यात्री हैं; हमारा तुम्हारा कर्तव्य जुदा नहीं हो सकता। जो मेरा है वह तुम्हारा भी है क्योंकि मैंने अपने आपको तुम्हारे हाथों में सौंप दिया है। मैं निरुत्तर हो गई और बोली—मैं तो ऐसा सोचना नहीं चाहती। तब उन्होंने असीम प्यार के साथ कहा—तुम पगली हो।

जब मैंने देखा कि इस तरह वे जाड़े के कपड़े नहीं बनवाते हैं तब मैंने उनके भाई साहब को रुपये दिये और कहा कि इनके लिए आप कपड़े बनवा दें। तब बड़ी मुश्किल से आपने कपड़ा खरीदा। जब सूट बनकर आया तब आप पहनकर मेरे पास आये और बोले—मैं सलाम करता हूँ, मैंने तुम्हारा हुक्म बजा लाया हूँ। मैंने भी हँसकर आशीर्वाद दिया और बोली—ईश्वर तुम्हें सुखी रखे, और हर साल नये नये कपड़े पहिनो। कुछ रुककर फिर मैंने कहा—सलाम तो बड़ों को किया जाता है, मैं न तो उमर में बड़ी हूँ, न रिश्ते में, न पदवी में, फिर आप मुझे सलाम क्यों करते हैं? तब उन्होंने उत्तर दिया—उम्र, रिश्ता, या पदवी कोई चीज नहीं है; मैं तो हृदय देखता हूँ और तुम्हारा हृदय माँ का हृदय है, जिस प्रकार माता अपने बच्चों को खिला

पिलाकर खुश होती है, उसी प्रकार तुम भी मुझे देखकर प्रसन्न होती हो और इसलिए अब मैं हमेशा तुम्हें सलाम किया करूँगा। हाय! मई १९३६ में उन्होंने स्नान करके नई बनियान पहनी थी और मुझे सलाम किया था—यही उनका अन्तिम सलाम था।

उनके अन्तिम दिन

एक दिन बेहोशी दूर हुई तो बोले—शिवप्रसादजी गुप्त ने एक मातृ-मन्दिर बनवाया है, महात्माजी उसका उद्‌घाटन करेंगे; उसे देखने के लिए लाखों की भीड़ वहाँ जमा होगी।

मैंने कहा—आप अगर तब तक अच्छे हो जायँगे तो मैं भी आपके साथ चलूँगी।

आप हँसकर बोले—मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि रानी, तुम्हारी बातें सच निकलें। पर मैं देखता हूँ रानी, तुम्हारी इस जन्म की तपस्या सफल होती नहीं दीखती।

मैंने कहा—आप मन को क्यों छोटा करते हैं। हमने किसका क्या बिगाड़ा है, भगवान् हमारी आशा सफल करेंगे।

आप बोले—रानी, तुम मेरे पास से कहीं भी मत जाया करो। तुम पास बैठी रहती हो तो मेरा धैर्य नहीं टूटता। कल तुमने जो मांस की यखनी खिला दी थी, वह मुझे नहीं पची। तुम ऐसी चीज़ें क्यों मुझे खिलाती हो?

मैं बोली—डाक्टर की राय से मैंने वह चीज़ आपको खिलाई है। डॉक्टर की राय मानूँ कि आपकी?

आप हँसकर बोले—डॉक्टर को तो तकलीफ नहीं है; तकलीफ़ तो मुझे है।

मैंने कहा—उससे आपको नुकसान क्या हो गया?

आप बोले—रानी, देखा नहीं तुमने, कितनी ज़ोर का दस्त मुझे हुआ था।

मैं बोली—इससे तो फ़ायदा ही है। सब पानी निकल जायगा।

आप चिन्ता के स्वर में बोले—पानी के साथ सब कुछ निकला जा रहा है—रानी !

मैं उनके ये शब्द सुनकर रो पड़ी। टप् टप् करके मेरे आँसू ज़मीन पर लुढ़क पड़े। यद्यपि मैं बड़ी कोशिश में रहती थी कि आपके सामने मेरी आँखों से आंसू न निकलें। पर इस बार मेरा मन विवश हो गया। मेरे धैर्य का बांध टूट पड़ा।

दूसरे दिन फिर आपको बेहोशी हुई। बहुत ज़ोर का पाख़ाना भी हुआ। मैं उसे साफ़ करने के लिए बढ़ रही थी कि भाई ने मेरा हाथ पकड़कर कहा—बहन, वे अब नहीं रहे! कहां जाती हो?

मैं खुलकर रो पड़ी। और तभी से आज तक रो रही हूं। अब मुझे किसका डर रहा! पाठको, आगे अब मुझसे लिखा नहीं जा रहा है। अब मेरी सारी ज़िन्दगी रोने के लिए ही बच रही है।

मैं न कोई लेखिका हूँ, न कोई कलाकार। इस रचना से पाठकों का ज़रा भी लाभ हो सका तो मैं अपने को धन्य मानूंगी।